श्रीमद्वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-प्रथमं

श्रीयमुनाष्टकम् ।

(समस्त चार संस्कृत टीकाओं के हिंदी-अनुवाद, श्लोकार्थ, ग्रन्थसार

एवं

श्री

टीका सहित)

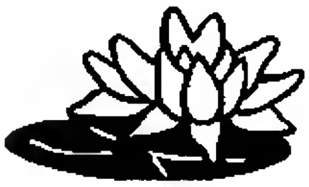

❑ संपादक व लेखक ❑

गोस्वामी राजकुमार

❑ प्रकाशक ❑
गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी
''चरणाट'' बंगला नं. 5, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,
कांदिवली (पूर्व), मुंबई - 400 101● दूरभाष : 2884 6506 मो. : 9769623724
वि. सं. 2068 ● वल्लभाब्द 534
प्रति : 1000

श्रीयमुनाष्टकम् ।

अनुक्रमणिका

क्रमांक	प्रकरण	पृष्ठसंख्या
१.	श्रीयमुनाष्टकम्।(मूलपाठ)श्लोकार्थ	१
२.	श्रीमन्प्रभुचरणविवृतिः	३
३.	श्रीहरिरायाणाम्	१२
४.	श्रीपुरुषोत्तमानाम्	४४
५.	श्रीद्वारकेशानाम्	७२

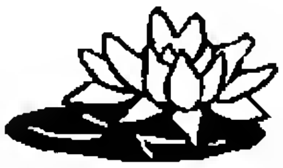

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतं

श्रीयमुनाष्टकम्

श्लोकार्थ

मूलम् – नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा
मुरारिपदपङ्कजस्फुरदमन्दरेणूत्कटाम् ।
तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना
सुरासुरपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम् ।।१।।

सकलसिद्धियों को देने वाली, जिनमें जल की अपेक्षा मुरारि के पदपंकज में स्फुरायमान होने वाली रेणु अधिक है और तट पर स्थित नवीनवनों में प्रकट हुए सुगन्धित एवं पुष्पयुक्तजल द्वारा सुर-असुर से सुपूजित स्मरपिता-श्रीकृष्ण की श्री/शोभा को धारण करने वाली ऐसी श्रीयमुनाजी को नमन करते हैं ॥1॥

कलिन्दगिरिमस्तके पतदमन्दपूरोज्ज्वला
विलासगमनोल्लसत्प्रकटगण्डशैलोन्नता ।
सघोषगतिदन्तुरा समधिरूढदोलोत्तमा
मुकुन्दरतिवर्धिनी जयति पद्मबन्धोः सुता ।।२।।

कलिन्दपर्वत के मस्तक पर गिरती हुई, प्रवाहयुक्त वेग के कारण उज्जवल दिखाई देने वाली, शिलाखण्डों पर गिरती हुई घोषयुक्तगति के कारण ऊँची-नीची होने से विलासयुक्त/शोभायुक्त होती हुईं श्रीयमुनाजी यों प्रतीत हो रहीं हैं मानों किसी दोले/पालकी पर विराज कर पधार रही हों, ऐसी मुकुन्द में रति को बढ़ाने वाली सूर्यपुत्री श्रीयमुनाजी सर्वोत्कृष्ट हैं ॥2॥

भुवं भुवनपावनीमधिगतामनेकस्वनैः
प्रियाभिरिव सेवितां शुकमयूरहंसादिभिः ।
तरङ्गभुजकङ्कणप्रकटमुक्तिकावालुका
नितम्बतटसुन्दरीं नमत कृष्णतुर्यप्रियाम् ।।३।।

भुवन को पावन करने वाली ऐसी श्रीयमुनाजी धरती पर पधार कर शुक-मयूर-हंस आदि पक्षियों के स्वरों से गुँजायमान होती हुईं ऐसी लग रही हैं मानों किसी की प्रियाएँ उसकी सेवा कर रही हों ; आपमें स्थित बालुका आपकी तरंगरूपी भुजाओं में धारण किये गये कंगनों में मोती के समान, चमकती हुई सी प्रतीत होती है, ऐसी तटरूपी नितम्बवाली सुन्दरी कृष्ण की चतुर्थप्रिया-श्रीयमुनाजी को आप सभी नमन करें ॥3॥

अनन्तगुणभूषिते शिवविरञ्चिदेवस्तुते
घनाघननिभे सदा ध्रुवपराशराभीष्टदे ।
विशुद्धमथुरातटे सकलगोपगोपीवृते
कृपाजलधिसंश्रिते मम मनस्सुखं भावय ।।४।।

अनन्तगुणों से भूषित, शिव-ब्रह्मा आदि देवों से स्तुत्य, घनाघन/मेघसमूह समान सदा जिनकी आभा है, जो ध्रुव-पराशर को अभीष्ट देने वाली हैं, विशुद्ध मथुरातट पर स्थित हैं, समस्त गोपगोपियों से घिरी हुई हैं, जो कृपासागर-भगवान में पूर्णरूप से आश्रित हैं, ऐसी हे श्रीयमुनाजी ! आप मेरे मन के सुख का विचार करें ॥4॥

यया चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियम्भावुका
समागमनतो भवत्सकलसिद्धिदा सेवताम् ।
तया सदृशतामियात्कमलजा सपत्नीव
यद्धरिप्रियकलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम् ।।५।।

जिन श्रीयमुनाजी से समागम करने के कारण चरणपद्मजा-गंगा मुरारि की अतिशयप्रिय बन गयीं ए उनकी(गंगाजी की)सेवा करने वालों को सकलसिद्धियाँ देने वाली बन गयीं, ऐसी श्रीयमुनाजी की समानत लक्ष्मीजी की भाँति अन्य दूसरा कौन कर सकता है ? ऐसी हरि के प्रियजनों के दोषों को मिटा देने वाल कलिन्दा-यमुना मेरे मन में सदा विराजें ॥5॥

नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं
न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः ।
यमोऽपि भगिनीसुतान्कथमु हन्ति दुष्टानपि
प्रियो भवति सेवनात्तव हरेर्यथा गोपिकाः ।।६।।

हे श्रीयमुनाजी ! आपको सदा नमस्कार हो। आपका चरित्र अद्भुत है क्योंकि उसे कभी भी यमयातना भोगनी नहीं पड़ती, जो आपके जल का पान करता है। क्योंकि यम भी फिर अपनी भगिनी के पुत्र को कैसे दण्ड दे सकता है, भले ही वे दुष्ट भी क्यों न हों ! आपकी सेवा करने से जैसे गोपिकाएँ हरि की प्रिय बनीं, वैसे ही आपकी सेवा करने वाले जीव भी हरि के प्रिय बन जाते हैं ॥6॥

ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता
न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये ।
अतोऽस्तु तव लालना सुरधुनी परं सङ्गमात्
तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितैः ।।७।।

हे मुकुन्दप्रिये श्रीयमुने ! मुझे आपकी सन्निधि से तनुनवत्व प्राप्त हो। जिससे फिर मुरारि में रति होनी दुर्लभ नहीं रहेगी। इसलिये आपकी स्तुति होती रहे क्योंकि सुरधुनी-गंगा की भी आपसे मिल जाने के कारण ही भूमि पर कीर्ति गायी जाती है, अन्यथा पुष्टिस्थितजीव तो आपके बिना केवल गंगा की कीर्ति नहीं गाते ॥7॥

स्तुतिं तव करोति कः कमलजासपत्निप्रिये
हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षतः ।
इयं तव कथाऽधिका सकलगोपिकासङ्गम-
स्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः सङ्गमः ।।८।।

हे कमलजा-लक्ष्मीजी की सपत्नी एवं भगवान की प्रिया श्रीयमुनाजी ! आपकी स्तुति कौन कर सकता है ! क्योंकि हरि के पश्चात् श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करने से तो मोक्षपर्यन्त सुख प्राप्त होता है परन्तु आपकी कथा तो इससे भी अधिक है क्योंकि समस्त गोपिकाओं से संगम होने के पश्चात् भगवान के समस्त श्रीअंग में प्रकट हुए स्मरश्रम बिन्दुओं से आपका संगम हुआ है ॥8॥

तवाऽष्टकमिदं मुदा पठति सूरसूते सदा
समस्तदुरितक्षयो भवति वै मुकुन्दे रतिः
तया सकलसिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति
स्वभावविजयो भवेद्वदति वल्लभः श्रीहरेः ।।९।।

श्रीमद्वैश्वानरावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितं श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

हे सूर्यपुत्री श्रीयमुना ! जो आपके इस अष्टक का सदा आनन्दपूर्वक पाठ करता है, उसके समस्त पापों का क्षय हो जाता है एवं उसमें निश्चितरूप से मुकुन्द में रति उत्पन्न हो जाती है। उस रति से सकलसिद्धियाँ प्राप्त होती है, मुरारि भी सन्तुष्ट होते हैं एवं स्वभाव पर विजय प्राप्त होती है - यह मैं श्रीहरि का वल्लभ कह रहा हूँ ॥9॥

◆ ◆ ◆

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतं

श्रीयमुनाष्टकम्

श्रीप्रभुचरणविवृति ।

मूलम् – नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा
मुरारिपदपङ्कजस्फुरदमन्दरेणूत्कटाम् ।
तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना
सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम् ।।१।।

श्रीमत्प्रभुचरणविनिर्मिता विवृतिः ।

विश्वोद्धारार्थमेवाऽऽविर्भूतवृन्दावनप्रिया: ।
कृपयन्तु सदा तातचरणा मयि विट्ठले ।।१।।

विविधलीलोपयोगिनीं कालिन्दीं स्तोतुकामाः श्रीगोकुलेशे यथा जीवैर्नमनातिरिक्तं न कर्त्तुं शक्यं, तथा कालिन्द्यामपीत्याशयेनाऽऽदौ नमनमेवाऽऽहुर्नमामीति । भगवताऽष्टविधैश्वर्यं कालिन्द्यै दत्तमिति ज्ञापनायाष्टभिः श्लोकैः स्तुवन्ति । साक्षाद्भगवत्सेवोपयोगिदेहाप्तितल्लीलावलोकनतद्रसानुभवसर्वात्मभावादयः सकलसिद्धयो ज्ञेयाः । अत एव नमनं [१]मुदपि ।

श्रीमत्प्रभुचरण-विवृति
विश्वोद्धार के लिये ही आविर्भूत हुए सदा वृन्दावनप्रिय-तातचरण
मुझ विट्ठल पर सदा कृपा करें॥1॥

अब आचार्यचरणों ने प्रभु की विविधलीलाओं में उपयोगिनी कालिन्दी की स्तुति करने के लिये; जैसे कि श्रीगोकुलेश को जीव नमन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सेवा कर सकने में समर्थ नहीं है; वैसे ही कालिन्दी को भी नमन करने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सेवा करनी संभव नहीं है- यह कहने के आशय से इस अष्टक का प्रारंभ **नमामि** कहते हुए नमन करके ही किया है। भगवान ने अष्टविध-ऐश्वर्य कालिन्दी को दिये हैं- यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने इस स्तोत्र में आठ श्लोकों द्वारा श्रीयमुनाजी की स्तुति की है। यहाँ सकलसिद्धियों का अर्थ साक्षात् भगवत्सेवोपयोगी देह की प्राप्ति, भगवल्लीला का अवलोकन करना, भगवल्लीला के रस का अनुभव करना, सर्वात्मभाव आदि प्राप्त करना है (सर्वात्मभाव का अर्थ है- सर्व=सभी में, आत्मा=श्रीकृष्ण, भाव=का भाव रखना। सर्वात्मभाव का साधारण अर्थ होता है- सभी पदार्थों में श्रीकृष्ण का भाव रखना। सर्वात्मभाव के भी दो प्रकार हैं- मर्यादामार्गीय सर्वात्मभाव एवं पुष्टिमार्गीय सर्वात्मभाव। विस्तारभयेन यहाँ केवल इतना निर्देश पर्याप्त होगा कि मर्यादामार्गीय सर्वात्मभाव का तात्पर्य श्रीभागवत के "स वै मनः 9/4/18" एवं "सा वाक् यया(10/80/3)" इत्यादि श्लोकों द्वारा समझना चाहिए जहाँ समस्त इन्द्रियों का विनियोग भगवान में होना बताया गया है। और पुष्टिमार्गीय सर्वात्मभाव का अर्थ "अक्षण्वतां(अरी सखियों! हमने तो देहधारियों के जीवन की और आँखों की इतनी ही सफलता समझी है कि, गाएँ हाँकते जा रहे श्यामसुन्दर की झाँकी कर सकें(श्री०भा- १०/२१/७)" इस श्लोक द्वारा समझना चाहिए जहाँ अलौकिक इन्द्रियाँ प्राप्त करके भगवल्लीला का आनन्द लेना बताया गया है)और उपर्युक्त सकलसिद्धियाँ प्राप्त होती होने के कारण आचार्यचरणों को श्रीयमुनाजी को नमन करने में आनन्द भी अनुभूत हो रहा है।

जलदोषात्मकमुरस्याऽरेः पदपङ्कजयोः स्फुरन्तः सेवोपयोगिदेहादिसम्पादनोन्मुखा ये रेणवोऽमन्दा

---

[१] मुदेति क–ग.

व्रजसुन्दरीवृन्दचरणरेणुसाहित्येनाऽनल्पास्त उत्कटा जलापेक्षयाऽधिका यत्र । एतेन दोषभयं भगवत्प्राप्तिविलम्बश्चाऽपास्त: । अग्रे स्पष्टम् । जलदर्शनस्य भगवत्स्मारकत्वं भावजनकत्वं च ज्ञापयितुं स्मरपितृपदम् ।।१।।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- श्रीयमुनाजी में जलदोषात्मकरूप 'मुर' नामक असुर के शत्रु श्रीकृष्ण के पदपंकजों में स्फुरित होने वाली एवं भगवत्सेवा में उपयोगी देह आदि का संपादन करने वाली रेणु अधिक है यानि श्रीयमुनाजी में जल की अपेक्षा प्रभु की चरणरेणु अधिक है; क्योंकि केवल भगवान की ही चरणरेणु नहीं अपितु सहस्र व्रजसुन्दरीवृन्द की भी चरणरेणु होने के कारण श्रीयमुनाजी में जल की अपेक्षा रेणु अधिक है। आचार्यचरणों के इस कथन से "दोष का भय", "भगवत्प्राप्ति में विलम्ब" यह दोनों बातें निरस्त हो गयीं समझ लेनी चाहिए। तात्पर्य यह कि जैसे मुरारि-भगवान ने मुरदैत्य का वध करके जलदोष दूर कर दिया, वैसे ही श्रीयमुनाजी में मिश्रित भगवच्चरणरेणु भी जीव के दोष दूर कर देगी- यह ऊपर कहे "दोष का भय" दूर होने का अर्थ है। और जैसे भगवान ने मुरदैत्य का जो कि भगवान से मिलने में विलम्ब का कारण बना हुआ था(पढ़ें श्रीभागवत 10/59)उसका वध करके सोलह हजार कन्याओं को अविलम्ब/शीघ्र भगवत्प्राप्ति करवा दी, वैसे ही चूँकि श्रीयमुनाजी में भी भगवच्चरणरेणु मिली हुई है अतः मुरारि की चरणरेणु भी अविलम्ब भगवत्प्राप्ति करवा देगी- यह "भगवत्प्राप्ति में विलम्ब" दूर होने का अर्थ है। आगे की पंक्तियाँ तो स्पष्ट हैं। जो श्रीयमुनाजी के जल का दर्शन करेगा उसे भगवान का स्मरण होगा एवं भगवान के प्रति भाव-उत्पन्न होगा- यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने भगवान को **स्मरपिता** एवं श्रीयमुनाजी को **स्मरपिता** की 'श्री' को धारण करने वाली कहा है॥1॥

कलिन्दगिरिमस्तके पतदमन्दपूरोज्ज्वला
विलासगमनोल्लसत्प्रकटगण्डशैलोन्नता ।
सघोषगतिदन्तुरा समधिरूढदोलोत्तमा
मुकुन्दरतिवर्धिनी जयति पद्मबन्धो: सुता ।।२।।

आविर्भावप्रकारमाहु: कलिन्देति । रविमण्डलादतिदूराद्गिरिमस्तके पाते फेनेन प्रवाहजलेन चोज्ज्वला । उच्चनीचशैलारोहावरोहौ विलासगति रूपौ । तत्रोल्लसन्त: शोभां प्राप्नुवन्त: प्रवाहवेगेनोच्चै: क्षिप्ता अत एव प्रकटा: सर्वेषां दृश्यास्तैस्तादृशैस्तथा ।

अब आचार्यचरण आगे के श्लोक में **कलिन्द** इत्यादि शब्दों द्वारा श्रीयमुनाजी के भूतल पर आविर्भाव का प्रकार बता रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- श्रीयमुनाजी सुदूरवर्ती सूर्यमण्डल से निकल कर कलिन्दपर्वत के मस्तक पर गिरती हैं और इस कारण फ़ेनयुक्त प्रवाहपूर्वक जल के कारण उज्जवल प्रतीत होती हैं। उँचे-नीचे पर्वतखण्डों पर आरोह-अवरोह गति से पधारती हुई श्रीयमुनाजी यों प्रतीत होती हैं मानों विलासपूर्वक-आनन्दवेग से पधार रही हों। श्रीयमुनाजी की ऐसी विलासपूर्वकगति के कारण **उल्लसन्त:** अर्थात् शोभायुक्त होते हुए पर्वतखण्ड उनके प्रवाह के कारण ऊपर से गिरते हैं अतएव प्रकट होते हैं अर्थात् सभी को दिखाई देने लगते हैं; उन उँचे-नीचे पर्वतखण्डों पर से गिरती होने के कारण श्रीयमुनाजी उँची दिखाई पड़ती हैं।

उच्चत: पाते शोभामुक्त्वा ततो विषमभूमिगतिशोभामाहु: सघोषेति । दन्तुरशब्देन विविधविकारवत्त्वमुच्यते । 'विपुलपुलकभरदन्तुरितम्', 'केतकीदन्तुरिताशे' इत्यादिजयदेवोक्तिरपि।

उँचाई से गिरती हुई श्रीयमुनाजी की शोभा को कह कर अब आपश्री विषमभूमि पर श्रीयमुनाजी की गति की शोभा को **सघोष** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। यहाँ **दन्तुर** शब्द से विविधविकार(भावों के विविध प्रकार) समझने चाहिए। जानना चाहिए कि साहित्य में वर्णन आता है कि जब नायिका प्रथमवार नायक से मिलने जाती है तब उसके मन में विविध प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और इसीलिये ऐसी नायिका को 'दन्तुरा(विविधभाववती)' कहा गया है। श्रीयमुनाजी प्रभु की चतुर्थप्रिया हैं और उनके मन में भी प्रभु से मिलनसंबंधी अनेक भाव उत्पन्न हो रहे हैं अतः श्रीगुसांईजी श्रीयमुनाजी के संदर्भ में 'दन्तुर' शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव कर रहे हैं। 'दन्तुर' शब्द का ऐसा अर्थ जयदेव ने भी "विपुलपुलकभरदन्तुरितम्(गीतगोविन्दम्- 22/7)", "केतकीदन्तुरिताशे(गीतगोविन्दम्3/5)" इत्यादि वाक्यों में किया है।

व्रजजनगोवृन्दादिविविधगतिभिस्तादृशीव । घोषः शब्दो व्रजो वा । अनतिस्थूलशिलासु गतिशोभया असमधिरूढेव समधिरूढदोलोत्तमा । ततो भूमावागत्य मुकुन्दरतिवर्द्धिनी जाता । यतो रसाकरसखस्य सुता । अतः स्वयमपि रसात्मिकेति भावः ।।२।।

वैसे **घोष** शब्द का अर्थ 'व्रज' भी होता है। अतः यदि **घोष** शब्द का 'व्रज' अर्थ करें, तो श्रीयमुनाजी के लिये प्रयुक्त 'सघोषगतिदन्तुरा' शब्द का अर्थ होगा- व्रजजन-गोवृन्द आदि श्रीयमुनाजी के निकट गति कर रहे हैं अतः उनके विविधभावों को देखकर श्रीयमुनाजी भी दन्तुरित अर्थात् भावयुक्त हो रही हैं। छोटी-छोटी शिलाओं पर गति करती हुई श्रीयमुनाजी- यद्यपि वहाँ कोई डोली/पालकी नहीं है तथापि- ऐसे प्रतीत हो रहीं हैं मानों किसी उत्तम डोली पर बैठ कर पधार रही हों। वहाँ से वे भूतल पर पधारीं और मुकुन्द में रति बढ़ाने वाली मुकुन्दरतिवर्धिनी बनीं ; क्योंकि आखिरकार तो वे रसाकर-कमल के मित्र सूर्य की पुत्री हैं अतः स्वयं श्रीयमुनाजी भी रसात्मिका हैं- यह भाव है॥2॥

*ततो भुव्यागताया धर्मानाहु**र्भुवमि**ति । प्रयोजनम् – **भुवनपावनीमि**ति ।

भुवं भुवनपावनीमधिगतामनेकस्वनैः
प्रियाभिरिव सेवितां शुकमयूरहंसादिभिः ।

तरङ्गभुजकङ्कणप्रकटमुक्तिकावालुका–
नितम्बतटसुन्दरीं नमत कृष्णतुर्यप्रियाम् ।।३।।

अनेकस्वनैरिति शुकादिविशेषणम् । एतेन विभावादिसामग्र्युक्ता । यत्र यथोचितं तत्र तथा कुर्वन्तीति **प्रियापदम्** । तीरस्य चाकचक्यवत्सिकताकृतशोभां तत्स्वरूपमप्याहु**स्तरङ्गे**ति । यदा तरङ्गास्तीरमागत्य प्रसृता भवन्ति तदा तीरसिकता मुक्तावद्भासन्ते । ता न सिकताः । लोकप्रतीतिः परं तथा । किन्तु तरङ्गा एव भुजास्तत्र यानि कङ्कणानि तत्र प्रकटा या मुक्तिका मुक्ताफलानि तान्येव वालुकावत्प्रतीयमानानि तद्युक्तो यो नितम्ब एवोच्चदेशात्मकतटस्तेन तादृशीम् । भगवति स्नेहातिशयो विशेषणेनोक्तः ।।३।।

भूतल पर पधारने के पश्चात् अब श्रीयमुनाजी के धर्मों को आचार्यचरण **भुवम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। श्रीयमुनाजी के भूतल पर पधारने का प्रयोजन भूतल को पावन करना है। **अनेकस्वनैः** (अनेक प्रकार के स्वरों द्वारा) शब्द शुक आदि पक्षियों के लिये कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि श्रीयमुनाजी विभाव-आदि सामग्रियों से युक्त हैं। श्रीभरतमुनि ने रस उत्पन्न होने का प्रकार "विभावानुभावव्यभिचारिभावसंयोगात् रसनिष्पत्तिः" इस सूत्र द्वारा कहा है, तदन्तर्गत विभाव-अनुभाव-संचारीभाव इत्यादि की परिभाषा देख लेनी चाहिए। इन पक्षियों को प्रिया कहने का कारण यह है कि, ये पक्षी एक प्रिया की भाँति जहाँ जैसी सामग्री अपेक्षित है, वैसी सेवा कर रहे हैं। श्रीयमुनाजी के तीर की जो चमकीली बालू है, उसकी शोभा एवं उसके स्वरूप को भी आचार्यचरण **तरंगभुज** इत्यादि शब्दों द्वारा कह रहे हैं। जब श्रीयमुनाजी की तरंगे उनके तीर पर आकर फ़ैलती हैं, तब तीरस्थित बालू मोतियों की भाँति भासित होती है। वास्तव में तो वो बालू है ही नहीं, बालुका की प्रतीति तो सामान्य लोगों को होती है, किन्तु वास्तविकता यह है कि वे तरंगे ही श्रीयमुनाजी की भुजाएँ हैं और उन भुजाओं में जो उन्होंने कंकण धारण कर रखे हैं, उन कंकणों में प्रकट हुए मोती ही सामान्य लोगों को चमकीली बालुका की भाँति प्रतीत होते हैं। ऐसे मोतीकंकणों सहित श्रीयमुनाजी के जो उच्चदेशात्मक तट हैं, वही उनके नितम्ब हैं, श्रीयमुनाजी ऐसी सुन्दरी हैं। आपश्री ने श्रीयमुनाजी को "कृष्णतुर्यप्रिया" कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि, भगवान के प्रति श्रीयमुनाजी को अतिशय स्नेह है॥3॥

अनन्तगुणभूषिते शिवविरञ्चिदेवस्तुते
घनाघननिभे सदा ध्रुवपराशराभीष्टदे ।
विशुद्धमथुरातटे सकलगोपगोपीवृते
कृपाजलधिसंश्रिते मम मनस्सुखं भावय ।।४।।

भगवत्समानधर्मत्वं ज्ञापयितुं तथा विशेषणैराहु**रनन्ते**ति । प्रभौ सप्तम्यन्तानि विशेषणानि । तत्प्रियायां सम्बुद्धिरूपाणि ।

---

* ततो भूमीति पाठः श्रीपुरुषोत्तमचरणानाम् हस्ताक्षरग्रन्थे वर्तते ।

घनाघनशब्दो निपातरूपो घनसमुदायं वदति । श्यामे । तादृशीति वा । ध्रुवादेस्तत्तीर एव प्रभुप्राकट्यात्तथा । विशुद्धा मथुरा तटे यस्याः । सा निकटे वा यस्य । निरवधिकृपायुक्तो हरिस्तस्मिन् । अन्या नदी लौकिकं जलधिं सङ्गता भवति । इयं तु तादृशं श्रीव्रजेशं संश्रिता । एतेन त्वत्सङ्गतो भगवत्सङ्गतो भवतीति भावः सूचितः ।।४।।

अब इस श्लोक में आचार्यचरण श्रीयमुनाजी में भी भगवान के समान ही षड्गुणधर्म हैं, यह कहने के लिये उन सभी धर्मों को बताने वाले विशेषणों को **अनन्त** इत्यादि छह विशेषणों से कह रहे हैं। यदि ये सभी विशेषण सप्तम्यंत मान लिये जाएँ तो प्रभु के लिये भी माने जा सकते हैं। और यदि भगवान की प्रिया श्रीयमुनाजी के लिये मानें, तो श्रीयमुनाजी के लिये संबोधन भी माने जा सकते हैं। 'घनाघन' शब्द निपात है और उसका अर्थ मेघों का समूह होता है। 'घनाघननिभे' शब्द को यदि भगवान के लिये मानें तो इसका अर्थ होगा- मेघसमान निभा/आभा वाले श्यामस्वरूप भगवान। और यदि श्रीयमुनाजी के लिये कहा मानें, तो इसका अर्थ होगा- भगवान के समान श्यामस्वरूपा श्रीयमुनाजी। चूँकि ध्रुव आदि को श्रीयमुनाजी के तीर पर ही प्रभुप्रकट होने के द्वारा अभीष्टसिद्धि प्राप्त हुई है अतः श्रीयमुनाजी को आचार्यचरणों ने 'ध्रुवपराशराभीष्टदे' कहा है। 'विशुद्धमथुरातटे' को यदि श्रीयमुनाजी के लिये माना जाय तो, इसका अर्थ होगा- विशुद्ध मथुरानगरी स्थित है जिसके तट पर, ऐसी श्रीयमुनाजी। अथवा, यदि भगवान के लिये माना जाय तो, तट का एक अर्थ 'निकट' भी होता है अतः यों अर्थ होगा कि, मथुरानगरी जिनके निकट बसी है, ऐसे भगवान। 'कृपाजलधिसंश्रिते' का अर्थ है- अपार कृपायुक्त हरि में आश्रय करने वाली श्रीयमुनाजी। अन्य नदियाँ तो लौकिक सागर से मिलती हैं परन्तु श्रीयमुनाजी तो कृपासागर श्रीव्रजेश से जा मिली हैं। इससे यह भाव सूचित होता है कि, श्रीयमुनाजी के संग द्वारा भगवान का संग प्राप्त हो जाता है ॥4॥

यया चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियम्भावुका
समागमनतो भवत्सकलसिद्धिदा सेवताम् ।
तया सदृशतामियात्कमलजा सपत्नीव यद्धरि-
प्रियकलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम् ।।५।।

अथ भगवदीयानामप्युत्कर्षाधायिका या तदुत्कर्षं को वक्तुं शक्त इति भावेनाऽऽहुर्ययेति । चरणपद्मजा गङ्गा । तेन भक्तिमार्गीया । निर्दोषपूर्णगुणाऽपि यया त्वया सह समागमनतो मिलनतो हरेस्तथाऽभवत् । सेवतां च तथा । पूर्वं गङ्गाया अन्यसङ्गतिजनितमुत्कर्षमुक्त्वा [1]भगवत्सङ्गतिजनित उत्कर्षः पठितः "सा राजन् दर्शनादेव ब्रह्महत्यापहारिणी"त्यादिरूपः ।

अब, 'भगवदीयों के भी उत्कर्ष को बढ़ाने वाली जो श्रीयमुनाजी हैं स्वयं उनके उत्कर्ष को कहने में कौन समर्थ है ?' इस भाव को बताने के लिये आचार्यचरण **यया** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'चरणपद्मजा' अर्थात् गंगा। प्रभु के चरण से निकली होने के कारण गंगाजी भक्तिमार्गीय हैं क्योंकि प्रभु के चरणारविन्द भक्तिरूप हैं। यद्यपि गंगाजी निर्दोषपूर्णगुणा हैं परन्तु ऐसी गंगाजी ने भी जब हे श्रीयमुनाजी! आपसे समागम किया, आपसे मिलीं, तब हरि की प्यारी बनीं एवं उनके भक्तों को सिद्धि देने वाली बनीं- यह श्लोक का अर्थ है। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि- हमारे कहे से पूर्व भी अन्यान्य शास्त्रों में गंगानदी का अन्य नदी के संग मिलने के कारण ही उसका उत्कर्ष कहा गया है एवं तत्पश्चात् भगवान के संग मिलने से उसका उत्कर्ष होना पढ़ा गया है, जैसा कि 'सा राजन् दर्शनादेव' इत्यादि श्लोकों में भी बताया गया है। तात्पर्य यह कि श्रीगंगाजी का पाप मिटा कर अपने भक्तों को फल देना इत्यादि उनकी महिमा तो शास्त्रों में पहले ही पूर्णरूप से वर्णित है परन्तु श्रीगंगाजी की अपने भक्तों को सकलसिद्धियाँ देनी जैसी महिमा तो उनमें श्रीयमुनाजी से मिलने के पश्चात् ही आयी हैं और इसका वर्णन शास्त्रों में अस्पष्टरूप से वर्णित है, जिसे आपश्री यहाँ बता रहे हैं- यह अर्थ है।

एतादृश्या त्वया सह सदृशतां किं काऽपीयादिति काकूक्तिः । यदीयात् कमलजेयात् । तत्र हेतुमाहुर्यद्यस्मात्सा भगवत्पत्नीत्वात्सपत्नी भवति । [2]तत्रापि भवती प्रियेति - इवेति । भक्तानुगुणत्वमाहुर्हरिप्रियाणां कलिं(दोषं)द्यति खण्डयति ।।५।।

---

१ भवतीसङ्गति ० पाठ. २ तत्रापि प्रियेति वेतीति ख. तत्रापि भगवती प्रियातीवेतीति ग. इष्टस्त्वेवम्.

अतः आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- हे श्रीयमुना ! तुम्हारे जैसी की समानता क्या कोई कर सकती है ? अर्थात् कोई नहीं कर सकती । यदि कोई कर सकती है, तो लक्ष्मीजी कर सकती हैं। क्योंकि लक्ष्मीजी भगवान की पत्नी हैं और केवल इसी कारण वे श्रीयमुनाजी की सपत्नी **जैसी** हैं- यह **इव** शब्द का अर्थ है। तात्पर्य यह हुआ कि यद्यपि सपत्नी होने के नाते श्रीलक्ष्मीजी हैं तो श्रीयमुनाजी के समान ही, परन्तु, वे श्रीयमुनाजी की केवल सपत्नी जैसी(इव) ही हैं क्योंकि श्रीयमुनाजी का माहात्म्य तो उनसे कहीं अधिक है अतः केवल भगवान की पत्नी होने के सीमित अंश में ही उनकी बराबरी या समानता श्रीलक्ष्मीजी से की जा सकती है, चूँकि वास्तव में तो श्रीयमुनाजी की महिमा श्रीलक्ष्मीजी से भी बढ़कर है अतः आचार्यचरण **इव**(जैसी)कहकर केवल कुछ अंश में ही लक्ष्मीजी की समानता श्रीयमुनाजी से कर रहे हैं, यह नहीं कह रहे हैं कि श्रीलक्ष्मीजी सर्वांश में श्रीयमुनाजी की समानता कर सकती हैं- प्रभुचरण उपरोक्त वाक्य द्वारा आचार्यचरणों का यह भाव समझाना चाह रहे हैं। किन्तु श्रीयमुनाजी तो भगवान की प्रिया हैं। श्रीयमुनाजी भक्तों का उद्धार करती हैं, यह आचार्यचरणों ने **हरिप्रियकलिन्दया** शब्द से कहा है । अर्थ यह कि- श्रीयमुनाजी हरि के प्रियजनों के कलि(दोष)को मिटा देती हैं ॥5॥

नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं
न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः ।
यमोऽपि भगिनीसुतान्कथमु हन्ति दुष्टानपि
प्रियो भवति सेवनात्तव हरेर्यथा गोपिकाः ।।६।।

एतादृश्यां त्वयि नमनातिरिक्तं न वक्तुं शक्यमित्याशयेनाऽऽहुर्नमोऽस्त्विति । त्वयि नमनमपि दुर्लभमतः प्रार्थ्यते अस्त्विति । अद्भुतत्वमेवाऽग्रे उपपादितम् ।।६।।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- हे श्रीयमुनाजी ! आपके समान अद्भुतचरित्र वाली भगवान की प्रिया को तो नमन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कहने में हम असमर्थ हैं इसलिये इससे अधिक स्तुति भी क्या कर सकते हैं। अतः इस आशय से आचार्यचरणों ने यहाँ श्रीयमुनाजी को नमन ही किया है। वास्तव में तो श्रीयमुनाजी को नमन कर पाना भी दुर्लभ बात है अतः आपश्री और कुछ भी न कहते हुए मात्र **नमोऽस्तु** कह कर नमन करने की केवल प्रार्थना ही कर रहे हैं। और श्रीयमुनाजी की वही अद्भुतता इस श्लोक में आगे कहे 'न जातु यमयातना...... गोपिकाः' इत्यादि शब्दों से आपश्री ने बतायी है ॥6॥

ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता
न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये ।
अतोऽस्तु तव लालना सुरधुनी परं सङ्गमात्
तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितैः ।।७।।

श्रीगोकुलनाथचरणानाम् विवृतिः ।

आवश्यकदैहिकधर्मेऽपि त्वत्सम्बन्धे मुक्त्यधिकभक्तिप्राप्तिर्यत्र, तत्र का शङ्का यमयातनाभाव इत्याहुर्ममाऽस्त्विति । तव सन्निधौ तनोर्नवत्वं लीलोपयोगिनूतनदेहसम्पत्तिरस्तु । एतेन पूर्वदेहनिवृत्तिः सूचिता । इदमपि त्वत्कृतमेव भवति न त्वन्यथेति ज्ञापनाय प्रार्थनमस्त्विति । एतावता शरीरपरिवर्त्तमात्रेणैव मुररिपौ रतिर्दुर्लभतमा न भवतीत्यर्थः किन्तु तनुनवत्वेन सुलभैव । कदाचित्प्रतिबन्धके विद्यमानेऽपि यथा जलदोषरूपमुरस्य निवारकस्तथा त्वत्सम्बन्धात्सर्वदोषनिवारकत्वं मुररिपुपदेनोक्तम् । अतः कारणाद्यावदाधुनिकशरीरनिवृत्तिस्तावत्तव लालना स्तुतिरूपा अस्तु ।

श्रीगोकुलनाथजी विवृति

आवश्यक दैहिकधर्म के विद्यमान रहते हुए भी यदि श्रीयमुनाजी से सम्बन्ध होने पर जहाँ मुक्ति से भी बड़ी भक्ति की प्राप्ति हो सकती हो, वहाँ यमयातना नहीं होगी, इस बात में क्या शंका रह जाती है ? अर्थात् कोई शंका नहीं है- इस भाव को कहने के लिये आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- **ममाऽस्तु** (हे श्रीयमुनाजी ! मुझे आपकी सन्निधि प्राप्त हो) । आचार्यचरणों का तात्पर्य यह कि- हे श्रीयमुनाजी ! आपकी सन्निधि में मुझे तनु का नवत्व प्राप्त हो अर्थात् लीलोपयोगी नूतनदेहरूप सम्पत्ति प्राप्त हो। आचार्यचरणों के इस कथन से सूचित होता है कि, श्रीयमुनाजी जब ऐसी कृपा करती हैं तब पूर्वदेह की निवृत्ति हो जाती है और नूतनदेह प्राप्त होती है। यह

भी श्रीयमुनाजी की ही कृपा से प्राप्त होता है अन्यथा नहीं- यह बताने के लिये आचार्यचरण **अस्तु** कह कर श्रीयमुनाजी से केवल प्रार्थना ही कर रहे हैं। इस प्रकार के शरीरपरिवर्तन होने मात्र से ही मुररिपु-प्रभु में रति उत्पन्न होनी दुर्लभतमा नहीं रहती किन्तु तनुनवत्व होने के कारण सुलभ ही बन जाती है- यह अर्थ है। कदाचित् भगवद्रति में कोई प्रतिबन्ध होता भी हो, तो जैसे भगवान जलदोषरूप मुरदैत्य के निवारक बने, वैसे ही हे श्रीयमुनाजी ! आपका सम्बन्ध होने से जीव के सभी दोष निवृत्त हो जाते हैं- यह बात आपश्री ने 'मुरारि' पद के द्वारा कही है। इस कारण जब तक इस आधुनिकशरीर की निवृति न हो जाये और अलौकिकशरीर की प्राप्ति न हो जाय, तब तक हे श्रीयंमुनाजी ! हम आपकी लालना/स्तुति करते रहें- यह अर्थ है।

साऽपि त्वत्कृपयैव नाऽन्यथेति प्रार्थ्यतेऽस्त्विति । गङ्गाया अपि फलसाधकत्वं त्वत्सम्बन्धादेवेत्यत आहु:, **सुरधुनी** तव सङ्गमात् **परं** अत्यर्थं भुवि कीर्तिता स्तुतेत्यर्थः, न तु कदापि त्वद्रहिताऽपीत्यर्थः । ननु क्वचित्पुराणादौ केवलाया अंपि स्तुतिर्दृश्यत इति स्तुतौ विशेषमाहु: **पुष्टिस्थितैरिति** । मर्यादामार्गीयैः केवलाऽपि स्तूयते त्वत्स्वरूपाज्ञानात् । पुष्टिमार्गीयास्तु त्वत्स्वरूपं जानन्तीति त्वत्सम्बन्धादेव स्तुवन्तीत्याहु: **पुष्टिस्थितैरिति** ।।७।।

श्रीयमुनाजी की स्तुति भी जब श्रीयमुनाजी स्वयं कृपा करें, तब ही संभव हो सकती है, अन्यथा नहीं अतः आचार्यचरण श्रीयमुनाजी से स्तुति करने की प्रार्थना **अस्तु** शब्द से कर रहे हैं। हे श्रीयमुनाजी ! गंगाजी भी आपका सम्बन्ध होने के पश्चात् ही फ़लसाधिका बनती हैं- यह कहने के लिये आचार्यचरण **सुरधुनी तव संगमात्** कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- हे श्रीयमुनाजी ! यद्यपि भूतल पर श्रीगंगाजी की अत्यन्त स्तुति की गयी है परन्तु आपसे सम्बन्ध होने के कारण की गयी है, आपसे सम्बन्धित हुए बिना तो श्रीगंगाजी की स्तुति कदापि नहीं की जा सकती- यह अर्थ है। किन्तु किसी को यह शंका हो सकती है कि, पुराण आदि शास्त्रों में तो श्रीयमुनाजी के सम्बन्ध से रहित ही श्रीगंगाजी की स्तुति का वर्णन दिखाई देता है, वहाँ श्रीयमुनाजी का तो कोई उल्लेख नहीं है !!! अतः यदि किसी को ऐसी शंका होती हो, तो श्रीयमुनाजी की स्तुति में क्या विशेष है, यह आपश्री **पुष्टिस्थितैः** शब्द से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, मर्यादामार्गीय तो केवल श्रीगंगाजी की ही स्तुति करते हैं क्योंकि हे श्रीयमुनाजी ! उन्हें आपके स्वरूप का ज्ञान नहीं है। किन्तु पुष्टिमार्गीय तो आपके स्वरूप को जानते हैं अतः पुष्टिस्थितजीव तो आपसे सम्बन्ध हुआ होने के कारण ही श्रीगंगाजी की स्तुति करते हैं ॥7॥

स्तुतिं तव करोति कः कमलजासपत्नि प्रिये
हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षतः ।
इयं तव कथाऽधिका सकलगोपिकासङ्गम–
स्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः सङ्गमः ।।८।।

यत्र त्वत्सम्बन्धात्सर्ववन्द्यगङ्गास्तुतिस्तत्र त्वत्स्तुतौ को वा समर्थ इत्याहु: **स्तुतिं तवेति** । अशक्यस्तुतित्वे हेतुमाहुः **कमलजासपत्नीति** । सर्वत्र स्तुत्यत्वं भगवत्सम्बन्धात् । स सर्वत्र लक्ष्म्यपेक्षया न्यून एव । त्वं तु तस्या अपि सपत्नी तत्समानसौभाग्यवती । ननु लक्ष्मीस्तुतिस्तु लोके दृश्यते । तर्हि तत्साम्यं चेत्कथं स्तुतिरशक्येत्याहु: **प्रिये इति** । साम्यमात्रे कर्त्तुं शक्यत एव । अत्र तु ततोऽप्यधिकं प्रियत्वमस्तीति स्तुतिकरणमशक्यम् ।

हे श्रीयमुनाजी ! जहाँ आपसे सम्बन्ध होने के कारण ही सभी के द्वारा वन्दित श्रीगंगाजी की स्तुति होती हो, वहाँ स्वयं आपकी स्तुति करने में तो कौन समर्थ है- यह बात कहने के लिये आचार्यचरण **स्तुतिं तव** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी अशक्य क्यों है, इसका कारण आपश्री **कमलजासपत्नि** शब्द से कह रहे हैं। श्रीलक्ष्मीजी की सर्वत्र स्तुति इसलिये है क्योंकि वे भगवान से सम्बन्धित हैं। और अन्य सभी का भगवान से सम्बन्ध श्रीलक्ष्मीजी की तुलना में तो कम ही है। आपश्री आज्ञा करते हैं- परन्तु हे श्रीयमुनाजी ! आप तो श्रीलक्ष्मीजी की भी सपत्नी हैं, अतः उनसे कम नहीं अपितु उनके समान सौभाग्यवती हैं। किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, लोक में श्रीलक्ष्मीजी की स्तुति होनी तो देखी जाती है; और यदि श्रीयमुनाजी भी श्रीलक्ष्मीजी के ही समान हैं, तो श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी भी शक्य ही होनी चाहिए, फ़िर आचार्यचरण श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी अशक्य है, ऐसा क्यों कह रहे हैं ? तो आपश्री इसका शंका का समाधान **प्रिये** शब्द से दे रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह कि, यदि परस्पर केवल समानता ही होती, तो स्तुति करनी संभव भी

बन पाती परन्तु श्रीयमुनाजी तो श्रीलक्ष्मीजी से भी बढ़कर प्रभु की प्रिया हैं अतः उनकी स्तुति करनी तो अशक्य ही है।

ननु कथं ज्ञायते लक्ष्म्यपेक्षयाऽऽधिक्यमस्तीति, तत्र हेतुमाहु**हरेर्यदनुसेवयेति** । हरेरनु पश्चाद्यस्याः सेवया मोक्षं मर्यादीकृत्य सुखं भवति । मोक्षप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः । न तु ततोऽप्यधिकं भजनानन्दाख्यं सुखं भवति । तदपि भगवत्सहिततद्भजनेन न तु केवलायाः, केवलाया मोक्षविघातकत्वात् । अनुशब्दान्मुख्यतया भगवद्भजनम् । तदनुगुणत्वेन लक्ष्म्याः ।

कैसे ज्ञात हो कि श्रीलक्ष्मीजी की अपेक्षा श्रीयमुनाजी का स्थान अधिक है ? तो इसका हेतु आचार्यचरण **हरेर्यदनुसेवया** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। आचार्यचरण श्रीलक्ष्मीजी के लिये कहते हैं- हरि के पश्चात् लक्ष्मीजी के सेवा करने से मोक्षपर्यन्त सुख प्राप्त होता है। मूलटीका में देखेंगे तो वहाँ पर "मोक्षं मर्यादीकृत्य सुखं भवति" यह वाक्य आया है। यदि इसका सामान्य अर्थ करेंगे तो अर्थ होगा- श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करने से मोक्षपर्यन्त ही सुख प्राप्त होता है। यानि कि सुख तो मोक्ष प्राप्त होने तक ही सीमित रह गया, मर्यादित हो गया। यहाँ 'मर्यादीकृत्य' शब्द पर ध्यान देना आवश्यक होगा। समझना यह है कि, जहाँ कोई मर्यादा बाँध दी गयी हो, वहाँ बात उस मर्यादासीमा रेखा से आगे नहीं बढ़ती। जैसे कहना हो कि, श्रीराम ने सीताजी के लिये लक्ष्मणरेखा की मर्यादा बाँध दी थी, यानि इसका तात्पर्य यह हुआ कि सीताजी को उस लक्ष्मणरेखा के भीतर-भीतर तक ही मर्यादित रहना है अर्थात् उस मर्यादारेखा से आगे नहीं बढ़ना है। क्योंकि जहाँ जिस बात की, जिस स्थल तक, मर्यादा बाँध दी गयी हो, वहाँ बात उस मर्यादितस्थल तक ही गिनी जाती है, उससे आगे की नहीं। ठीक इसी प्रकार प्रभुचरण यहाँ आज्ञा कर रहे हैं कि, श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करने से मोक्षमर्यादा तक का सुख प्राप्त होता है, जिसका गूढार्थ यह है कि, केवल मोक्षपर्यन्त ही सुख प्राप्त होता है, उससे आगे या उससे अधिक पुष्टिमार्ग में जो साक्षात् भजनानन्दसुख प्राप्त करने की बात बतायी गयी है, वह प्राप्त नहीं होता- यह अर्थ है। तात्पर्य यह कि मोक्षप्राप्ति होती है। किन्तु केवल मोक्ष ही प्राप्त होता है, मोक्ष से अधिक भजनानन्दरूपी सुख प्राप्त नहीं होता। मोक्ष भी तब प्राप्त होगा जब भगवान के सहित श्रीलक्ष्मीजी का भजन करेंगे, केवल श्रीलक्ष्मीजी का ही भजन करने से नहीं। क्योंकि केवल श्रीलक्ष्मीजी का भजन करना तो उल्टे मोक्ष का विघात कर देगा। **अनुसेवया** शब्द से ज्ञात होता है कि, मुख्यतया तो भगवद्भजन ही है। और भगवत्सेवा के पश्चात् श्रीलक्ष्मीजी की सेवा है।

कालिन्द्युत्कर्षमाहु**रियं तव कथेति** । इयमग्रत उच्यमाना तव कथाऽपि [1]सर्वमुक्त्यपेक्षयाऽधिका । अत एवैतत्कथारसिकानां न मोक्षेच्छागन्धोऽपि । तदेवोक्तं पञ्चमस्कन्धे– "अथ ह वाव तव महिमामृतसमुद्रविप्रषा सकृल्लीढया विस्मारितदृष्टश्रुत–सुखलेशाभासाः परमभागवता एकान्तिन" इति । सा केत्याकाङ्क्षायामाहुः **सकलगोपिकेति** । सकलगोपिकासङ्गमेन स्मरसम्बन्धी यः श्रमस्तेन जनिता ये स्वेदजलाणवः सकलगात्रजास्तैः सङ्गमो यस्याः । एते जलाणवो न श्रमस्वेदरूपाः किन्तु विविधसङ्गमरसस्य सर्वावयवपूर्णस्याऽत्युच्छलनेन बहिरागतस्यैव बिन्दवो न तु केवलजलमात्रस्य । अत एवोक्तं **सकलगात्रजैरिति** । एभिर्विशेषणैः परमकाष्ठा[2]पन्नपुष्टिपुष्टिमार्गान्तरङ्गभक्तत्वं सर्वदैतद्रसपूर्णत्वमन्तरङ्गभक्तानुगुणत्वमेतल्लीलामध्यपातित्वादिकं सूचितम् । स्वस्यैतद्रसपूर्णत्वेन केवलैतद्भजनकर्त्तुरप्येतद्रसं ददातीति स्पष्टमेव वैलक्षण्यम् ।।८।।

अब श्रीलक्ष्मीजी की तुलना में कालिन्दी-श्रीयमुनाजी के उत्कर्ष को आचार्यचरण **तव कथा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, इससे आगे की पंक्तियों में कही जाने वाली श्रीयमुनाजी की कथा तो समस्त मुक्तियों की अपेक्षा भी अधिक है अतएव इनकी कथा के रसिकजनों में तो मोक्षप्राप्ति करने की इच्छा की गंध भी नहीं होती। यही बात श्रीभागवत के षष्ठस्कंध में भी 'हे मधुसूदन ! आपकी अमृतमयी महिमारस का समुद्र अनन्त है। उसकी एक बूँद का भी स्वाद चख लेने के पश्चात् लौकिक-पारलौकिक जितने लेशमात्र भी सुख हैं या उनकी प्रतीति है, वह सभी सुख भुला दिये जाते हैं (6/9/39)' इत्यादि वाक्यों द्वारा कही गयी है। अब श्रीयमुनाजी की कथा क्या है, यह आपश्री **सकलगोपिकासंगम** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जब भगवान का सकल गोपिकाओं के संग संगम हुआ, तब स्मरसम्बन्धी जो श्रम हुआ, उस श्रम के कारण भगवान के समस्त श्रीअंग में उत्पन्न होने वाले स्वेदबिन्दुओं से श्रीयमुनाजी का संगम हुआ। ये जलबिन्दु मात्र श्रम से

---

१ सर्वत्र मुक्त्यपेक्षयेति २ पराकाष्ठापन्नेति

उत्पन्न होने वाले स्वेदरूप ही नहीं हैं अपितु विविधप्रकार के संगम से कारण समस्त अवयवों में पूर्ण हुआ रस जब छलकने लगा, तब बाहर प्रकट होने वाले रस के ही बिन्दुकण हैं, केवल जल मात्र नहीं हैं। इसी कारण आचार्यचरणों ने उन जलाणुओं को **सकलगात्रजैः** (समस्त अवयवों से उत्पन्न होने वाला) यों कहा है। श्रीयमुनाजी की कथा/माहात्म्य को बताने के लिये उनको दिये गये 'सकलगोपिकासंगम' , 'स्मरश्रमजलाणु' , 'सकलगात्रज' इन विशेषणों से आचार्यचरणों ने सूचित किया है कि, श्रीयमुनाजी में परमकाष्ठापन्न-पुष्टिपुष्टिमार्ग की अन्तरंगभक्तता, सर्वदा भगवद्रस से पूर्णता, प्रभु के अन्तरन्गभक्तों के लिये भगवल्लीला में सहयोगिनी होना एवं भगवल्लीला में मध्यपाती होना इत्यादि गुण हैं। यानि कि जिन श्रीयमुनाजी की कथा/माहात्म्य ही ऐसा है, तो स्वयं श्रीयमुनाजी का माहात्म्य क्या होगा- यह कहना चाह रहे हैं। चूँकि श्रीयमुनाजी स्वयं इस भगवद्रस से पूर्ण हैं अतः जो केवल श्रीयमुनाजी का भी भजन करता है, उसे भी श्रीयमुनाजी इस भगवद्रस का दान करती हैं, यह श्रीयमुनाजी की विलक्षणता तो स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है क्योंकि ऊपर यह बात बतायी गयी कि प्रभु को छोड़कर केवल श्रीलक्ष्मीजी का भजन करना तो विपरीत फल देने वाला होता है, जबकि श्रीयमुनाजी के संदर्भ में ऐसा नहीं है ॥8॥

तवाऽष्टकमिदं मुदा पठति सूरसूते सदा*
समस्तदुरितक्षयो भवति वै मुकुन्दे रतिः ।
तया सकलसिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति
स्वभावविजयो भवेद्वदति वल्लभः श्रीहरेः ।।९।।

श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

एवं कालिन्दीं स्तुत्वैतत्स्तोत्रपाठफलमाहुस्**तवाऽष्टकम्**इति । यद्यप्यन्यकृतान्यपि स्तोत्राणि सन्ति तथापि वक्ष्यमाणं फलमेतत्स्तोत्रपाठेनैव भवति, नाऽन्यथेति ज्ञापनायेदमित्युक्तम् । अन्यकृतस्तोत्रेष्वेवंविधस्वरूपनिरूपणाभावात् । इदं तवाष्टकं यः पठति तस्य पूर्वं समस्तदुरितक्षयो भवति । तदनन्तरं मोक्षदातर्यपि स्नेहो भवति । अत एवोक्तं, "नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत" इति । मुकुन्दपदाद्यद्यपि मोक्षमेव साधारण्येन सर्वेभ्यो ददाति तथापि त्वत्स्तुतिपाठात्प्रसन्नो भक्तिमेव ददाति न तु मोक्षमपीति भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमुक्तम् । ततः किमिति तत्राऽऽहुः **तया सकलसिद्धयः** पूर्वोक्ताः सर्वात्मभावादयो भवन्तीति शेषः ।

उपरोक्त प्रकार से कालिन्दी की स्तुति करके अब आचार्यचरण इस स्तोत्रपाठ का फ़ल **तवाष्टकम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यद्यपि श्रीयमुनाजी के लिये तो अन्यों द्वारा लिखे स्तोत्र भी उपलब्ध होते हैं परन्तु यहाँ कहा जाने वाला फ़ल तो इसी स्तोत्र का पाठ करने से प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं- यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने इसी स्तोत्र के लिये अंगुलीनिर्देश करते हुए **इदम्** कहा है। क्योंकि अन्यों द्वारा रचे गये स्तोत्रों में श्रीयमुनाजी के ऐसे स्वरूप का निरूपण नहीं किया गया है, जो इस स्तोत्र में किया गया है। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, सर्वप्रथम तो इस अष्टक का जो पाठ करता है उसके समस्त पापों का क्षय हो जाता है। इसके पश्चात् उसे मोक्षदाता-भगवान में भी स्नेह उत्पन्न हो जाता है। अतएव 'हजारों जन्मों के पश्चात् तप-ध्यान-समाधि आदि के द्वारा मनुष्यों के पाप दूर होते हैं और तब उनमें कृष्ण के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है(विष्णुधर्मपुराण ?)" यह कहा गया है। यद्यपि भगवान का नाम मुकुन्द है और तदनुसार वे सभी को मुक्ति देते हैं परन्तु आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, हे श्रीयमुनाजी ! आपकी इस स्तुति का पाठ करने से प्रसन्न होकर वे पाठकर्ता को सीधे भक्ति ही दे देते हैं, न कि केवल मोक्ष; इससे इस यमुनाष्टकम् के पाठ को भगवान के स्वभाव का परावर्तक भी कहा गया है। और, भगवान में रति उत्पन्न हो जाने से क्या होगा, यह आपश्री **तया** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **तया सकलसिद्धियः** इत्यादि शब्दों का अर्थ है- पूर्व में कहे सर्वात्मभाव आदि की प्राप्ति होनी अर्थात् सर्वात्मभाव आदि सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है।

ननु प्रतिबन्धके विद्यमाने सति कथमेतत्स्तोत्रमात्रादेतावद्भवतीति चेत्तत्राऽऽहु**र्मुररिपुश्च सन्तुष्यती**ति । यथा दोषरूपं तन्निरुद्धकन्यासुखप्राप्तिप्रतिबन्धकं निराकृत्य ता अङ्गीकृतवानेवमेतत्पाठेनाऽपि प्रतिबन्धं निवार्य तमप्यङ्गीकरोतीत्यपि ज्ञापनाय

---

* अत्र श्रीपुरुषोत्तमचरणानां व्याख्यानं किञ्चिदस्ति तत श्लोकान्ते निवेशितम् ।

मुररिपुपदम् । फलान्तरमाहु: स्वभावविजयो भवेदिति । स्वभावस्य विजयः परावृत्तिर्भवति । सवासनेति व्युपसर्गार्थः । दुष्टस्वभावोऽप्युत्तमस्वभावो भवतीत्यर्थः ।

किन्तु शंका यह होती है कि, प्रतिबन्ध विद्यमान रहते हुए केवल इस स्तोत्र का पाठ करने मात्र से ही इतना सब कुछ कैसे प्राप्त हो जायेगा ? तो इस शंका का समाधान आपश्री **मुररिपुश्च सन्तुष्यति** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भगवान को यहाँ 'मुररिपु' नाम से संबोधित करने का तात्पर्य यह है कि, जैसे मुरदैत्य दोषरूप था एवं सोलह हजार कन्याओं को भगवत्सुख प्राप्त होने में प्रतिबन्धक बना हुआ था किन्तु भगवान ने उस प्रतिबन्धक का निराकरण करके उन कन्याओं को अंगीकार किया, ठीक वैसे ही इस स्तोत्र का पाठ करने से भी वे प्रतिबन्ध का निवारण करके उस पाठ करने वाले को भी अंगीकार करेंगे- यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने यहाँ 'मुररिपु' पद दिया है। इस पाठ का अन्य फ़ल आपश्री **स्वभाव विजयो भवेत्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। स्वभाव पर विजय प्राप्त करने का अर्थ है- स्वभाव का परिवर्तित हो जाना। और 'विजय' शब्द में प्रयुक्त 'वि' उपसर्ग का अर्थ है-समस्त वासनाओं सहित स्वभाव का परावृत्त हो जाना। तात्पर्य यह कि इस स्तोत्र का पाठ करने से दुष्टस्वभाव वाला भी उत्तमस्वभाव वाला बन जाता है।

नन्विदमनेकतपःसाध्यं कथमेतत्पाठमात्रादिति चेत्तत्राऽऽहुर्वदति वल्लभ इति । तेनाऽऽप्तवाक्यत्वेन प्रामाण्यमुक्तम् ।

किन्तु किसी को शंका यह होती है कि स्वभाव परावृत्त हो जाने की सिद्धि तो अनेक तप द्वारा सिद्ध होती है, केवल इस स्तोत्र का पाठ करने मात्र से ही ये सिद्धि कैसे प्राप्त हो जायेगी ? तो इसका उत्तर आपश्री अपने नाम का प्रमाण देते हुए **वदति वल्लभ** कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि, आपश्री ने स्वयं अपने नाम का उल्लेख करके इस बात की प्रामाणिकता कह दी है।

नन्वितः पूर्वं केनाऽप्यनुक्तत्वाद्भवदुक्तिमात्रेण कथं प्रामाण्यमिति चेत्तत्राऽऽहुः श्रीहरेरिति । साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तमसम्बन्धी यतः, अहमतो वदामीत्यर्थः । अत्राऽयमाशयः । साक्षात्स्वरूपसम्बन्धिनां स्वरूपं साक्षात्तत्सम्बन्धिन एव जानन्ति न त्वन्ये । श्रीकालिन्द्याः साक्षात्तत्सम्बन्धित्वं पूर्वं प्रकटमेवोपपादितम् । स्वातिरिक्तानां साक्षाच्छ्रीगोकुलेशसम्बन्धाभावात्साक्षात्तत्सम्बन्धिन्याः स्वरूपाज्ञानात्तदकथनम् । स्वस्य तु साक्षात्तादृशत्वात्तत्स्वरूपज्ञानात्तत्कथनमिति नाऽनुपपत्तिः काचित् ।

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचिता श्रीयमुनाष्टकविवृतिः सम्पूर्णा ।

किन्तु किसी को यह शंका होती है कि, इसके पूर्व किसी ने भी श्रीयमुनाजी के ऐसे माहात्म्य एवं ऐसे स्वरूप की बात नहीं बतायी है अतः केवल आचार्यचरणों के कहे मात्र से इसकी प्रामाणिकता कैसे मानी जा सकती है ? तो इसका समाधान आपश्री **श्रीहरेः** शब्द से कर रहे हैं। इससे आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि- चूँकि मैं साक्षात् पुरुषोत्तम से सम्बन्धित हूँ, इसलिये यह बात कह रहा हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि साक्षात् भगवत्स्वरूप से सम्बन्धितों का स्वरूप तो वही जान पायेगा, जो स्वयं भी साक्षात् भगवान से सम्बन्धित होगा, अन्य दूसरे नहीं जान पायेंगे। श्रीकालिन्दी का साक्षात् भगवत्स्वरूप से सम्बन्ध तो आचार्यचरणों ने पूर्व में ही स्पष्टतया कह दिया है और श्रीयमुनाजी के अतिरिक्त अन्य किसी को साक्षात् श्रीगोकुलेश का सम्बन्ध हुआ न होने के कारण अन्य दूसरे सभी साक्षात् भगवत्सम्बन्धी श्रीयमुनाजी के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, अतः वे श्रीयमुनाजी के स्वरूप का ऐसा वर्णन नहीं कर पायेंगे, जैसा आचार्यचरणों ने इस स्तोत्र में किया है। जबकि आचार्यचरण तो स्वयं साक्षात् भगवान से सम्बन्धित हैं अतः आपश्री को श्रीयमुनाजी के स्वरूप का भी पूर्णज्ञान है और इसलिये यदि वे इस स्तोत्रपाठ की महिमा सिद्ध कर रहे हों, तो इसमें कोई भी अप्रामाणिकता नहीं है।

यह श्रीविट्ठलेशविरचित श्रीयमुनाष्टकविवृति सम्पूर्ण हुई।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतं

श्रीयमुनाष्टकम्

श्रीहरिरायचरणप्रणीतं श्रीप्रभुचरणविवृतिटिप्पणम् ।

श्री कृष्णाय नमः । अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः श्रीयमुनाष्टकविवृतिं विरचयन्तः प्रथममाचार्यवर्यस्वरूपमेतत्सजातीयधर्मवत्त्वेन निरूपयन्तः स्वस्मिन्विवृतिकृतिशक्तिसिद्धये तत्कृपां प्रार्थयन्ति **विश्वोद्धारार्थमिति** । प्राकट्यप्रयोजनमेतम् । अत्र **विश्वपदं** सर्ववाचकम् । तदपि सङ्कुचितवृत्ति । "सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः" इतिवत् । तथा च, पुष्टिमार्गाङ्गीकृतानामेव जीवानामत्रोद्धार इति ज्ञेयम् ।

श्रीयमुनाष्टकम्

श्रीकृष्णाय नमः। अब श्रीमत्प्रभुचरण श्रीयमुनाष्टकविवृति की रचना करते हुए सर्वप्रथम आचार्यचरणों के स्वरूप को श्रीयमुनाजी के सजातीयधर्मतया निरूपित करते हुए अपने आप में विवृति करने की शक्ति प्राप्त करने की सिद्धि के लिये आचार्यचरणों से उनकी कृपा प्राप्त करने हेतु **विश्वोद्धारार्थम्** इत्यादि शब्दों से प्रार्थना कर रहे हैं। विश्व का उद्धार करना- यह आचार्यचरणों के प्राकट्य लेने का प्रयोजन है। यद्यपि यहाँ 'विश्व' पद सभी का वाचक है तथापि इसे संकुचित-अर्थ में मानना चाहिए, जैसा संकुचित-अर्थ "सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः" इस वाक्य में है। तात्पर्य यह है कि, यद्यपि पिछले वाक्य "सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः" से आपाततः यह द्योतित होता है कि, जितने भी ब्राह्मण हैं उन्हें भोजन कराईये परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि विश्व में जितने ब्राह्मण हैं उन सभी को भोजन कराने को कहा जा रहा है अपितु वहाँ संकुचित-अर्थ करते हुए यह समझना चाहिए कि, भोज में जिन-जिन ब्राह्मणों को निमन्त्रण दिया गया है अथवा जितने अभ्यागत ब्राह्मण हैं, उन्हें भोजन कराईये। ठीक उसी प्रकार यहाँ भी विश्व पद का अर्थ संपूर्णविश्व के उद्धारार्थ नहीं अपितु आचार्यचरण केवल पुष्टिमार्ग में अंगीकृत हुए जीवों के उद्धार के लिये ही प्रकट हुए हैं- इस संकुचित अर्थ में समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि, आचार्यचरण केवल पुष्टिमार्ग में अंगीकार हुए जीवों का उद्धार करने हेतु ही भूतल पर प्रकट हुए हैं।

अयं च पुष्टिप्रभोः श्रीयमुनायाः श्रीमदाचार्यचरणानां च समानो धर्मः । भगवता व्रजस्थानां श्रीयमुनया अपि प्रभुसम्बन्धसम्पादनेन प्रभुप्राकट्यकरणेन च तासामेवाऽस्मत्स्वामिभिरपि तथाविधानामिदानीन्तनानामुद्धारात् । विशेषस्त्वेतावानेव । भगवता श्रीयमुनया च लीलासृष्टिस्थानामेव तथाकरणम् । इदानीन्तनानां प्रभुपारोक्ष्येऽस्मत्प्रभुभिरिति । एवं च सति त्रयाणां सजातीयधर्मवत्त्वे च सिद्धम् ।

भगवान् विरहं दत्वा भाववृद्धिं करोति हि ।
तथैव यमुना स्वामिस्मारणात्स्वीयदर्शनात् ।।१।।
अस्मदाचार्यवर्यास्तु ब्रह्मसम्बन्धकारणात् ।
तापक्लेशप्रदानेन निजानां भाववर्द्धकाः ।।२।।

जानना चाहिए कि, पुष्टिप्रभु, श्रीयमुनाजी एवं श्रीमदाचार्यचरणों के धर्म परस्पर समान हैं। क्योंकि भगवान ने व्रजगोपिकाओं का उद्धार किया, श्रीयमुनाजी ने भी प्रभुसम्बन्ध का संपादन करके एवं प्रभु को प्रकट करवा कर गोपिकाओं का ही उद्धार किया एवं उसी प्रकार हमारे स्वामी श्रीमदाचार्यचरणों ने भी उसी भगवल्लीला सम्बन्धी आधुनिकजीवों का उद्धार किया। अंतर केवल इतना है कि, भगवान एवं श्रीयमुनाजी ने लीलासृष्टि के जीवों का ही उद्धार किया और प्रभु की अनवतारदशा में श्रीमदाचार्यचरणों ने आधुनिकजीवों का उद्धार किया है। इस प्रकार से इन तीनों के धर्म सजातीय होने से सिद्ध यह होता है कि.........

भगवान विरह देकर भाववृद्धि करते हैं,
उसी प्रकार श्रीयमुनाजी अपने दर्शन द्वारा स्वामि-भगवान का स्मरण करवा के भाववृद्धि करती हैं, ॥1॥
और हमारे आचार्यवर्य तो ब्रह्मसम्बन्ध करवा कर, तापक्लेश प्रदान करके निजजनों के भाववर्धक हैं ॥2॥

उद्धारोऽत्र भगवदासक्तिसम्पादनेन प्रपञ्चात्पृथक्करणम् । तेन सर्वात्मभावदानमेव स इति बोध्यम् । एवकारोऽत्र प्रयोजनान्तराभावाय । एतेन मायावादखण्डनब्रह्मवादस्थापनकर्ममार्गप्रवर्त्तनादिकमानुषङ्गिकमिति सूचितम् । स्वरूपमाहुः – आविर्भूतेति । आविर्भूतो व्रजजनहृदयेभ्यो लीलाकरणार्थं यो वृन्दावनप्रियः सदानन्दस्तद्रूपास्त इत्यर्थः । यथा भगवान् लीलाप्राकट्यायैव रसात्माऽऽविर्भूतस्तथैतेऽपि श्रीभागवतविवृतिप्रकटीकरणेन तत्प्राकट्यार्थमेवाऽऽविर्भूता इति भावः ।

आचार्यचरणों द्वारा उद्धार करने का अर्थ है- आपश्री जीव में भगवदासक्ति का संपादन करके उसे इस प्रपञ्च से दूर कर देते हैं। इसलिये उद्धार का अर्थ जीव को सर्वात्मभाव का दान करना ही है। अतएव 'विश्वोद्धारार्थमेव' शब्द में प्रयुक्त हुए 'एव' शब्द से ज्ञात होता है कि, इस उद्धार के अतिरिक्त आचार्यचरणों के प्राकट्य लेने का अन्य कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। इससे यह भी सूचित होता है कि, मायावाद का खण्डन करना, ब्रह्मवाद का स्थापन करना, कर्ममार्ग का प्रवर्तन करना आदि कार्य तो आपश्री के प्राकट्य के गौणप्रयोजन हैं, मुख्य प्रयोजन तो पुष्टिजीवों का उद्धार करना ही है। अब **आविर्भूतवृन्दावनप्रियाः** इत्यादि शब्दों द्वारा श्रीप्रभुचरण आचार्यचरणों का स्वरूप बता रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, लीला करने के लिये व्रजजनों के हृदय से बाहर आविर्भूत हुए जो सदानन्द वृन्दावनप्रिय-भगवान हैं, आचार्यचरण उनके ही स्वरूप हैं। जैसे भगवान अपनी लीला प्रकट करने के लिये ही रसरूप से आविर्भूत हुए, उसी प्रकार आचार्यचरण भी श्रीभागवतविवृति प्रकट करने के द्वारा भगवल्लीला को भूतल पर प्रकट करने के लिये ही आविर्भूत हुए हैं- यह भाव है।

अथवा, वृन्दावनमेव प्रियं यासाम्, भगवद्विरहे तदर्थमपि तदपरित्यागात् । ताः स्वामिन्यः । आविर्भूताश्च तास्तथाभूताः, ता एवैत इत्यर्थः । स्वामिनीभावेन [१]प्राकट्यदशायां सेवादिकरणात्तद्भावभावनेन च तद्रूपत्वमिति भावः ।

अथवा तो 'वृन्दावनप्रियाः' का दूसरा अर्थ भी कर लें। वह यों कि- वृन्दावन ही प्रिय जिनको है, ऐसी व्रजगोपिकाएँ 'वृन्दावनप्रिया' हैं, जिन्होंने भगवद्विरह होने पर भी भगवान के लिये भी वृन्दावन का त्याग नहीं किया; ऐसे वृन्दावनप्रिया-स्वामिनीरूपाओं के स्वरूप से ही आविर्भूत होने वाले आचार्यचरण हैं- यह अर्थ है। जब आपश्री में स्वामिनीभाव प्रकट होता है तब आपश्री स्वामिनीभाव से प्रभुसेवा करते हैं और अतिरिक्त समय में स्वामिनीभाव की भावना का चिंतन करते रहते हैं अतः आपश्री स्वामिनीभावरूप हैं- यह भाव है। **यहाँ से** श्रीहरिरायचरण आगे की पाँच पंक्तियों द्वारा यह बतायेंगे कि भगवान, श्रीयमुनाजी एवं आचार्यचरणों में समानता क्या और कैसे है।

वस्तुतो भावात्मा भगवान्, 'रसो वै सः' इति श्रुतेः । तदास्यरूपत्वादेतेऽपि तथा । तथा श्रीयमुनाऽपि द्रवीभूतरसात्मकतत्स्वरूपत्वेन । तत्र यथा भगवतीव श्रीयमुनायामपि स्वामिनीभावेन स्त्रीरूपत्वं, तेन च तत्र सर्वाऽपि भगवल्लीला, भगवद्भावेन च भगवत्त्वं, विरहे भगवत्स्वरूपतद्दर्शनेन स्वामिनीसुखाय, तथाऽत्राऽपि प्राकट्यदशायां स्वामिनीभावेन सेवादिकृतौ तद्रूपत्वं, भगवद्भावेन भगवद्रूपत्वं, विरहे तासामन्तरा[२]स्यप्राकट्येन स्वरूपसम्बन्धिसुखदानायेति बोध्यम् । अत एवोक्तं श्रीवल्लभाष्टके –"यस्मादानन्ददं श्रीव्रजजननिचय" इति ।

वास्तव में तो बात यह है कि भगवान भावस्वरूप हैं, जैसा कि 'परब्रह्म ही निश्चितरूप से रस हैं (तैत्ति0उप0 2/7/1)' इस श्रुति में कहा भी गया है; और ऐसे रसरूप भगवान के मुखारविन्दरूप होने के कारण स्वयं आचार्यचरण भी रसरूप हैं। उसी प्रकार श्रीयमुनाजी भी द्रवीभूत रसात्मिका होने के कारण रसरूप ही हैं। जैसे, भगवान में पुंभावात्मक भगवत्स्वरूप भी है एवं स्त्रीभावात्मक स्वामिनीस्वरूप भी, उसी प्रकार श्रीयमुनाजी में भी स्वामिनीभाव के कारण स्त्रीरूपता भी है और भगवद्रूपता भी; क्योंकि श्रीयमुनाजी में निरन्तर भगवल्लीला होती/चलती रहती है और वे निरन्तर भगवद्भाव करती रहती हैं अतः उनमें भगवद्रूपता भी है क्योंकि भगवद्विरह के समय में स्वामिनी-श्रीव्रजगोपिकाओं को स्वयं अपने श्यामस्वरूप के दर्शन में भगवत्स्वरूप के दर्शन करवा कर (श्रीयमुनाजी का स्वरूप ठीक प्रभु जैसा ही है इसलिये) स्वामिनी-श्रीव्रजगोपिकाओं को सुख

---

[१] भगवदास्यरूपस्य आचार्यरूपेण इति विशेषः । अ. [२] तासामन्तरा स्वप्राकट्येनेति ग.

भी देती हैं अतः उनमें भगवद्रूपता भी है; ठीक उसी प्रकार प्राकट्यदशा में स्वामिनीभाव से भगवत्सेवादि करने के कारण आचार्यचरण स्वामिनीरूप हैं, और निरन्तर भगवद्भाव करते रहने के कारण स्वयं भगवद्रूप भी हैं और भगवद्विरह के समय में चूँकि व्रजगोपिकाओं के अन्तःकरण में भगवान का मुखारविन्द प्रकट होता है और भगवान के मुखारविन्दस्वरूप तो आचार्यचरण ही हैं अतः इस ढंग से आचार्यचरण उन्हें स्वरूपसम्बन्धिसुख भी देते हैं- यह समझना चाहिए। अतएव इसी बात को श्रीवल्लभाष्टक में आचार्यचरणों के लिये 'आचार्यचरण श्रीव्रजजनों को भगवदानन्द प्रदान करने वाले हैं(5)' यों कहा गया है।

यद्वा । आविर्भूतं स्वस्वहृदयेभ्यो बहिःप्रकटीभूतं यद्वृन्दावनं तत्प्रियं यासाम् । अन्तःस्थितावपि बहिःप्राकट्यस्यैवाऽभिलषितत्वात् । अत एव 'वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्' (१०–२१–१०) इति ताभिर्गीतम् । तथाच तादुक्तद्रूपत्वादस्मत्प्रभवोऽपि[१] लीलाविष्करणाभिलाषिण इति ज्ञेयम् । तातचरणा इति सम्बन्धनिरूपणं तु पुष्टिमार्गीयाचार्यकरुणासिद्धिर्यथाकथञ्चित्सम्बन्धसिद्ध्यैव भवति न त्वन्यसाधनैरिति बोधनाय ।

देहेन भावतो वाऽपि सम्बन्धः फलसाधकः ।
पुष्टिमार्गे नाऽतिरिक्तं साधनं साधकं ततः ।।१।।
नाऽयमात्मेत्युपनिषन्निषेधति यतोऽखिलम् ।
नन्दादयो देहजेन प्रादुर्भावेन गोपिकाः ।।२।।

अथवा तो **आविर्भूतवृन्दावनप्रियाः** का एक और भी अर्थ कर लें। यहाँ 'वृन्दावन' शब्द का अर्थ है- भगवल्लीला ; यानि वृन्दावन के बाहर प्रकट होने का अर्थ है- भगवल्लीला का अपने-अपने हृदय से बाहर प्रकट होना। वह यों कि- अपने-अपने हृदय से बाहर आविर्भूत हुआ वृन्दावन जिन व्रजगोपिकाओं को प्रिय है, वे गोपिकाएँ 'आविर्भूतवृन्दावनप्रिया' हैं। क्योंकि भले ही गोपिकाओं के अन्तःकरण में संपूर्ण भगवल्लीला चलती रहती है, तथापि उनकी अभिलाषा तो यही रहती है कि वो लीला बाहर प्रकट हो। अतएव गोपिकाओं ने वृन्दावन के लिये 'अरी सखी ! यह वृन्दावन श्रीकृष्ण के चरणचिन्हों से चिन्हित हैं अतः यह पृथ्वी की कीर्ति को वैकुण्ठलोक तक बढ़ा रहा है(श्री0भा0 10-21-10)' यों गाया भी है; उसी प्रकार चूँकि श्रीमदाचार्यचरण भी स्वामिनी-व्रजगोपिकारूप हैं अतः हमारे आचार्यचरणों को भी अपने अन्तःकरण से वृन्दावन बाहर प्रकट करके भगवल्लीला को बाहर प्रकट करने की अभिलाषा रहती है अतः श्रीप्रभुचरण श्रीमदाचार्यचरणों को 'आविर्भूतवृन्दावनप्रियाः' कह कर संबोधित कर रहे हैं। आपश्री ने श्रीमदाचार्यचरणों को 'तातचरण' कह कर उनसे अपने संबंध का निरूपण यह बताने के लिये किया है कि, पुष्टिमार्गीय आचार्यचरणों की करुणा तो जब आचार्यचरणों से किसी न किसी प्रकार से संबंध हो जाय, तब ही प्राप्त हो सकती है, अन्य किसी साधनों द्वारा नहीं।

> या तो देह द्वारा अथवा तो भाव द्वारा भगवान से हुआ सम्बन्ध फ़लसाधक होता है,
> पुष्टिमार्ग में इन दोनों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन भगवत्प्राप्ति में साधक नहीं बन सकता ॥1॥
> चूँकि 'नायमात्मा' यह उपनिषद् की श्रुति इसके अतिरिक्त अन्य समस्त साधनों का निषेध करती है।
> इसी कारण नन्द आदि का भगवान से सम्बन्ध देह से उत्पन्न होने के कारण हुआ एवं
> भगवान का व्रज में प्रादुर्भाव होने के कारण गोपिकाओं का भगवान से सम्बन्ध हुआ ॥2॥

मयीति तत्कृपायोग्यत्वबोधनाय । सर्वसाधनराहित्येन केवलं तदीयत्वाद्[२] अत एवैकवचनम्, अत एव सप्तश्लोक्यां 'तनोतु निजदासस्य सौभाग्यम्'इति प्रार्थना । विट्ठल इति नामग्रहणं नाम्नाऽपि तद्योग्यताद्योतनाय । ज्ञानशून्यानुग्राहकत्वं हि नामार्थः । तस्य चाऽऽचार्यकरुणामन्तरेणासिद्धेस्तत्कृपयैव सामर्थ्यरूपया तादृशजनानुग्राहकत्वसिद्धिः । तदर्थमाचार्यवर्याणामेव प्रभुणाऽऽविर्भावितत्वात् । अस्मिन्मार्गे कृपैव साधनं फलं चेति बोधनाय कृपयन्त्वित्यभिहितम् । इदं साधनफलरूपत्वञ्च 'कृपायुक्तस्य तु यथा सिद्ध्येदि'ति 'कृपानन्दः सुदुर्लभ' इति निबन्धनिरोधलक्षणग्रन्थीयवाक्याभ्यामवमन्तव्यम् । एवमेकेन पद्येन प्रभुभिः स्वाभीष्टप्रार्थनाप्रसङ्गेन निजाचार्यस्वरूपं निरूपितम् ।

प्रभुचरण आज्ञा करते हैं- '**मयि** अर्थात् तातचरण **मुझ पर** कृपा करें'; जिससे ज्ञात होता है कि आपश्री

---

१. तादृग्रूपत्वादिति **ग–व.** २. तन्मयत्वादिति **ग–घ.**

आचार्यचरणों की कृपा के सर्वथा योग्य हैं। यद्यपि अपना नाम का उल्लेख करने में बहुवचन का प्रयोग होता है परन्तु प्रभुचरणों ने एकवचन का ही प्रयोग किया है क्योंकि कदाचित् बहुवचन का प्रयोग करने से अपने लिये कुछ गौरव या सम्मानसूचकता जैसे भाव की प्रतीति होती है अतः आपश्री अपनी दीनता प्रकट करने के लिये अपने आप को सर्वसाधनरहित होकर केवल एक आचार्यचरणों में ही संपूर्ण निष्ठा रखने वाले बताना चाह रहे हैं, अतएव आपश्री ने अपना नामोल्लेख 'विट्ठल' कह कर एकवचन का ही प्रयोग किया है। इसी दीनता का सूचन आपश्री ने सप्तश्लोकी में भी आचार्यचरणों से 'मुझ निजदास के सौभाग्य को बढ़ाएँ(2)' यों अपने आप को 'दास' कह कर प्रार्थना करते हुए किया है। आपश्री ने अपना नाम 'विट्ठल' अपनी योग्यता बताने के भी लिये लिखा है। आपश्री के नाम का अर्थ 'ज्ञानशून्यों पर अनुग्रह करने वाले' होता है। और ऐसों पर अनुग्रह आचार्यचरणों की कृपा के बिना सिद्ध नहीं हो सकता अतः आचार्यचरणों की कृपारूप सामर्थ्य द्वारा ही आपश्री ज्ञानशून्यों पर अनुग्रह कर सकेंगे- यह आपश्री का भाव है। क्योंकि आखिरकार ज्ञानशून्यों पर ही तो अनुग्रह करने के लिये प्रभु ने आचार्यचरणों को आविर्भावित किया है। इस पुष्टिमार्ग में कृपा ही साधन है और कृपा ही फ़ल है- यह बताने के लिये आपश्री **कृपयन्तु** अर्थात् 'मुझ पर कृपा करें' यों कह रहे हैं। कृपा की साधनरूपता एवं फ़लरूपता आचार्यचरणों के क्रमशः 'सभी को इस भक्तिमार्ग में फलदायक अधिकार नहीं मिल जाता परन्तु जिस पर भगवत्कृपा होती है, उसी को भक्ति के मुख्यफल की प्राप्ति होती है(शा0प्र0-226)' एवं 'संपूर्ण आनन्दमय प्रभु का कृपानन्द प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है(नि0ल0-8)' इन निबन्धप्रकाशटीका एवं निरोधलक्षण के वाक्यों द्वारा समझ लेनी चाहिए। इस प्रकार इस पद्य के द्वारा प्रभुचरणों ने मनोवांछित प्रार्थना करने के बहाने निजाजार्य-श्रीआचार्यचरणों का स्वरूप निरूपित किया है।

विविधलीलोपयोगिनीमिति । आचार्यचरणानां हि प्रभुलीलासम्बन्धोऽभिलषितः । अत एवाऽग्रे तनुनवत्वप्रार्थनम् । स च तादृक्तत्सम्बन्धिपरितोषणेन भवति । तच्च यथास्थितरूपनिरूपणेन स्तुत्येति श्रीयमुनाया लीलासम्बन्धित्वबोधनाय विविधलीलोपयोगिनीमित्युक्तम् । विविधाः स्वरूपगुणभेदेन सर्वात्मभावकामभावादिभेदेन[१] शास्त्रीयाशास्त्रीयप्रकाराभ्यां नानाप्रकारा या भगवतः स्वामिनीभिः सह लीलास्तासु अलौकिकशरीरसम्पादकत्वेन प्रभुसम्बन्धसम्पादनेन भावजनकत्वादिभिश्च तथेत्यर्थः ।

अब हम श्रीयमुनाजी के लिये प्रभुचरणों ने जो **विविधलीलोपयोगिनी** विशेषण कहा है, उसका अर्थ कर रहे हैं। आचार्यचरणों को प्रभुलीला से सम्बन्धित होना अभिलषित हैं, और इसी कारण आगे आपश्री ने तनुनवत्व की प्रार्थना भी की है। और प्रभुलीला से सम्बन्ध तो जो प्रभुलीला से सम्बन्धित हैं, उनको प्रसन्न करने से ही हो सकता है, और वे प्रसन्न तब होंगे, जब उनके यथावत् स्वरूप का निरूपण करके उनकी स्तुति की जायेगी अतः प्रभुचरण श्रीयमुनाजी का भगवल्लीला से सम्बन्ध बताने के लिये उन्हें भगवल्लीला में 'विविधलीलोपयोगिनी' कह कर उनकी स्तुति कर रहे हैं। श्रीयमुनाजी प्रभु की विविधलीलाओं में उपयोगिनी हैं- यह कहने का तात्पर्य यह है कि, स्वरूप-गुण के भेद से अथवा सर्वात्मभाव से अथवा तो कामभाव आदि के भेद द्वारा शास्त्रीय-अशास्त्रीय अनेक प्रकार की भगवान की व्रजस्वामिनियों के संग जो लीलाएँ हैं, उन लीलाओं में श्रीयमुनाजी अलौकिकशरीर संपादन करने के द्वारा प्रभुसम्बन्ध कराती होने के कारण एवं उनमें भगवद्भाव उत्पन्न कराती होने के कारण भगवान की विविधलीलाओं में उपयोगिनी हैं।

कालिन्दीमिति । यद्यपि यमुनामिति वाच्यं तद्भिन्नत्वादस्याः,

श्रीप्रभुचरणों ने अपनी टीका में "भगवताऽष्टविधैश्वर्यं कालिन्द्यै दत्तम्(भगवान ने अपने अष्टविध ऐश्वर्य कालिन्दी को दिये हैं)" यों लिखा है। इसके आगे श्रीहरिरायचरण इसी वाक्य का विवेचन कर रहे हैं। आगे आपश्री यह विचार कर रहे हैं कि, श्रीप्रभुचरण यद्यपि विवृति तो श्रीयमुनाष्टकम् की कर रहे हैं किन्तु आरंभ में ही उन्होंने उन्हें 'श्रीयमुनाजी' नाम से संबोधित न करके उनके विशेषण 'कालिन्दी' नाम से क्यों संबोधित किया ? इसको समझने के लिये कुछ बातें यहीं से जान लेनी आवश्यक होंगी तभी श्रीहरिरायचरणों की पंक्ति सरलतापूर्वक समझ में आयेगी। श्रीहरिरायचरणों को यह मुद्दा इसलिये उठाना पड़ा क्योंकि 'कालिन्दी' नाम का प्रयोग करने

---

[१] भेदेन चेति ख.

से किसी को भ्रम हो सकता है कि, श्रीप्रभुचरण कौन सी 'कालिन्दी' के लिये कह रहे हैं ? क्योंकि द्वारकालीला में भगवान की आठ पटरानियाँ हैं, जिसमें से चौथी पटरानी का नाम भी 'कालिन्दी' ही है और वे भी सूर्यपुत्री हैं(देखें श्रीभागवत 10/58/20); ठीक इसी प्रकार श्रीयमुनाजी भी भगवान की चतुर्थप्रिया हैं एवं उनका भी एक नाम कालिन्दी है। तो, किसी को यह भ्रमणा हो सकती है कि, श्रीप्रभुचरण उक्त पंक्ति में द्वारकालीला वाली चौथी पटरानी कालिन्दी के लिये कह रहे हैं या कि फिर श्रीयमुनाजी के लिये ! यहाँ यह जानना आवश्यक होगा कि श्रीयमुनाजी जीव के कलि/दोषों को द्यति/मिटा देती हैं, इसलिये उन्हें 'कालिन्दी' कहा जाता है। श्रीहरिरायचरण आगे यह बता रहे हैं कि, प्रभुचरणों को यहाँ श्रीयमुनाजी के लिये ऊपर कही दोनों बातें बतानी हैं, यानि वे सूर्यपुत्री हैं एवं कलि/दोषों को मिटाने वाली हैं, यह दोनों बातें बतानी हैं अतः आपश्री ने उन्हें केवल 'श्रीयमुनाजी' न कहकर 'कालिन्दी' नाम से संबोधित किया ताकि दोनों स्वरूपों का समावेश हो सके। इसके लिये आगे आपश्री ने श्रीभागवत का 'देवकीजठरभू(श्रीभागवत- 10/35/23)' एवं 'देवकीसुतपदाम्बुज' इत्यादि वाक्यों का उदाहरण भी दिया है, जिन वाक्यों में गोपिकाओं ने भगवान को 'देवकीपुत्र' कहा है। इस उदाहरण को देने का तात्पर्य यह है कि, जैसे भगवान वसुदेव-देवकी के भी पुत्र हैं एवं नन्द-यशोदा के भी। यानि भगवान में देवकीपुत्रत्व भी है एवं यशोदापुत्रत्व भी ; ठीक इसी प्रकार श्रीयमुनाजी में भी दोनों बातें विद्यमान हैं, वे सूर्यपुत्री भी हैं एवं कलि/दोषों को मिटाने वाली कालिन्दी भी। श्रीहरिरायचरणों का कथन यह है कि,श्रीप्रभुचरणों को श्रीयमुनाजी में उक्त दोनों बातें बतानी हैं अतः आपश्री ने यहाँ श्रीयमुनाजी को 'कालिन्दी' कह कर संबोधित किया। अब प्रभुचरणों ने श्रीयमुनाजी को जो 'कालिन्दी' कहा है, उसका भावार्थ समझें। यद्यपि प्रभुचरणों को सीधे-सीधे 'श्रीयमुनाजी' कह कर ही संबोधित करना चाहिए था क्योंकि कालिन्दी तो श्रीयमुनाजी से भिन्न प्रभु की चौथी पटरानी का नाम है, अतः विवृति के आरंभ में ही 'कालिन्दी' नाम आने से किसी को यह भ्रम हो सकता है कि, कहीं आपश्री द्वारकालीला वाली प्रभु की आठ पटरानियों में से चौथी पटरानी कालिन्दी के लिये तो नहीं कह रहे !!!

तथापि कालिन्दीमूलरूपत्वं [1]'तस्यां बोधयितुं भगवति 'देवकीजठरभूरि'तिवाक्यात् 'देवकीसुतपदाम्बुजे'तिवाक्याच्च देवकीसुतत्वोक्तिवदत्राऽपि कालिन्दीत्वोक्तिरितिवेद्यम् । किञ्च । प्रभुसम्बन्धप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तये वा तथोक्तिः । कलिं दोषं द्यति खण्डयतीति कलिन्दस्तस्याऽपत्यमिति तादृग्धर्मवत्त्वेन भक्तप्रतिबन्धनिवर्त्तकत्वात् । अत एवाऽग्रे 'हरिप्रियकलिन्दये'त्यत्र तथैव व्याख्यातं प्रभुभिः । अनेन कालिन्दीपदस्याऽस्यां न [2]धर्मवाचकत्वेन नामत्वं किन्तु धर्मविशिष्टतद्वाचकत्वेन विशेषणत्वमिति सूचितम् ।

किन्तु यह समझें कि सबसे पहले तो प्रभुचरणों को यहाँ श्रीयमुनाजी में कालिन्दी का मूलस्वरूप(सूर्यपुत्री वाला)भी बताना है, इस कारण जैसे श्रीभागवत में भगवान को गोपिकाओं ने 'देवकीजठरभू(श्रीभागवत- 10/35/23)' एवं 'देवकीसुतपदाम्बुज' इत्यादि नामों से संबोधित किया गया है, जिनसे यह बोध होता है कि भगवान में देवकीपुत्र होना एवं यशोदापुत्र होना- यह दोनों बातें हैं ; ठीक इसी प्रकार आपश्री को श्रीयमुनाजी में सूर्यपुत्री वाला कालिन्दी का मूलस्वरूप भी बताना है, इसलिये आपश्री ने उन्हें 'कालिन्दी' कह कर संबोधित किया। साथ ही साथ 'कालिन्दी' नाम से संबोधित करने का दूसरा आशय यह भी है कि, श्रीयमुनाजी प्रभुसम्बन्ध में होने वाले दोषों की निवारक भी हैं क्योंकि 'कलिंन्द' शब्द का अर्थ होता है- जो कलि/दोषों का निवारण करे, उसे 'कलिन्द' कहते हैं ; अब कलिन्द की संतान होने के नाते श्रीयमुनाजी में भी यह दोषनिवारण करने की सामर्थ्य तो आनी ही है अतः कालिन्दी-श्रीयमुनाजी भी भक्तों के प्रतिबन्धों की निवर्तक सिद्ध हुईं, सो इसलिये भी प्रभुचरण उन्हें 'कालिन्दी' शब्द से संबोधित कर रहे हैं। इसी कारण आपश्री ने आगे आने वाले 'हरिप्रियकलिन्दया(5)" शब्द से भी श्रीयमुनाजी के लिये इसी प्रकार का व्याख्यान किया है। उपरोक्त विवेचनों से यह ज्ञात होता है कि आपश्री ने द्वारकालीला वाली चौथी पटरानी कालिन्दी के धर्म श्रीयमुनाजी में बताने के लिये उन्हें 'कालिन्दी' नहीं कहा परन्तु आपश्री को ऊपर कहा जीवों के दोषनिवारण करने वाला धर्म भी श्रीयमुनाजी में बताना है अतः यह विशेषण देकर संबोधित किया है।

---

[1] अस्यामिति ख. [2] धर्मिवाचकत्वेनेति ख–ङ.

स्तोतुकामा इति काम एव [1]पूर्वं निरूपितः । अग्रे तु स्वरूपमाहात्म्यस्फूर्त्या स्तुतिक[2]णमशक्यमिति 'स्तुतिं तव **करोति कः**' इत्यनेन निरूपणीयमिति भावः । **श्रीगोकुलेश** इति । पुष्टिमार्गीयो लोकवेदाप्रसिद्धः पुरुषोत्तम एतत्पदेनोक्तः । तत्र लीलासृष्टिप्रवेशमन्तरा गमनाभावेन साक्षात्कारासम्भवात्परोक्ष[3]स्थितैर्नमनमेव स्वदैन्याविष्कृतये कार्यं यथा, तथा लीलासृष्टिप्रवेशमन्तराऽत्राऽपीति भावः । अत एवाऽऽचार्यवर्यैः- 'नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्त्वतामि'ति द्वितीयस्कन्धीयपद्यविवृतौ 'गमनाभावान्नमनाधिकार' इत्यभिहितम् ।

प्रभुचरणों ने आचार्यचरणों को सबसे पहले तो केवल '**स्तोतुकामाः**(*श्रीयमुनाजी की स्तुति करने की कामना रखने वाले*)' ही कहा क्योंकि इस अष्टक की रचना करते-करते जब आचार्यचरणों को श्रीयमुनाजी के स्वरूपमाहात्म्य की स्फूर्ति होती चली गयी, तब आगे उन्होंने 'हे श्रीयमुनाजी ! आप जैसी की स्तुति भी करने में कौन समर्थ है ?(8)' यह भी कहा ; इसलिये प्रभुचरणों ने आचार्यचरणों की आगे की इस बात का ध्यान रखते हुए आपश्री को आरंभ में केवल 'स्तोतुकामाः' ही कहा अर्थात् श्रीयमुनाजी का माहात्म्य इतना अधिक है कि कोई उसका वर्णन कर ही नहीं सकता अतः उनसे उनकी स्तुति करने की तो केवल कामना ही की जा सकती है- यह अर्थ है। अब हम **श्रीगोकुलेश** इत्यादि शब्दों का अर्थ कर रहे हैं। **श्रीगोकुलेश** पद से आपश्री ने पुष्टिमार्गीय लोकवेदातीत पुरुषोत्तम ही कहे हैं। अब भगवल्लीलासृष्टि में प्रवेश हुए बिना तो ऐसे पुष्टिपुरुषोत्तम का साक्षात्कार होना असम्भव है अतः भगवल्लीला के परोक्ष में रहने वाले जीव तो श्रीगोकुलेश-पुष्टिपुरुषोत्तम को नमन ही कर सकते हैं ताकि वे जीव में प्रकट हुई दीनता से प्रसन्न होकर उन्हें लीलासृष्टि में स्थान दे दें; ठीक वैसे ही श्रीयमुनाजी के स्वरूप को भी लीलासृष्टि में प्रवेश किये बिना नहीं जाना जा सकता अतः आरंभ में आचार्यचरणों ने श्रीयमुनाजी को नमन ही किया है ताकि आपश्री की दीनता से प्रसन्न होकर वे लीलासृष्टि में प्रवेश पा सकें- यों श्रीप्रभुचरण अपने अभिप्राय से आचार्यचरणों की दीनता को दिखाना चाह रहे हैं। इसी कारण 'श्रीशुकदेवजी ने राजा परीक्षित् से कहा- जो भक्तवत्सल हैं, और भक्तिहीन लोग जिनकी छाया तक को भी नहीं छू सकते, जिनके समान किसी का भी ऐश्वर्य नहीं हैं, मैं ऐसे भगवान-श्रीकृष्ण को नमन करता हूँ(श्री०भा-2/4/14)' इस द्वितीयस्कन्धवाक्य की विवृति में आचार्यवर्यों ने "भगवान तक गति नहीं हो सकती अतः केवल नमन का ही अधिकार है" यह कहा है।

आदाविति । अग्रे तु '**मम मनः सुखं भावय**', '**ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमि**'त्यादि प्रार्थनीयमिति भावः । **नमनमेवेत्येवकारः पूर्वमग्रिमप्रार्थनीयास्फूर्त्या तदतिरिक्तव्यवच्छेदार्थः** ।

आदौ शब्द का अर्थ कर रहे हैं। इससे प्रभुचरण यह बताना चाह रहे हैं कि, आचार्यचरणों ने आदि/आरंभ में श्रीयमुनाजी को केवल नमन ही किया किन्तु इसके आगे की पंक्तियों में तो "हे श्रीयमुनाजी ! मेरे मन को सुख मिले इसका विचार आप करें(4) एवं "हे श्रीयमुनाजी ! मुझे आपकी सन्निधि से तनुनवत्व की प्राप्ति हो((7)" इत्यादि वाक्यों से श्रीयमुनाजी से प्रार्थना भी की है, इसका तात्पर्य यह है कि, **नमनमेव**(नमनम्+एव) में प्रयुक्त हुआ **एव** शब्द यह द्योतित करता है कि, आरंभ करते समय तो आचार्यचरणों को नमन करने के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव की स्फूर्ति नहीं हुई थी, किन्तु अन्यान्य भाव तो जैसे-जैसे आपश्री आगे स्तुति करते गये, वैसे-वैसे जाग्रत होने लगे अतः आपश्री ने आरंभ में नमन के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहा।

अष्टविधैश्वर्यमिति । **भगवता दत्तमिति** । अत्राऽयं भावः । भगवान हि लोके स्वस्य रसात्मकं रूपं तादृशीं लीलां च प्रकटयितुं प्रादुर्भूय सर्वात्मभाववतीषु तथा लीलां चकार । तत्र तदधीनत्वमङ्गीकृत्य सर्वाऽपि कृतिस्तदतिरिक्तास्फूर्त्तिश्च । अन्यथा रसात्मकत्वं न स्यात् । एवं सति सर्वमेतदैश्वर्यविरोधीति लीलासृष्टौ तत्कार्यार्थं लीलोपयोगिन्यां स्वामिनीभगवत्सम्बन्धिन्यां श्रीयमुनायां तत्स्थापितवानिति भगवता दत्तमित्युक्तम् । स्वयं तु रसात्मकत्वेन तदधीनस्तदतिरिक्तस्फूर्त्तिरहितश्चेति ।

अब **भगवता अष्टविधैश्वर्यं.........दत्तम्** (*भगवान ने कालिन्दी को अष्टविध ऐश्वर्य दिये*) इत्यादि शब्दों का अर्थ समझें। अष्टविध ऐश्वर्य कौन-कौन से हैं यह आगे बताया जायेगा। यहाँ भाव यह है कि, भगवान इस लोक में अपने रसात्मकस्वरूप एवं अपनी रसात्मिका लीला को प्रकट करने के लिये प्रादुर्भूत हुए और सर्वात्मभाव प्राप्त कर चुकीं व्रजगोपिकाओं के संग ऐसी रसात्मक लीला की। ऐसी रसात्मकलीला में भगवान ने अपना ऐश्वर्य

---

१ पूर्वनिरूपित इति **ग-घ**. २ स्तुतिकरणमप्यशक्यमिति **क-ख-घ-ङ**. ३ परोक्षस्थितैर्जीवैरिति च. ५. **भा. स्कं**. २-४-१४. अ.

छोड़कर उन स्वामिनी-गोपिकाओं की अधीनता स्वीकार करके समस्त लीलाएँ की हैं और इसके अतिरिक्त ऐसी रसात्मकलीला करते समय भगवान को अपने अन्य किसी ऐश्वर्य के सामर्थ्य की स्फूर्ति भी नहीं है। क्योंकि रसात्मकलीला के समय भी यदि भगवान ऐश्वर्यशाली ही बनें रहें, तो लीला में परस्पर रस प्रकट नहीं हो पायेगा। इसलिये ऐसी रसात्मिका लीलाओं में तो भगवान की समस्त क्रियायें उनके ऐश्वर्य या सामर्थ्य से विरुद्ध जाती हैं अतः लीलासृष्टि में ऐश्वर्य प्रकट करने के लिये उन्होंने खुद अपने पास वे ऐश्वर्य न रख कर उन्हें लीलोपयोगिनी यानि स्वामिनी एवं भगवान का सम्बन्ध कराने वाली श्रीयमुनाजी को प्रदान कर दिये ताकि लीला सम्यक् प्रकारेण चलती रहे। क्योंकि स्वयं भगवान तो रसात्मकरूप से व्रजगोपिकाओं के अधीन होकर समस्त लीलाएँ कर रहे हैं अतः उनमें रसात्मकलीला के समय अपने ऐश्वर्य की स्फूर्ति नहीं है।

तच्चैश्वर्यमष्टविधं पुष्टिमार्गीयम् । तथाहि । (१) सकलसिद्धिहेतुत्वं, (२) भगवद्भाववर्द्धकत्वं, (३) भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धनिराकरणेन तदनुभवयोग्यताहेतुशुद्धिसम्पादकत्वरूपं भुवनपावनीत्वं, (४) भगवत्समानधर्मवत्त्वादनायासेन तत्सम्बन्धसम्पादकत्वं, (५) भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वं, (६) भगवदीयोत्कर्षाधायकत्वं, (७) भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वं (८) तनुनवत्वसाधकत्वं चेति । इदं च लीलासृष्टिस्थेष्वेव ज्ञेयम् । तत्रैव तदधिकारात् । आधुनिकानां तु तदर्थप्रकटिततदास्यरूपादेव सर्वमिति विमर्शः[1] ।

और, श्रीयमुनाजी को दिये गये ये अष्टविध पुष्टिमार्गीय ऐश्वर्य निम्नलिखित हैं.........

श्रीयमुनाजी सबसे पहले (1)सकलसिद्धि की हेतुभूता हैं (2) भगवद्भाव को बढ़ाने वाली हैं (3) भगवत्सम्बन्ध में होने वाले प्रतिबन्ध का निराकरण करके भगवान का अनुभव करने की योग्यता प्राप्त करने के लिये आवश्यक शुद्धिसम्पादनरूप भूतल को पावन करने वाली हैं (4) भगवान के समान धर्म वाली होने के कारण सरलतापूर्वक भगवत्सम्बन्ध कराने वाली हैं (5) भगवान के प्रियजनों के दोषों का निवारण करने वाली हैं (6) भगवदीयों के उत्कर्ष को बढ़ाने वाली हैं (7) जीव को भगवान का प्रिय बनाने वाली हैं (8) और तनुनवत्व की साधिका हैं। किन्तु ये सभी अष्टविध ऐश्वर्य लीलासृष्टि के जीवों को ही प्राप्त होते हैं क्योंकि ये अधिकार तो केवल उनको ही प्राप्त है। आधुनिक पुष्टिजीवों को इनकी प्राप्ति तो भगवान के मुखारविन्दस्वरूप श्रीआचार्यचरणों के माध्यम से ही होगी, जो ये सभी ऐश्वर्य उनमें प्रकट करने हेतु ही प्रकट हुए हैं- यह सार है।

सिद्धिस्वरूपं विवृण्वन्तीतरवैलक्षण्याय [2]सिद्ध्यन्तरभ्रमनिवारणाय[3] च[4] – साक्षादित्यादिना । स्वरूपादिषु परम्परासेवने तु नाऽलौकिकं देहमपेक्ष्यते । किन्तु निवेदनाख्यसंस्कारसंस्कृतं लौकिकमेव । तत्र भगवतोऽपि सावरणत्वेन जीवस्य साक्षात्स्पर्शाभावात् । लीलाप्रवेशे तु साक्षात्स्पर्शाय तदपेक्षेति साक्षात्पदमुक्तम् । लीलावलोकनमपि सिद्धिरेव । यथा योगजधर्मेण योगिनामतीन्द्रियपदार्थदर्शनसिद्धिस्तथा श्रीयमुनासेवनधर्मेणाऽपि गुणातीतप्रभुलीलादर्शनसिद्धिरिति भावः । तथा तद्रसानुभवश्च लीलोपयोगिन्योभयसम्बन्धिन्या मध्यस्थयैव भवतीति तदनुभवरूपा सिद्धिरप्येतत्सेवनेन भवतीत्यर्थः ।

अब इसके पश्चात् प्रभुचरण अन्य सिद्धियों की तुलना में इन सकलसिद्धियों की विलक्षणता बताने के लिये इनका विवरण कर रहे हैं एवं इन सकलसिद्धियों को कोई भ्रमवश अणिमा-आदि लौकिकसिद्धियाँ न समझ ले अतः आपश्री **साक्षात्** शब्द से इनकी विलक्षणता बता रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, परम्परागत स्वरूपसेवा करने में तो अलौकिकदेह की अपेक्षा नहीं है अपितु आत्मनिवेदन नामक संस्कार से संस्कृत लौकिकदेह ही पर्याप्त होती है। क्योंकि स्वरूपसेवा करते समय भगवान भी सावरण विराजते हैं अतः जीव को स्वरूपसेवा करते समय भगवान का साक्षात् स्पर्श प्राप्त नहीं होता। किन्तु जब वह भगवान की लीलासृष्टि में प्रवेश करता है, तब तो भगवान का साक्षात् स्पर्श प्राप्त करने के लिये अलौकिकदेह की आवश्यकता/अपेक्षा रहती है, **तब लौकिकदेह से भगवान का साक्षात् स्पर्श प्राप्त नहीं हो सकता** अतः प्रभुचरणों ने **साक्षात्** पद कह कर यह बताया है कि, ऊपर कही विलक्षण सिद्धियाँ वे हैं कि जिनसे साक्षात् प्रभु का स्पर्श आदि जीव को प्राप्त होता है। भगवान की लीला का अवलोकन करना भी तो एक सिद्धि ही है। जैसे योगी अपने योगजधर्म से लौकिक इन्द्रियों से दिखाई न देने वाले पदार्थों का भी दर्शन कर लेने की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, ठीक वैसे ही श्रीयमुनाजी की सेवारूपी धर्म के द्वारा गुणातीत प्रभुलीला के भी दर्शनों की सिद्धि प्राप्त होती है, यह

---

१ सर्वत्र मूर्धन्यान्त एव पाठ उपलब्धः ष इति स एव पूर्वं स्वीकृतः अस्माभिस्तु श इति लभ्यते । अ. २ सिद्धान्तान्तरेति ग.घ.

३ निराकरणायेति ङ. ४ चेति नास्ति. ङ.

भाव है। उसी प्रकार भगवद्रस का अनुभव भी व्रजगोपिका एवं भगवान दोनों से सम्बन्धित एवं उन दोनों की मध्यस्थता करने वाली लीलोपयोगिनी श्रीयमुनाजी द्वारा ही होता है अतः भगवद्रस का अनुभव करने रूपी सिद्धि भी श्रीयमुनाजी की सेवा से प्राप्त होती है- यह अर्थ है।

सर्वात्मभावसिद्धिरपि भगवत्स्वरूपत्वाद् भगवतेव तद् हृदयग्रहणेन वशीकरणाद्भवतीति तत्सेवनाधीनैवेत्यर्थः ।

अत एवोक्तं प्रभुभिरेतदष्टपद्याम् – 'धारितश्रीकृष्णयुतभक्तहृदय' इति ।

यद्यपि सर्वात्मभाव की सिद्धि भी भगवान ही कराते हैं परन्तु कारण कि श्रीयमुनाजी स्वयं भगवत्स्वरूपा हैं अतः जैसे भगवान ने गोपिकाओं के हृदय को वशीभूत कर लिया था, ठीक इसी प्रकार श्रीयमुनाजी भी भगवान की भाँति गोपिकाओं के हृदय को अपने वशीभूत करके स्वयं भगवत्स्वरूपा होने के नाते उन्हें सर्वात्मभाव का दान करती हैं अतः सर्वात्मभाव की सिद्धि प्राप्त होनी भी श्रीयमुनाजी की सेवा के ही अधीन है, अन्य किसी साधन द्वारा नहीं क्योंकि भगवान ने समस्त सिद्धियों को देने के लिये श्रीयमुनाजी को ही नियुक्त कर रखा है, खुद भगवान तो रसात्मिका लीला करने के लिये उस समय अपने ऐश्वर्यों को अपने आप में नहीं रखते- यह अर्थ है। अत एव श्रीप्रभुचरणों ने अष्टपदी में श्रीयमुनाजी को "कमल की माला के बहाने श्रीकृष्णयुक्त भक्तहृदयों को धारण करने वाली हे श्रीयमुने! (यमुनाष्टपदी-1)" यह कहा है।

आदिपदाद्वियोगेऽप्यन्तःप्राकट्यात्कोशप्रतिमान्यायेन भगवदाविष्टदेहसिद्धिः, परावृत्तचक्षुषाऽन्तराविर्भूतप्रभुलीलावलोकनसिद्धिः, भावात्मकस्वस्वरूपेण[1] तदात्मकतद्रसानुभवसिद्धिः, विरहसामायिकसर्वात्मभावसिद्धिः । स च बहिर्भगवत्प्राकट्यापेक्षाराहित्येनाऽऽन्तरतद्भावनारूपो वेद्यः । एवमष्टसिद्धयो ज्ञेयाः ।

प्रभुचरणों ने **आदि** पद कहा है, जिससे ऊपर कही सिद्धियों के अतिरिक्त चार प्रकार की अन्य सिद्धियाँ भी समझ लेनी चाहिएँ। वे हैं- (1) भगवद्वियोग में श्रीयमुनाजी की सेवा के द्वारा कोशप्रतिमान्यायानुसार भगवान जीव के अन्तःकरण में प्रकट होते हैं अतः भगवदाविष्टदेह की प्राप्ति होने की सिद्धि (मर्यादामार्ग में भगवान की मूर्ति में विधि द्वारा भगवान का आवेश करा के तब उसका पूजन किया जाता है। अथवा तो यों समझ लें कि, एतन्मार्ग में जो भगवत्स्वरूप को पुष्ट करने का करने का प्रकार बताया गया है, वही 'कोशप्रतिमान्याय' का अर्थ है) (2) भीतर अन्तःकरण की ओर परावृत्त हुए चक्षुओं द्वारा अन्तःकरण में आविर्भूत हुई प्रभुलीला का अवलोकन कर पाने की सिद्धि (3) अपने (जीव के) भावात्मक स्वरूप द्वारा भावात्मक भगवद्रसानुभव करने की सिद्धि (4) एवं विरहदशा में प्राप्त होने वाले सर्वात्मभाव की सिद्धि। सर्वात्मभाव प्राप्त होने का अर्थ है- भगवान के बाहर प्रकट होने की अपेक्षा रखे बिना अन्तःकरण में ही भगवान की निरन्तर भावना करते रहनी। यों उपर्युक्त प्रकार से श्रीयमुनाजी में अष्टविधसिद्धियाँ समझ लेनी चाहिएँ।

अत एवेति । यत एतादृशोत्कर्षवत्त्वमस्यामस्तीति स्फूर्त्तिरत एव स्वनमनमेवम्भूतश्रीयमुनाप्राकट्येनाऽलभ्यलाभान्नमने हेतुर्मुदेवेति मुदपीत्युक्तमित्यर्थः । जलदोषात्मकेति । भक्तानां भगवत्सम्बन्धे भगवतश्च भक्तसम्बन्धे जलं प्रतिबन्धकं, पारस्थिततदप्राप्तेः । तस्य च न श्रीयमुनावन्मार्गदातृत्वम् । तथा सति प्रतिबन्धकं न स्यात् । अतो दैत्यसम्बन्धादेवेदं जलं प्रतिबन्धकम् । अतो न जलस्य दोषः । तस्य तूपायेनाऽपि प्रापकत्वात् । तस्माज्जले यो दोषो भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकरूपः स मुर एवेति तस्मिन्निवृत्ते स्वत एव भगवत्प्राप्तिरिति जलदोषात्मकेत्युक्तम् ।

अब **अतएव नमनं मुदपि** (*इसी कारण आचार्यचरणों को नमन करने में आनन्द भी आ रहा है*) इत्यादि शब्दों का अर्थ समझें। भाव यह है कि चूँकि आचार्यचरणों को श्रीयमुनाजी में ऐसे प्रकार के उत्कर्ष की स्फूर्ति हुई अतएव आपश्री ने नमन किया और ऐसी श्रीयमुनाजी के प्रकट होने से अलभ्य लाभ प्राप्त हो रहा है, यह सोचकर आपश्री को नमन करने में आनन्द भी आ रहा है। अब **जलदोषात्मक मुर नामक दैत्य का संहार करने वाले मुरारि** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ तात्पर्य यह है कि, सोलह हजार कन्याओं का भगवान से सम्बन्ध होने में एवं भगवान का भी उनसे सम्बन्ध होने में जल प्रतिबन्धकरूप बना हुआ था (पढ़ें श्रीभागवत 10/59) क्योंकि वे सोलह हजार कन्याएँ जल के पार रहती थीं और भगवान उनसे मिल नहीं पा रहे थे। और वह जल श्रीयमुनाजी के जल की भाँति नहीं था, जिसने वसुदेवजी को मार्ग दे दिया था। भाव यह कि

---

१ स्वरूपेणेति क–ङ.

यदि वह जल श्रीयमुनाजी की भाँति भगवान को उन सोलह हजार कन्याओं तक पहुँचने के लिये मार्ग दे देता, तो वह प्रतिबन्धक ही काहे का माना जाता! इसलिये दैत्य से सम्बन्धित होने के कारण ही वह जल भगवत्सम्बन्धे होने में प्रतिबन्धक बना अतः वह जल का दोष नहीं अपितु दैत्य का दोष था। क्योंकि यदि केवल जल को ही पार करने की समस्या होती, तो नाव इत्यादि साधन करके भी पार किया जा सकता था। इसलिये उस जल में भगवत्प्राप्ति होने में प्रतिबन्धरूप जो दोष था, वह 'मुर' नामक दैत्य ही था और यदि मुर का वध हो जाय तो जल का दोष भी अपने आप ही मिट जायेगा और स्वतः ही भगवत्प्राप्ति हो जायेगी इसलिये आपश्री मुर को जलदोषात्मक कह रहे हैं।

[1]एतेनेति । चरणरेणुषु मुरारिसम्बन्धेन स्फुरत्पदबोधितसेवोपयोगिदेहादिसम्पादनोन्मुखत्वकथनेन चेत्यर्थः । तथाच स्वप्रयत्नदोषनिवारकसम्बन्धेन चरणरेणूनां कार्योन्मुखत्वनिरूपणेन च तदुभयमपास्तमिति भावः । सुरासुरसुपूजितेति मूले । वस्तुतस्तु[2] सर्वात्मभावकामभावयुतस्वामिनीभिः पुष्पाभरणैरलङ्कृतः सन् भावजनक इत्यर्थः । दार्ष्टान्तिके [3]तु तत्पूजितत्वं दैन्यभावमानभावयुतोभयविधस्वामिनीपूजितत्वेन ज्ञेयम् । दैन्यभाववतीनां प्रभुप्राकट्यार्थं मानभाववतीनामनुनयकरणार्थं तत्पूजनात् । पूजनं चाऽत्र तत्परतयाऽनुसरणमेव । दृष्टान्ते तथैव तत्सत्त्वादिति भावः ।

अब **एतेन.........अपास्तः**(*मुरारि की चरणरेणु के कारण*) इत्यादि शब्दों का अर्थ कर रहे हैं। आपश्री इससे यह आज्ञा करना चाह रहे हैं कि, चरणरेणु मुरारि-भगवान की चरणरेणु है और ऐसी चरणरेणु श्रीयमुनाजी में स्फुरित हो रही है- यह कहने का अर्थ यह है कि, ऊपर कहे मुरदैत्य का वध करके सोलह हजार कन्याओं की मुक्ति करने वाले उदाहरण के अनुसार मुरारि की चरणरेणु भगवत्सेवा में उपयोगी देह का संपादन करती है अतः प्रभुचरणों ने जो **एतेन** इत्यादि शब्दों द्वारा "दोष का भय" एवं "भगवत्प्राप्ति में विलम्ब" यह दो शंकाओं का उल्लेख किया है, वे भगवच्चरणरेणु के प्रताप से निरस्त हो गयी जान लेनी चाहिएँ। इसका तात्पर्य यह है कि, चूँकि भगवान मुरारि हैं अतः ऊपर कहे श्रीभागवत के उदाहरण के अनुसार जैसे उन्होंने स्वयं प्रयत्न करके जलदोषरूप मुर का निवारण करके उन कन्याओं को अपनी प्राप्ति करवा दी, इससे यह ज्ञात होता है कि जीव को यह भय नहीं रहता कि यदि हममें दोष रहेंगे तो भगवान हमारा अंगीकार कैसे करेंगे; ठीक वैसे ही आचार्यचरणों ने भी यह कहा है कि, श्रीयमुनाजी में भगवान-मुरारि की चरणरेणु उन्मुख है या अधिक है, जिसका तात्पर्य यह है कि, जैसे मुरारि ने उन कन्याओं को अविलम्ब(शीघ्र)अपनी प्राप्ति करवा दी, वैसे वही मुरारि अब भी श्रीयमुनाजी के माध्यम से अविलम्ब(शीघ्र)अपनी प्राप्ति करवा देंगे अतः ऊपर कही "दोष का भय" एवं "भगवत्प्राप्ति में विलम्ब" ये दोनों बातें निरस्त हो गयीं समझ लेनी चाहिएँ। अब हम मूलग्रन्थ में कहे **सुरासुरसुपूजितः**(सुर+असुर से सुपूजित) इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। वास्तव में तो आचार्यचरणों को इस पद द्वारा 'सुर' और 'असुर' कहने अपेक्षित नहीं हैं परन्तु आपश्री 'सुर' शब्द से सर्वात्मभाव वाली गोपिकाएँ एवं 'असुर' पद से कामभाववाली गोपिकाएँ कहनी चाह रहे हैं; आपश्री का कहना है कि, इन दोनों प्रकार की स्वामिनियों के द्वारा भगवान पुष्प-आभरण इत्यादि से अलंकृत होकर गोपिकाओं में भाव उत्पन्न करते हैं। और तब पूरे 'सुरासुरपूजितस्मरपितुः' पद का अर्थ यह होगा कि= सुर-असुर द्वारा स्मरपिताभगवान पूजित हैं; तात्पर्य यह कि 'सुर' यानि दैन्यभाव रखनेवाली गोपिकाएँ एवं 'असुर' यानि मानभाव रखने वाली गोपिकाएँ, ऐसी दोनों प्रकार की स्वामिनियों के द्वारा भगवान पूजित हैं। दैन्यभाव रखनेवाली गोपिकाएँ प्रभुप्राकट्य कराने के लिये पूजा कर रही हैं और मानभाव रखनेवाली इसलिये पूजा कर रही हैं कि, जिससे प्रभु उनसे अनुनय-विनय करके उनका मान दूर किया करें। यहाँ पूजन का अर्थ भी सामान्य वैदिकपूजन नहीं समझना चाहिए अपितु भगवत्पर होकर भगवान का अनुसरण करना ही उनका पूजन करना है, क्योंकि 'सुरासुरपूजितस्मरपितुः' इस दृष्टान्त में भी यही भाव सूचित किया गया है।

भगवत्स्मारकत्वमिति । स्मरपितृपदे स्मरपदेन स्मरणमुच्यते । तज्जनकत्वं च । स्मरणं स्मर इति व्युत्पत्तेः । अत एव

---

१ एतेनेत्यारभ्य तदुभयमपास्तमिति भाव इत्यन्तो ग्रन्थः 'सुरासुरेत्या'रभ्य 'तथैव तत्सत्त्वादि'त्यन्ताद्ग्रन्थात्परतो लेखकदोषात्सर्वत्र पतितः क ख-ग-घ ङ-अ.चपुस्तको तु यथानिवेशमुपलब्धः, एष एव च युक्तः, व्याख्येयविवृतिक्रमानुरोधात् । २ वस्तुतस्त्वित्यादिर्ग्रन्थो नास्ति क-ग-घ. ३ अपीति म-घ.अ.

छान्दोग्योपनिषदि 'स्मरो वा आकाशाद्भूय' इत्यत्र स्मरणमेव स्मरपदेनाऽभिमतम् । कामस्य [१]त्वत्राऽप्रसक्तेः दोषनिरूपणप्रस्तावे हि तन्निरूपणं घटते । न तु सर्वविज्ञानायोत्तरोत्तरं भूयो निरूपणप्रस्तावे । तथाच श्रीयमुनायामपि तादृग्भगवच्छ्रीधारकत्वोक्त्या प्रभुधर्मस्मरण[२]जनकत्वसत्त्वेन भगवत्स्मारकत्वमिति भावः । भावजनकत्वं[३] तु कामजनकभगवच्छ्रीधारकत्वेन स्पष्टमेव । तदा स्मरपदं कामवाचकमेव । तेनाऽत्र स्मरपदेऽर्थद्वयमप्यभिप्रेतमित्यर्थः । तथा च यथा भगवति दृष्टे 'निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगा' इति वाक्याद्भावजननं पूर्वानुभूतलीलाविशिष्टप्रभुस्मरणं तथा तादृग्भगवत्स्वरूपायामेतस्यां दृष्टायामपीति भावः ।।१।।

अब हम **भगवत्स्मारकत्वं ....स्मरपितृपदम्** (*जो श्रीयमुनाजी के जल का दर्शन करेगा उसे भगवान का स्मरण होगा एवं भगवान के प्रति भाव उत्पन्न होगा- यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने "श्रीयमुनाजी* ***स्मरपिता-भगवानश्रीकृष्ण*** *की श्री को धारण करने वाली हैं" यह कहा है*) इस वाक्य का अर्थ कर रहे हैं। यहाँ प्रभुचरणों ने 'स्मर' शब्द का अर्थ 'स्मरण' एवं 'पितृ' पद का अर्थ 'उत्पन्न करने वाला' बताया है। क्योंकि 'स्मरणं स्मर' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'स्मर' शब्द का अर्थ 'स्मरण' भी होता है। अतएव छान्दोग्योपनिषद् में भी "स्मर यानि स्मरण ही आकाश से बढ़कर है(7/13/1)" इस श्रुति द्वारा 'स्मर' पद का अर्थ 'स्मरण' ही कहा गया है। क्योंकि इस श्रुति में जो प्रकरण चल रहा है, उसमें 'स्मर' शब्द का 'काम' अर्थ करना उचित नहीं बैठता। यदि उक्त श्रुति में दोषनिरूपण की चर्चा चल रही होती, तब तो स्मर का अर्थ 'काम' किया भी जा सकता था परन्तु इस श्रुति में उत्तरोत्तर किस-किस को जान लेने से भगवान को जान लिया जायेगा- यह प्रकरण चल रहा है और ऐसी चर्चा में स्मर का अर्थ 'स्मरण' ही किया जायेगा, 'काम' नहीं। अतः स्मरण अर्थ करके उपर्युक्त वाक्य का तात्पर्य यह है कि, श्रीयमुनाजी भी भगवान की श्री को धारण करने वाली कही गयीं हैं इसलिये वे प्रभु के धर्मों का **स्मरण उत्पन्न कराने** वाली हैं और इसलिये श्रीयमुनाजी के दर्शन भगवान का **स्मरण उत्पन्न कराने** वाले हैं। साथ ही साथ प्रभुचरणों ने **स्मरपितृ** पद का अर्थ 'भावजनक' भी किया है, जिसका अर्थ है- "भगवान काम उत्पन्न करने वाले हैं"। **और यदि श्रीयमुनाजी ऐसे भाव/काम जनक भगवान की श्री को धारण करने वाली कही गयी हैं, तो वे भी जीव में काम उत्पन्न करने वाली कही जायेंगी, जो कि वैसे तो भगवान जीव में उत्पन्न करते हैं**। अतः यदि श्रीयमुनाजी भगवान की श्री को धारण करने वाली हैं तो श्रीयमुनाजी भी कामजनक होनी स्पष्ट ही हैं। इस अर्थ में 'स्मर' शब्द का अर्थ कामवाची ही है। इससे ज्ञात होता है कि, प्रभुचरणों को 'स्मर' शब्द से 'स्मरण' और 'काम' ये दोनों अर्थ ठीक लगते हैं। इन विश्लेषणों से यह जानना चाहिए कि, जैसे भगवान के दर्शन करने से "गोपियों ने कहा- हे श्यामसुन्दर! तीनों लोकों में कौन सी ऐसी स्त्री है, जो आपको अपने नेत्रों से निहार कर अपनी आर्यमर्यादा से विचलित न हो जाय। जिसे देखकर गौ, पक्षी, वृक्ष और हिरण आदि भी रोमांचित पुलकित हो जाते हैं, उसे देखकर कौन ऐसी होगी जो लोकलज्जा त्याग कर आपमें अनुरक्त न हो जाय(श्री0भा- 10/29/40)" इस वाक्यानुसार हृदय में भाव उत्पन्न हो जाता है एवं पहले अनुभूत की गयी विशिष्ट प्रभुलीला का स्मरण हो आता है, ठीक वैसे ही ऐसी भगवत्स्वरूपा श्रीयमुनाजी के दर्शन करने से भी विशिष्ट प्रभुलीला का स्मरण हो आता है- यह भाव है॥1॥

भगवत इवाऽलौकिकप्रकारेणाऽत्राऽऽविर्भाव इति ज्ञापनायाऽऽहु**राविर्भावप्रकारमिति** । यथा भगवान् वसुदेवदेवकीसमक्षमाविर्भूतो वरदानाय, यथा वा तपसा पूर्वानुभूतभगवद्विरहेण च तापात्मकात्तदुभयहृदयाद् यथा वा आविर्भूयाऽन्यत्र केवललीलास्थाने गोकुले प्रयातस्तत्र गत्वा सर्वात्मभाववद्भक्तसंवलितो जातस्तत्र लीलां च प्रकटितवान्, तथा श्रीयमुनाऽपि प्रथमं सूर्यमण्डलान्तर्वर्त्तिनारायणहृदयादानन्दमयादाविर्भूता द्रवीभूतरसात्मिका, ततस्तापात्मकाद्रविमण्डलात्कलिन्दोपरि समागत्य भूमावागता ततो लीलास्थाने समागत्य तादृग्भक्तसंवलिता जातेत्यर्थः ।

घनीभूतरसात्मा हि जातो नन्दगृहे हरिः ।
केवलो धर्मयुक्तस्तु वसुदेवगृहे तथा ।।१।।
शब्दात्मा गुणगानादौ वदनादुद्गतः स्वतः ।

---

१ तत्राऽप्रसिद्धेरिति **ग–घ.** २ प्रभुधर्मस्मरणजनकसत्त्वेनेति **क.** प्रभुस्मरजनकसत्त्वे इति **ग.** प्रभुस्मरणजनकसत्त्वे इति **घ.** प्रभुधर्मस्मरणजनकत्वेनेति **ख–ङ–च.** प्रतिभाति त्वेवम् । ३ भावजनकत्वमित्यारभ्य स्पष्टमेवेत्यन्तोऽशो नास्ति किन्तु "भगवत्स्मारकत्वमिति भाव" इतियं पूर्वपंक्तिरेव "भगवत्स्मारकत्वं स्पष्टमेवे"ति रूपेण वर्त्तते **ग–घ.**

द्रवीभूतरसात्मैषा सर्वाङ्गीणश्रमाम्बुभिः ।।२।।
प्रादुरासीन्मूलरूपपुष्टिलीलाप्रसिद्धये ।।३।।

भगवान की ही भाँति श्रीयमुनाजी का आविर्भाव भी अलौकिकप्रकार से ही हुआ है- यह बताने के लिये प्रभुचरण **आविर्भावप्रकारम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जैसे भगवान वर देने के लिये वसुदेव-देवकी के समक्ष आविर्भूत हुए, या फिर जैसे उनके द्वारा किये गये तप के कारण (देखें श्रीभागवत 10/3/32 से 43) अथवा तो जैसे पूर्वानुभूत भगवद्विरह के कारण भगवान उन दोनों के तापात्मक हृदय से आविर्भूत होकर लीलास्थली गोकुल पधारे और वहाँ पधार कर सर्वात्मभावयुक्त भक्तों से मिले एवं अपनी लीला प्रकट की, ठीक वैसे ही श्रीयमुनाजी भी सर्वप्रथम सूर्यमण्डल के अन्तर्वर्ति नारायण के आनन्दमय हृदय से द्रवीभूतरसरूप से आविर्भूत हुई, एवं तत्पश्चात् तापात्मक रविमण्डल से कलिन्दपर्वत के मस्तक पर पधार कर भूतल पर पधारीं और तत्पश्चात् भगवान की लीलास्थली व्रज में पधार कर सर्वात्मभावयुक्त भक्तों से मिलीं- यह अर्थ है।

घनीभूत रसात्मा हरि नन्दगृह में प्रकट हुए,
और केवल धर्मयुक्त भगवान तो वसुदेवजी के यहाँ प्रकट हुए ॥1॥
और शब्दात्मा-भगवान(भगवद्-गुणगान)गोपिकाओं के मुख से भगवद्गुणानुवाद करने के द्वारा प्रकट हुए,
श्रीयमुनाजी द्रवीभूत रसात्मा हैं क्योंकि भगवान के सर्वांगीण श्रमजल से मिली हुई हैं ॥2॥
और, सत्त्वस्वरूप नारायण के हृदय से प्रकट होकर,
भगवान के मूलरूप की पुष्टिलीला को प्रसिद्ध करने प्रादुर्भूत हुई हैं ॥3॥

विषमभूमीति । पर्वतसम्बन्धित्वादित्यर्थः । वैषम्यं चाऽत्राऽल्पानल्पप्रस्तरसाहित्येनेति ज्ञेयम् । घोषः शब्दो व्रजो वेति । 'घोष आभीरपल्ली स्यादि'तिकोषात् घोषो व्रजस्तेन सह वर्त्तन्ते, न कदाचिदपि तं विहायाऽन्यत्र प्रयान्ति निरोधस्थानत्वात्ते सघोषा व्रजजनादयस्तेषां तीरे गतिभिस्तथेत्यर्थः ।

अब **विषमभूमि** इत्यादि शब्दों का अर्थ कर रहे हैं। चूँकि श्रीयमुनाजी पर्वत पर से होकर भूतल पर पधार रही हैं अतः उनके मार्ग की भूमि विषम है। विषम इसलिये है क्योंकि उनके मार्ग में छोटे-बड़े पत्थर हैं। **घोष** का अर्थ 'शब्द' भी होता है और 'व्रज' भी। क्योंकि 'घोष आभीरपल्ली स्यात्(अमरकोष-2/2/20)' इस कोषवाक्यानुसार घोष का अर्थ 'व्रज' भी होता है अतः **सघोष** का अर्थ हुआ- व्रजदेश के निकट रहने वाले। सो, सघोष वे हैं, जो व्रजदेश को छोड़कर अन्यत्र कभी भी कहीं जाते ही नहीं क्योंकि व्रज निरोधस्थल है और ये **सघोष** अर्थात् व्रजजन श्रीयमुनाजी के तीर पर भगवल्लीला में गतिशील रहते हैं अतः श्रीयमुनाजी उन व्रजभक्तों के भावों को देखकर एवं भगवल्लीला को देखकर स्वयं भी भावयुक्त हो रही हैं अतः आचार्यचरणों ने श्रीयमुनाजी को सघोषगतिदन्तुरा(व्रजजनों के भावों को देखकर भावयुक्त होने वाली) कहा है।

शब्दपक्षे यथा प्रियाभिमुखं गच्छन्ती प्रिया अन्तरुद्गतरजोगुणजनितकामावेशेन गायन्ती तथोच्चैर्भाषमाणा गच्छति तथेत्यर्थः । व्रजपक्षे तु भाववत्संसर्गे भाववतां भावोदयजनितविविधविकारवत्त्वं लोकसिद्धमिति श्रीयमुनायामपि तथा निरूपितमित्यर्थः ।

और, यदि **घोष** का अर्थ 'शब्द' करना हो, तो यों किया जा सकता है कि, जैसे अपने प्रियतम से मिलने कोई प्रिया अपने अन्तःकरण में प्रकटे रजोगुण से उत्पन्न हुए कामावेश के कारण गाती हुई उससे मिलने जाती है, ठीक उसी प्रकार श्रीयमुनाजी भी अपने प्रिय-प्रभु से मिलने उच्चस्वर से गाती हुई पधार रही हैं अतः आचार्यचरणों ने श्रीयमुनाजी को **सघोषगतिदन्तुरा** कहा। और, यदि **घोष** का अर्थ 'व्रज' ही करना हो तो श्रीयमुनाजी के लिये कहे 'सघोषगतिदन्तुरा' शब्द का अर्थ यों होगा कि- लोक में भी ऐसा उदाहरण देखने मिलता है कि भावुकजनों का जब संग प्राप्त होता है, तब उनके भावों द्वारा दूसरे भावुकजनों में भी भावोदय होने के कारण उत्पन्न हुए विविध-विविध प्रकार के भाव उत्पन्न हो ही जाते हैं; उसी प्रकार श्रीयमुनाजी को भी व्रजजनों का संग नित्य प्राप्त है अतः उन व्रजभक्तों के भावों का नित्य संग प्राप्त करने के कारण स्वयं श्रीयमुनाजी भी विविधप्रकार से भगवद्भावयुक्त हो रही हैं अतः आचार्यचरणों ने उन्हें **सघोषगतिदन्तुरा** कहा।

असमधिरूढेवेति, पदच्छेदे अकारस्यापि प्रतीयमानत्वादसमधिरूढत्वमपि व्याख्येयम् । तथाचाऽसमधिरूढेव समधिरूढदोलोत्तमा । यतो दोलाधिरोहेऽपि न तथा प्रतीतिः । भगवत्साम्मुख्यगमने तद्भाववैवश्येन गमनमात्रस्फूर्त्याऽऽरोहादोलास्फूर्तेरसमधिरूढेवेत्युक्तम् । **ततो**

भूमावागत्येति, यथा भगवतो मथुरातो व्रजे समागतस्यैव स्वामिनीभाववर्द्धकत्वं तथा रविमण्डलादाविर्भूय कलिन्दपर्वतोपरि पतित्वा ततः कालिन्दीं स्वप्रविष्टां विधाय व्रजभूमौ समागताया एव लीलासृष्टिस्थेष्वेव मुकुन्दरतिवर्द्धिनीत्वमित्यर्थः ।

अब **गतिशोभयासमधिरूढेव** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इसका जब पदच्छेद करेंगे, तब **गतिशोभया असमधिरूढेव** यों भी होगा, अतः हम **असमधिरूढ** की व्याख्या कर रहे हैं। इसका पूरा अर्थ यह होगा कि यद्यपि श्रीयमुनाजी असमधिरूढ ही हैं (यानि कि किसी दोले/पालकी पर बिराज कर नहीं पधार रहीं हैं) किन्तु विषमभूमि पर ऊँची-नीची होती हुई यों प्रतीत होती हैं मानो किसी दोले/पालकी पर विराज कर पधार रही हों। और यदि किसी दोले पर भी विराज कर भी पधार रही हों, तो भी भगवान के सन्मुख होने की उत्कंठा में उस भाव से विह्वल होती श्रीयमुनाजी को केवल भगवत्सन्मुख जाने की शीघ्रता है, उन्हें अपने किसी दोले का भी ध्यान नहीं है अतः प्रभुचरणों ने अपनी व्याख्या में उनके लिये **असमधिरूढेव दोलोत्तमा** भी कहा। अब हम **ततो भूमावागत्य......... जाता** (*वहाँ से वे भूतल पर पधारीं और मुकुन्द में रति बढ़ाने वाली मुकुन्दरतिवर्धिनी बनीं*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इस वाक्य से प्रभुचरणों को यह कहना है कि, जैसे भगवान मथुरा से व्रज पधारने के पश्चात् ही व्रजस्वामिनियों के भाव की वृद्धि करने वाले बने, ठीक वैसे ही श्रीयमुनाजी भी रविमण्डल से आविर्भूत होकर कलिन्दपर्वत के मस्तक पर गिर कर और वहाँ से कालिन्दी को अपने में समाविष्ट करके व्रजभूमि पर आकर ही लीलासृष्टि के जीवों के लिये मुकुन्द में रति बढ़ाने वाली **मुकुन्दरतिवर्द्धिनी** बनीं।

मुकुन्दरतिवर्द्धिनीत्यत्र षष्ठीसमासो ज्ञेयः । तथा च, मुकुन्दस्य भगवतः स्वामिनीषु रतिवर्द्धिनी । तस्या उभयसम्बन्धिनीत्वादिति भावः । रतिवर्द्धिनीत्वे हेतुरेव यतो रसाकरसखस्य सुतेत्यादिना निरूपितः ।।२।।

'मुकुन्दरतिवर्द्धिनी' पद में षष्ठीतत्पुरुषसमास समझनी चाहिए। यद्यपि 'मुकुन्दरतिवर्द्धिनी' का सामान्य अर्थ होता है- 'मुकुन्द **में** रति को बढ़ाने वाली'। परन्तु श्रीहरिरायचरणों को '**मुकुन्द की** रति जीवों के प्रति बढ़ाने वाली' यह अर्थ उचित लगता है और इसी कारण वे इस पद में षष्ठीतत्पुरुषसमास करनी बता रहे हैं। और षष्ठीसमास करने पर इस पद का अर्थ होगा- श्रीयमुनाजी तो मुकुन्द-भगवान की रति व्रजस्वामिनियों के प्रति बढ़ाने वाली हैं। तात्पर्य यह कि श्रीयमुनाजी के कारण मुकुन्द-भगवान की रति व्रजस्वामिनियों के प्रति बढ़ जाती है। ऐसा इसलिये क्योंकि श्रीयमुनाजी का सम्बन्ध तो भगवान एवं गोपिकाओं दोनों से है। और श्रीयमुनाजी मुकुन्दरतिवर्द्धिनी क्यों हैं, इसका हेतु तो प्रभुचरणों ने "कारण कि वे रसाकर-सूर्य की पुत्री हैं" इस वाक्य द्वारा पहले निरूपित किया ही है ॥2॥

भुव्यागताया धर्मानिति, भुव्यागमनं हि भगवतो रतिवर्द्धनाय । तत्र च ये धर्मास्तदनुकूला अपेक्ष्यन्ते विभावादिसामग्रीसेविका[1]साहित्यस्वरूपसौन्दर्यादयस्तानित्यर्थः । **प्रयोजनमिति**, रविमण्डलाद्भुव्यागमनप्रयोजनमित्यर्थः । **भुवनेति**, भुवनं लोकः सर्वोऽपि लीलासृष्टिस्थतदतिरिक्तरूपस्तस्य भगवद्भावान्यभावराहित्यसम्पादनभगवत्सेवनार्हशरीरसम्पादनाभ्यां **पावनीं** शोधिकामित्यर्थः ।

अब **भुव्यागताया धर्मान्** इत्यादि वांक्यों की व्याख्या करते हैं। इसका अर्थ यह है कि, श्रीयमुनाजी भगवान की रति बढ़ाने के लिये भूतल पर पधारी हैं। अब रति बढ़ाने के लिये जिन अनुकूल धर्मों की अपेक्षा/आवश्यकता है, जैसे विभाव आदि सामग्री, सेविकाओं का साहित्य, स्वरूपसौंदर्य इत्यादि इत्यादि; श्रीयमुनाजी में विद्यमान उन सभी धर्मों को इस श्लोक में बताया जा रहा है। श्रीप्रभुचरणों के **प्रयोजनं** शब्द का अर्थ है- श्रीयमुनाजी के सूर्यमण्डल से भूमि पर पधारने का प्रयोजन क्या है। **भुवन** का अर्थ है- लोक। यानि कि भुवन/लोक का अर्थ है- प्रभु की लीलासृष्टि के **जीव** एवं उनसे अतिरिक्त अन्य सभी एवं आधुनिक जीव भी, इन सभी जीवों का अर्थ है- भुवन/लोक; ऐसे लोक को यानि कि इन समस्त जीवों को भगवद्भाव से भिन्न अन्य सभी भावों से रहित करके भगवत्सेवा के योग्य देह का दान करके उसे पावन करने वाली अर्थात् लोक को शुद्ध बनाने वाली श्रीयमुनाजी हैं- इस अर्थ में आचार्यचरणों ने उन्हें 'भुवनपावनी' कहा है, यह अर्थ है।

शुद्धिरत्र पुष्टिमार्गीयैव वाच्या । सा च पूर्वोक्तरूपैवेति तथेति भावः । **भगवति स्नेहातिशय इति**,

---

[1] सेवकसाहित्येति च.

तरङ्गभुजेत्यादिविशेषणेनाऽप्राकृताखिलाकल्पभूषित्वबोधकेन तथाविधे भगवति सजातीयतया स्नेहातिशयो द्योतित इत्यर्थः । अप्राकृतानामप्राकृते वस्तुनि प्रीतिभरसम्भवस्योचितत्वादिति भावः ।

ये शुद्धि भी फिर पुष्टिमार्गीयशुद्धि ही समझनी चाहिए, न कि पदार्थशुद्धि वाली शुद्धि। और ये शुद्धि भी ऊपर कही जीवों को भगवद्भाव से भिन्न अन्य सभी भावों से रहित करके भगवत्सेवा के योग्य देह का दान करके उसे पावन करने वाली शुद्धि ही है अतः आचार्यचरणों ने उन्हें 'भुवनपावनी' कहा है। अब **भगवति स्नेहातिशयः** *(आपश्री ने श्रीयमुनाजी को "कृष्णतुर्यप्रिया" कहा हैं, जिससे ज्ञात होता है कि, भगवान से श्रीयमुनाजी को अतिशय स्नेह है)* इस वाक्य की व्याख्या करते हैं। श्रीप्रभुचरण इससे यह कहना चाह रहे हैं कि, श्रीयमुनाजी को 'तरंगभुज' इत्यादि विशेषणों द्वारा समस्त अप्राकृत-अलौकिक आभूषणों से युक्त बताया गया है, और स्वयं भगवान भी अप्राकृत-अलौकिक हैं अतः सजातीय होने के कारण अलौकिकश्रीयमुनाजी को अलौकिकभगवान में अतिशय स्नेह है, यह बता रहे हैं। बात ठीक भी है, क्योंकि एक अप्राकृत को दूसरी अप्राकृत वस्तुओं में विशेष अधिक प्रीति होनी तो उचित ही है।

नमत कृष्णतुर्यप्रियामिति मूले । तत्राऽयमाशयः । अत्र स्तोत्रे विविधलीलोपयोगिनी श्रीयमुना प्रस्तूयते । तत्र च कृष्णतुर्यप्रियात्वमनुपपन्नम् । तस्य धर्मस्य कालिन्दीनिष्ठत्वात् । इयं च ततो भिन्ना, 'वसामि यमुनाजल' इति वाक्यात् ।

अब हम मूलग्रन्थ में आये **नमत कृष्णतुर्यप्रियाम्** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। **अध्येता ध्यान दें कि यहाँ से पूर्वपक्ष आरंभ होता है। चूँकि पूर्वपक्ष अधिक लंबा है और समझने में भ्रांति हो सकती है अतः जिस स्थल पर पूर्ण होगा एवं उत्तरपक्ष आरंभ होगा, उस स्थल से पुनः सूचित किया जायेगा।** इस पद की व्याख्या करने का आशय यह है कि किसी को यह संदेह होता है कि, इस स्तोत्र में अनेकविध भगवल्लीला में उपयोगिनी श्रीयमुनाजी की स्तुति की गयी है और इस पद द्वारा उन्हें चतुर्थप्रिया भी कहा गया है परन्तु शंका यह है कि, श्रीयमुनाजी को चतुर्थप्रिया नहीं कहा जा सकता क्योंकि भगवान की चतुर्थप्रिया तो द्वारकालीला में उल्लिखित कालिन्दी हैं और चतुर्थप्रिया के धर्म तो कालिन्दी में हैं !!! इसलिये श्रीयमुनाजी को चतुर्थप्रिया कहना ठीक नहीं है। और ये श्रीयमुनाजी उस द्वारकालीला वाली कालिन्दी से भिन्न हैं क्योंकि इन दोनों का अंतर तो "भगवान कृष्ण और अर्जुन श्रीयमुनातट पर आये एवं उनका जल पिया। वहाँ उन्होंने देखा कि एक परमसुन्दरी तपस्या कर रही है। अर्जुन ने उसे उसका परिचय पूछा तो उसने कहा- मेरा नाम 'कालिन्दी' है और मेरे पिता सूर्य ने मेरे लिये यमुनाजल में एक महल बनवा दिया है और मैं यमुनाजल में ही रहती हूँ(श्री0भा0 10/58/22)" इस वाक्य द्वारा ही स्पष्ट हो जाता है।

यद्यप्यस्यामभेदेन भगवति देवकीपुत्रत्ववत्कालिन्दीत्वं वक्तुं शक्यम्, न तु तुर्यप्रियात्वम्, तदधिष्ठानत्वेन तद्रूपत्वोक्त्यौचित्येऽपि तद्धर्मवत्त्वोक्तेरनुचितत्वात्, असाधारणधर्माणां तद्रूपमात्रनिष्ठत्वेनोपासकैरन्यत्राऽविभावनीयत्वात् ।

पूर्वपक्षी आगे फिर यों कहता है कि, यद्यपि जैसे भगवान में कोई भेद न रखते हुए उन्हें नन्दरायजी के पुत्र एवं देवकीपुत्र दोनों कहा ही जाता है, उसी प्रकार श्रीयमुनाजी और कालिन्दी में भी अभेद रखते हुए उन्हें कालिन्दी तो खैर कहा भी जा सकता है परन्तु चतुर्थप्रिया तो फिर भी नहीं कहा जा सकेगा ; चूँकि श्रीयमुनाजी तो कालिन्दी की अधिष्ठान हैं अर्थात् श्रीयमुनाजी तो कालिन्दी का निवासस्थल है इसलिये यह तो कहा जा सकता है कि कालिन्दीरूप श्रीयमुनाजी में मिला हुआ है अतः श्रीयमुनाजी और कालिन्दी एक ही हैं लेकिन कालिन्दी के धर्म भी श्रीयमुनाजी में आ गये हैं- यह नहीं कहा जा सकता। यानि श्रीयमुनाजी को कालिन्दी की भाँति तुर्यप्रियां(चतुर्थप्रिया)नहीं कहा जा सकता क्योंकि तुर्यप्रिया(चतुर्थप्रिया)होना तो केवल कालिन्दी का ही असाधारणधर्म है। और असाधारणधर्म तो वे धर्म होते हैं जो जिस स्वरूप के होते हैं, उसी रूप में स्थायीरूप से रहते हैं, उन असाधारणधर्मों का किसी अन्य स्वरूप में होना कभी भी संभव नहीं बन सकता। **असाधारणधर्म उन धर्मों को कहा जाता है, जो केवल वहीं स्थायीरूप से रहते हैं, जिसके वे धर्म हैं। उन असाधारणधर्मों को उसके अतिरिक्त अन्य में होना नहीं कहा जा सकता। जैसे अग्नि में 'ज्वाला' और 'दाहकता' ये दोनों धर्म विद्यमान हैं परन्तु इन दोनों में से 'ज्वाला' तो केवल अग्नि का ही असाधारणधर्म है, जो अग्नि के अतिरिक्त अन्य किसी में होना नहीं कहा जा सकेगा। किन्तु 'दाहकता' तो अग्नि के अतिरिक्त गर्म भाप में या गर्म तपे हुए लोहे में भी कही जा सकती है अतः अग्नि का असाधारणधर्म 'दाहकता' नहीं परन्तु 'ज्वाला' है। इसी**

बात को दूसरे उदाहरण से भी समझें। जैसे कह दिया जाय कि 'मथुरा के ब्राह्मण"। यद्यपि ब्राह्मण तो काशी के भी हो सकते हैं और दक्षिण के भी अतः ब्राह्मण की दृष्टि से ब्राह्मणत्व तो सभी में समान ही है परन्तु मथुरा के ब्राह्मणों में 'मथुरानगरी' उनका असाधारणधर्म है, जो कि केवल मथुरा के ब्राह्मणों के लिये ही कहा जा सकेगा, अन्यों के लिये नहीं। इसी कारण जो लोग जिस स्वरूप के असाधारणधर्मों के कारण उसकी उपासना करते हैं, वे उस स्वरूप के असाधारणधर्मों की भावना अन्य दूसरे स्वरूप में नहीं कर सकते या कर पाते।

अन्यथा भावने "योऽन्यथा सन्तमात्मानमि"ति वाक्याद्दोषश्च । न हि सीतापतिः पुरुषोत्तमोऽपि रसात्मकश्रीगोपीजनवल्लभत्वेनोपासकैर्विभाव्यते । अन्यधर्मवत्त्वेनाऽन्यरूपभावने "तं यथा यथोपासते तथैव भवति तद्द्वैतान्[1] भूत्वाऽवती"ति श्रुतेः स्वाभीष्टसाक्षात्काराभावेन फलासिद्धेः ।

और यदि वे अपने उपास्यस्वरूप की भावना अन्य किसी स्वरूप में करते हैं तो उन पर "जो परमात्मा को वास्तविक स्वरूप से नहीं जानता, आत्मा का अपहरण करने वाले उस चोर ने कौन सा पाप नहीं किया ? (महाभारत/उद्योगपर्व/सनत्सुजातपर्व/42-37)" इस श्लोक में बताया गया दोष भी गलेपतित होगा। सीतापति राम भी भले ही पुरुषोत्तम हैं तथापि श्रीराम के उपासक रसात्मकश्रीगोपीजनवल्लभ-पुष्टिपुरुषोत्तम में श्रीराम की भावना थोड़े ही कर पायेंगे, भले ही दोनों के दोनों पुरुषोत्तम ही हैं, तब भी ! और तो और, किसी एक स्वरूप के धर्मों की भावना आपने यदि किसी अन्य के स्वरूप में कर भी ली, तब भी "परमात्मा की जिस रूप से उपासना करो, वह वैसा ही बन जाता है(मुद्गलोपनिषत्-3)" इस श्रुति के अनुसार यह समझ लीजिए कि आप जिस किसी भी स्वरूप में जिस अन्य स्वरूप की भावना करके उसकी उपासना कर रहे हैं, फिर फल भी आपको वही स्वरूप देगा जिसकी आपने भावना की है। यानि कि यदि आप कालिन्दी के धर्मों की भावना श्रीयमुनाजी में करके उन दोनों को एक मानते हुए श्रीयमुनाजी की उपासना करेंगे तो फिर फल भी कालिन्दी ही देगी, श्रीयमुनाजी नहीं ; अतः आपको जो श्रीयमुनाजी से साक्षात्कार होने का फल चाहिए था, वह फल आपको प्राप्त नहीं हो पायेगा, तब आपका साक्षात्कार भी यदि होगा तो कालिन्दी से होगा, श्रीयमुनाजी से नहीं।

ननु रूपान्तरदर्शनोद्गतभावस्य रूपान्तरेण कथं फलसिद्धिर्यथा रघुपतिवर्यवितीर्णवरस्य श्रीव्रजनाथेनेति चेत् । सत्यम् । तत्र हि श्रीरघुनाथस्य गुरोरिवोपदेशद्वारा फलप्रापकत्वं स्वाविष्टमूलरूपत्वेन न तु साक्षात्तद्दातृत्वम्, मर्यादापुरुषोत्तमत्वात् ।

पूर्वपक्षी अपनी बात को और अधिक दृढ़ करने के लिये आगे कहता है- यदि सिद्धान्ती हमारे कहे में ये तर्क भी देता हो कि- यदि ये बात सही है, तो फिर यह बताईये कि किसी एक स्वरूप के दर्शन से उत्पन्न हुए भाव की फलसिद्धि किसी अन्य स्वरूप ने कैसे कर दी ? क्योंकि श्रुतिरूपा गोपिकाओं में तो श्रीरघुपति राम को देखकर भाव उत्पन्न हुआ था परन्तु उनके मनोरथ की पूर्ति तो कालान्तर में श्रीव्रजनाथ-श्रीकृष्ण ने की ! फिर ये कैसे कहा जा सकता है कि, जिस स्वरूप की भावना कर रहे हैं, वही स्वरूप फलदान करेगा **क्योंकि उपर्युक्त प्रसंग में ऋषिरूपा गोपिकाओं ने उनका मनोरथ पूर्ण करने की प्रार्थना तो श्रीराम से की थी किन्तु फलदान तो कालान्तर में श्रीकृष्ण ने किया !** पूर्वपक्षी कहता है कि, यदि आप ऐसा तर्क देते हों तो कहीं तक आपकी बात सत्य है परन्तु आपको यह रहस्य पता नहीं है कि, तब पुष्टिपुरुषोत्तम-श्रीकृष्ण तो श्रीरघुनाथ-श्रीराम के भीतर विराज रहे थे और उनका मनोरथ पूर्ण करने की बात श्रीराम के भीतर आविष्ट श्रीकृष्ण ने की थी और श्रीराम ने तो उन्हें एक गुरु की भाँति केवल फलप्राप्त करने का मात्र उपदेश दिया था, केवल दिशा बतायी थी, साक्षात् वहीं के वहीं फल नहीं दे दिया था क्योंकि आखिरकार तो वे मर्यादापुरुषोत्तम राम के रूप में बिराज रहे थे।

न हि तेन पुष्टिमार्गाङ्गीकारस्तत्फलदानं च शक्यते विधातुम् । तत्त्वं च दाम्पत्यरसात्मकत्वेन तद्धर्मसहितत्वम् । तत्र मर्यादया फलदानाद्भगवन्मार्गीयगुरुणेव तद्विधिनिरूपणेन[2] । अतस्तदुक्त्यनुपपत्तिरिति चेत् ।

श्रीरघुनाथ-श्रीराम तो उन ऋषिरूपा गोपिकाओं का पुष्टिमार्गीय ढंग से अंगीकार और फलदान नहीं कर सकते थे। क्योंकि पुष्टिमार्गीय फलदान तो प्रभु के संग दाम्पत्यरसपूर्वक रहना होता है और चूँकि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम स्वयं दाम्पत्यधर्म से पहले से ही बँधे हुए थे अतः ऋषिरूपा गोपिकाओं को ऐसा फलदान नहीं कर

---

[1] तद्द्वैतामिति च. तद्द्वैनानिति ख. [2] तद्विधिनिरूपणेन फलदातृत्वमिति चं.

सकते थे। वे तो मर्यादापूर्वक ही फल दे सकते थे, हाँ उन्होंने इतना अवश्य किया कि एक गुरु की भाँति उन्हें मनोवांछित फल प्राप्त करने की विधि अवश्य बता दी। इन सभी कारणों से पूर्वपक्षी का कहना यह है कि, श्रीयमुनाजी को चतुर्थप्रिया नहीं कहा जा सकता। यहाँ पूर्वपक्ष संपूर्ण हुआ और इसके आगे उत्तरपक्ष आरंभ होता है। आगे श्रीहरिरायचरण यह सिद्ध करेंगे कि श्रीयमुनाजी को चतुर्थप्रिया कहना कैसे योग्य है।

अत्र वदामः । व्रजे हि भगवद्भोग्याः स्वामिन्यश्चतुर्विधाः । तत्रैका मुख्या भगवतः स्वामिनी सर्वविलक्षणा । अस्यां चाऽनन्यपूर्वान्यपूर्वोभयरूपत्वाभावः । भगवतो रसात्मकस्य श्रुतिसिद्धस्याऽऽलम्बनविभावत्वेन तथात्वसम्पादकत्वात् । श्रुतिरूपा गोपगृहेषु स्थिताः सर्वात्मभाववत्यः प्रौढा एकाः । तथा कुमारिका व्रजस्था अनन्यपूर्वा विवाहाभावेऽपि वसनादानेन[२] स्वकीयाः कृताश्चाऽपराः । चतुर्थी श्रीयमुना । तस्यामपि क्रीडाव्याजेन सर्वाङ्गसम्बन्धसम्पादनेन स्वातन्त्र्येण तया सह क्रीडेति सा चतुर्थी । अत एवैतदभिप्रायेण तत्र तुर्यप्रियात्वोक्तिर्न तु तुर्यभार्यात्वोक्तिरिति नाऽनुपपत्तिः काचित् ।।३।।

यदि कोई पूर्वपक्षी ऐसी शंका करते हों, तो अब हम इसका उत्तर दे रहे हैं कि, श्रीयमुनाजी भगवान की चतुर्थप्रिया क्यों और कैसे हैं। पहले तो ये समझिए कि व्रज में भगवद्भोग्या स्वामिनी चार प्रकार की हैं। इन चारों में भगवान की जो मुख्य स्वामिनीजी हैं, वे अन्य सभी से विलक्षण हैं क्योंकि ये न तो अन्यपूर्वा हैं और न ही अनन्यपूर्वा। क्योंकि मुख्यस्वामिनीजी तो भगवान के श्रुतिसिद्ध रसात्मक स्वरूप की आलम्बनविभावरूपा हैं अतः रस उत्पन्न करने वाली हैं। और गोपों के घरों में रहने वाली सर्वात्मभाववाली श्रुतिरूपा प्रौढा गोपिकाओं (अन्यपूर्वाएँ) का अलग एक प्रकार है। और व्रज में रहने वाली कुमारिकाएँ जिनका यद्यपि भगवान के संग विवाह नहीं हुआ तथापि जिन्हें चीरहरण प्रसंग में वस्त्र देकर भगवान ने स्वकीया बना लीं, वे दूसरे प्रकार की गोपिकाएँ (अनन्यपूर्वाएँ) हैं। यों कुलमिला कर तीन प्रकार की स्वामिनी हुईं और चौथी श्रीयमुनाजी हैं। क्योंकि भगवान अन्य गोपिकाओं के संग क्रीड़ा करने के बहाने श्रीयमुनाजी में पधारे और उन्हें भी अपने सर्वांग का सम्बन्ध करवाया और स्वतन्त्ररूप से उनके संग क्रीड़ा भी की अतः श्रीयमुनाजी भगवान की चतुर्थप्रिया हैं। इसी कारण ध्यान दें कि, श्रीयमुनाजी को चतुर्थप्रिया कहा गया है, न कि **चतुर्थपत्नी** इसलिये हमारे कहे में कुछ भी अप्रामाणिक नहीं है॥3॥

भगवत्समानधर्मत्वं ज्ञापयितुमिति । भगवान् हि षड्गुणैः स्वरूपेण च सप्तविधः । तत्र गुणाः षड् ऐश्वर्यादयः । तेऽपि पुष्टिमार्गीयमर्यादामार्गीयतद्भेदेन विविधाः । तत्र पुष्टिमार्गीयाः षट् फलप्रकरणे वेणुगीते च "धन्यास्त्वि"ति श्लोकषट्केन निरूपिताः । प्रभुचरणैः तेऽत्राऽपि तत्समानसंख्याकैर्विशेषणैः श्रीयमुनायां निरूप्यन्ते ।

अब हम **भगवत्समानधर्मत्वं ज्ञापयितुं** (*आचार्यचरण श्रीयमुनाजी में भी भगवान के समान ही षड्गुणधर्म बताने के लिये उन सभी विशेषणों को* ***अनन्त*** *इत्यादि छह विशेषणों से कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। भगवान का स्वरूप उनमें विद्यमान छह गुण एवं एक स्वयं उनके स्वरूप द्वारा सात प्रकार का है। भगवान में विद्यमान छह गुण ऐश्वर्य-वीर्य-यश-श्री-ज्ञान-वैराग्य यों छह प्रकार के हैं। ये छह गुण भी पुष्टिमार्गीयगुण एवं मर्यादामार्गीयगुणों के भेद के अनुसार फिर विविध प्रकार के हो जाते हैं। इनमें से पुष्टिमार्गीय छह गुण तो फलप्रकरणसुबोधिनी में एवं वेणुगीतसुबोधिनी के अन्तर्गत भी "धन्यास्तु (सुबो0 10/18/11)" इस श्लोक से लेकर छह श्लोकों द्वारा श्रीमहाप्रभुजी ने निरूपित किये हैं। प्रभुचरण इस श्लोक में उन्हीं ऐश्वर्यादि छह पुष्टिमार्गीयगुणों को श्रीयमुनाजी में भी निरूपित कर रहे हैं।

तथाहि । सप्तम्यन्तप्रभुविशेषणपक्षे अनन्ता असंख्याता नित्याश्च ये गुणास्तैर्भूषिते अलङ्कृते प्रभावित्यर्थः । सम्बुद्ध्यन्ततया श्रीयमुनापक्षे अनन्तस्य नित्यस्य रासोत्सवादिषु बहुरूपस्य वा भगवतो ये गुणा भक्तकार्यसाधकत्वादयस्तैर्भूषिते इत्यर्थः ।

और यदि (1)अनन्तगुणों से भूषित (2) शिवविरञ्चि आदि सेवताओं द्वारा स्तुत(3) मेघसमूह के जैसे (4) ध्रुवपराशर को मनोवांछित देने वाले (5) विशुद्धमथुरा के तट पर सकल गोपगोपियों से घिरे (6) कृपासागर ; इन छह विशेषणों को भगवान के लिये मान लिया जाय तो पूरे श्लोक का अर्थ, यों बनेगा कि, आचार्यचरण प्रभु से प्रार्थना कर रहे हैं कि- "हे अनन्त, असंख्य और नित्यगुणों से भूषित, अलंकृत प्रभु ! मेरे मन में सुख हो इसका विचार करो"। और इन छहों विशेषणों को श्रीयमुनाजी के लिये कहा मान लिया जाय तो (यदि इस श्लोक में

---

२. वसनदाननति**क-ग-घ-ङ**-च.

कहे छह विशेषण श्रीयमुनाजी के लिये मान लिये जाएँ, तो पूरे मूलश्लोक का अर्थ यों होगा (1) हे अनन्तगुणभूषिते श्रीयमुने, (2) हे शिवविरञ्चिदेवस्तुते श्रीयमुने, (3) हे सदा घनाघननिभे श्रीयमुने, (4) हे ध्रुवपराशराभीष्टदे श्रीयमुने, (5) हे विशुद्धमथुरातटे (6) हे सकलगोपगोपीवृते श्रीयमुने, (7) हे कृपाजलधिसंश्रिते श्रीयमुने ! मम मनः सुखं भावय(मेरे मन को सुख कैसे मिले, इसका विचार करें) यों अर्थ होगा कि- हे श्रीयमुनाजी ! भगवान के अनन्त, नित्य या रासोत्सव आदि में भगवान के अनेक रूप धारण करने वाले भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करने वाले आदि जो भगवान के गुण हैं, उन गुणों से आप भूषित हैं अतः मेरे मन को सुख मिले इसका आप विचार करें।

एतेन सर्वसद्गुणसततसाहित्यात् 'गुणाः सर्वत्र पूज्यन्त'इति वाक्यात् । "पूज्यो हि भगवान् तद्गुणाश्चे"त्याचार्यचरणवचनाच्च गुणानां पूज्यतावच्छेदकधर्मरूपत्वाद् "ईश्वरः पूज्यते लोके मूढैरपि यदा तदे"ति श्लोकनिरूपितमैश्वर्यं निरूपितमिति भावः ।

इन समस्त विश्लेषणों से यह सिद्ध हुआ कि, चूँकि श्रीयमुनाजी में भगवान के ये सभी गुण नित्य विद्यमान हैं एवं "सर्वत्र गुणों का ही आदर होता है(चाणक्य नीति16/7)" इस वाक्यानुसार एवं "भगवान भी पूज्य हैं एवं उनके गुण भी" इस आचार्यचरणों के वचनानुसार भी एवं चूँकि गुण ही तो मुख्य कारण हैं जिनसे किसी की पूजा होती है अतः "ईश्वरः पूज्यते(सु0 10/18/10;का0-19)" इस कारिका में बताये गये भगवान के ऐश्वर्य को श्रीप्रभुचरणों ने यहाँ श्रीयमुनाजी के लिये कहे "हे **अनन्तगुणभूषिते** श्रीयमुने" इस संबोधन में निरूपित किया है यानि आचार्यचरणों ने जो प्रभु का ऐश्वर्य ऊपर कही श्रीसुबोधिनी की कारिका में बताया है, वही ऐश्वर्य श्रीयमुनाजी में भी है जिसे प्रभुचरणों ने इस विशेषण द्वारा द्योतित किया है।

शिवविरञ्चिदेवस्तुते इति विशेषणेन पक्षद्वयेऽपि "वीर्यं देवेष्वि"त्यत्र निरूपितं वीर्यं निरूपितमित्यर्थः । घनाघननिभे इति विशेषणेन पक्षद्वयेऽपि स्वरूपसौन्दर्यं सर्वविस्मारकं विश्वजीवनत्वादिकं च निरूपितमिति "यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणादि"त्यत्रोक्तं यशो निरूपितमित्यर्थः । ध्रुवपराशराभीष्टदे इति विशेषणेन स्वसेवकानामप्यैश्वर्यज्ञानरूपाभीष्टप्रदानेन तेषामपि तद्भोगात् "श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदी"त्यत्रोक्ता श्रीर्निरूपितेत्यर्थः ।

शिवविरञ्चिदेवस्तुते इस विशेषण द्वारा "वीर्यं देवेषु (सु-10/18/10;का0-20)" इस कारिका में कहा गया 'वीर्य' धर्म भगवान एवं श्रीयमुनाजी दोनों के ही लिये निरूपित किया गया समझना चाहिए। **घनाघननिभे** इस विशेषण द्वारा "यशो यदि विमूढानां(सु-10/18/10;का0-21)" इस कारिका में कहा गया स्वरूपसौंदर्य, सभी की विस्मृति करा देने वाला एवं संपूर्ण विश्व को जीवन देने वाला 'यश' धर्म भगवान एवं श्रीयमुनाजी दोनों के ही लिये निरूपित कर दिया गया समझना चाहिए। **ध्रुवपराशराभीष्टदे** इस विशेषण द्वारा अपने सेवकों को भी ऐश्वर्य-ज्ञानरूप मनोवांछित का दान श्रीयमुनाजी देती हैं और जिससे वे भी ऐश्वर्यादि का भोग करते हैं अतः "श्रियो हि परमा(सु-10/18/10;का0-24)" इस कारिका में जिस 'श्री' का निरूपण हुआ है, वही 'श्री' धर्म श्रीयमुनाजी में भी निरूपित हुआ जान लेना चाहिए।

विशुद्धमथुरातटे इति । अत्राऽयमर्थः । मथुरा हि विशुद्धा, सर्वदोषराहित्यात् । न हि तत्र भूम्यादिदोषाः सम्भवन्ति । तत्त्वान्युत्पाद्य "तत्सृष्ट्वातदेवाऽनुप्राविशदि"ति श्रुतेः कारणतया तेषु प्रविष्टस्य भगवतो भूमितत्त्वैकदेशरूपमथुराया नित्यस्थितिस्थानत्वात् । अत एव जीवानां "काश्यादिपुर्यो यदि सन्ती"ति वाक्यात्सा सर्वैः प्रकारैर्मोक्षदात्री । तादृश्या अपि श्रीयमुनातटे सत्त्वेन लीलास्थानतया यत्र भगवाँस्तल्लीलाविशिष्टः प्रकटस्तत्र सेत्येवं निरन्तरप्रभुसान्निध्येन भक्तिदायकत्वात् "ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात्स्वभावविजयो यदी"त्यत्रोक्तं ज्ञानं निरूपितम् ।

अब हम **विशुद्धमथुरातटे** इत्यादि शब्दों का अर्थ कर रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, मथुरानगरी सर्वथा विशुद्ध है क्योंकि ये सभी दोषों से रहित है। मथुरा में भूमिदोष तो उत्पन्न हो ही नहीं सकते क्योंकि भगवान ने सृष्टि की रचना आरंभ करते समय जब पंचतत्त्वों(भूमि-जल-तेज-वायु-आकाश)का निर्माण किया, तब "सृष्टि का निर्माण करने वाले ब्रह्म तत्पश्चात् स्वयं सृष्टि में प्रविष्ट हो गये" इस श्रुति के अनुसार वे कारणरूप से स्वयं ही इन पंचतत्त्वों में प्रविष्ट हुए एवं भूमितत्त्वरूपा मथुरानगरी में नित्यस्थिति से विराजे हैं। इसी कारण मथुरानगरी जीवों को "काशी आदि पुरियों में मथुरानगरी ही धन्य है क्योंकि ये चारों प्रकार के मोक्ष को देने वाली है(वराह पुराण/गर्गसंहिता- 33,34)" इस वाक्यानुसार सभी प्रकार से मोक्ष देने वाली नगरी है। ऐसी

मोक्षदात्री मथुरानगरी भी यमुनातट के किनारे बसी है जो कि भगवान का लीलास्थान है ; यानि जिसके तट पर भगवान लीलाविशिष्ट स्वरूप से प्रकट हुए, वहाँ मथुरानगरी बसी है अतः इस नगरी को निरन्तर भगवान का सान्निध्य प्राप्त है, जिसके कारण मोक्ष देने वाली मथुरानगरी अब भक्तिदायक बन गयी, इसलिये चूँकि श्रीयमनाजी के कारण मथुरा का यों स्वभावपरिवर्तन हो गया यानि मोक्ष देने वाली अब भक्ति देने वाली बन गयी अतः "ज्ञानोत्कर्षस्तदैव (सु-10/18/10;का0-24)" इस कारिका में कहा 'ज्ञान' धर्म भी श्रीयमुनाजी में निरूपित हो गया समझना चाहिए।

सकलगोपगोपीवृत इति । परोक्षेऽपि भक्तानां भगवत्सम्बन्धमाकाङ्क्षमाणानां तत्रैव भगवत्सम्बन्धोऽनुभूत इति तदाशया सततं तामावृत्य स्थितिरिति तत्स“: सर्वदा । स[1] च निरुपधिभगवत्सम्बन्धिभावेनैव भवतीति सर्वदा भगवत्प्रीत्या भगवतोऽपि भक्तसम्बन्धसम्पादकतया व्रजभक्तानां च मानादिदोषनिवारकतया तापहारकत्वेन च “हरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनात् । उत्कर्षश्चाऽपि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदी”त्यत्रोक्तं वैराग्यं निरूपितमित्यर्थः ।

अब हम **सकलगोपगोपीवृते** शब्द की व्याख्या करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, भगवान के परोक्ष में भी भगवत्सम्बन्ध होने की आकांक्षा रखने वाले भक्तों को वहीं श्रीयमुनातट पर ही भगवत्सम्बन्ध की अनुभूति हुई थी अतः इसी आशा से वे सतत श्रीयमुनातट को घेरे हुए रहते हैं ताकि उन्हें पुनः भगवत्सम्बन्ध प्राप्त हो सके इसलिये श्रीयमुनाजी को उन व्रजभक्तों का संग सर्वदा प्राप्त होता है। और भगवत्सम्बन्ध तो निःस्वार्थभाव रखने से ही प्राप्त हो सकता है अतः सर्वदा भगवान में प्रीति रखने के कारण, भगवान का भी भक्तों से सम्बन्ध कराती होने के कारण, भक्तों के मान आदि दोषों का निवारण करती होने के कारण एवं तापहारक होने के कारण श्रीयमुनाजी में 'वैराग्य' धर्म का निरूपण हुआ जान लेना चाहिए ; जैसा कि "हरेश्चरणयोः प्रीतिः (सु-10/18/10;का0-25)" इस कारिका में बताया गया है।

एवं षड्भिर्विशेषणैः षड् धर्मान्निरूप्य धर्मिस्वरूपं निरूपयन्ति **कृपाजलधिसंश्रित** इति । प्रभुविशेषणपक्षे निरवधिकृपायुक्तत्वेन स्वरूपमेवाऽभिहितं न धर्मः । करुणायास्तु[2] नित्याविर्भूतधर्मत्वेन स्वरूपमध्यपातात् । अन्ये धर्मा नित्या अपि लीलोपयोगिनस्तत्तल्लीलायां प्रकटीक्रियन्ते नाऽन्यदा । करुणा तु सर्वदाऽऽविर्भूतैव स्वरूप इति सदा तद्युक्तत्वात्स्वरूपमेव सेति भावः । श्रीयमुनापक्षे कृपाजलधिरपारकरुणो भगवाँस्तं सम्यगविच्छेदेन श्रितेति मुख्यस्वामिनीवदर्धनारीनरवद्वा तत्स्वरूपमेवोक्तमिति भावः । **मम मनस्सुखं भावयेति** । पूर्वोक्तधर्मवति हरौ मम मनस्सुखं भावेनाऽनुभूयमानानन्दस्तं भावय विचारय, कथं स भविष्यतीति । तद्विषयिणीं चिन्तां कुर्वित्यर्थः । अनेन त्वच्चिन्तयैवाऽयमानन्द प्राप्यो नाऽन्यसाधनैरिति भावो निरूपितः ।

इस प्रकार से छह विशेषणों सहित छह धर्मों का निरूपण करके अब भगवान/श्रीयमुनाजी के धर्मिस्वरूप का निरूपण आचार्यचरण **कृपाजलधिसंश्रिते** शब्द से बता रहे हैं। यदि **कृपाजलधिसंश्रिते** को (कृपा-जलधि-सं-श्रित= कृपा+सागर+सम्यक् प्रकार से+युक्त) यों प्रभु का विशेषण मान लिया जाय तो, ये समझें कि चूँकि प्रभु अपार कृपा करने वाले हैं अतः कृपा करना तो उनका स्वरूप ही है, न कि केवल उनका सामान्य धर्म ही। क्योंकि करुणा तो प्रभु के स्वरूप में नित्यरूप से आविर्भूतधर्म होने के कारण प्रभु के स्वरूप में ही रहती है। प्रभु के अन्य लीलोपयोगी धर्म तो वे उन-उन लीलाओं में ही प्रकट करते हैं, जब-जब जिनकी आवश्यकता होती है, अन्य समय पर नहीं; किन्तु करुणा तो प्रभु के स्वरूप में नित्य बनी रहती है अतः प्रभु नित्य ही करुणामय रहते हैं इसलिये करुणा तो उनका स्वरूप ही है- यह भाव है। और यदि **कृपाजलधिसंश्रिते** (कृपाजलधि/भगवान का आश्रय करने वाली श्रीयमुनाजी) को यों श्रीयमुनाजी का विशेषण मान लिया जाय, तो यों अर्थ करेंगे कि- भगवान कृपासागर हैं अर्थात् अपारकरुणावान हैं और श्रीयमुनाजी ने ऐसे कृपासागर का निरन्तर सम्यक्प्रकार से आश्रय लिया है इसलिये मुख्यस्वामिनी की भाँति या अर्धनारीश्वर की भाँति श्रीयमुनाजी भी कृपास्वरूपा ही हैं। इस ढंग से **मम मनस्सुखं भावय** इत्यादि शब्दों का अर्थ यों होगा कि- पूर्व में जो करुणामय धर्मयुक्त भगवान का स्वरूप बताया गया, ऐसे करुणामय हरि में मेरे मन को कैसे सुख प्राप्त हो, इसका हे श्रीयमुनाजी आप विचार करें। **सुखं** का अर्थ है- भाव द्वारा मन में अनुभूत होने वाला आनन्द ; आपश्री कह रहे हैं कि, वैसा

---

[1] स च निरुपधिभावेनैवेति **क. घ. अ.** सर्वानरुपमभावैनेवेत्यादि ङ. [2] करुणायाः स्वनित्याविर्भूतधर्मत्वेनेत्यादिः ङ.

आनन्द मेरे मन में कैसे संभव बन पायेगा, इसका आप विचार करें। अर्थात् उसकी चिंता करें। इससे आपश्री ने यह भाव निरूपित किया है कि- हे श्रीयमुने! जब आप यह चिंता करेंगी तब ही मुझे यह आनन्द प्राप्त हो सकेगा, अन्य किसी साधनों द्वारा नहीं।

सम्बुद्धिपक्षे मम मनसि भगवत्स्वरूपानुभवजन्यं यत्सुखं तत् त्वं भावय स्वमनस्यानयेत्यर्थः । अनेन त्वच्चेतसि समागतावेव तत्सुखं सर्वदाऽनुभवविषयो भवति । भगवताऽष्टविधैश्वर्यस्य त्वयि निक्षिप्तत्वात् स्वयं त्वदधीनः सर्वदाऽनीश्वर इवेति त्वद्विचारेणैव तद्भवतीत्यभिप्रायः सूचितः । एतेनेत्यादिना तव सर्वदा तद् द्रवीभूतरसात्मकत्वेन लीलाविशिष्टप्रभुसङ्गतत्वाद्येन केनाऽपि सम्बन्धेन त्वत्सङ्गतौ तादृक्प्रभुसङ्गतिरेव जातेत्याशयोऽत्र बोध्यः ।।४।।

कृपाजलधिसंश्रिते पद को श्रीयमुनाजी का संबोधन मानने पर **मम मनस्सुखं भावय** का अर्थ यों होगा कि- आचार्यचरण श्रीयमुनाजी से यों प्रार्थना कर रहे हैं कि- मेरे मन में भगवत्स्वरूपानुभव से उत्पन्न हुआ जो सुख है, उसे हे श्रीयमुने! आप अपने मन में लाएँ; जिसका तात्पर्य यह है कि, जब उस सुख का विचार आपके मन में आयेगा, तब ही वह सुख मेरे हृदय में सर्वदा अनुभूत होता रहेगा। कारण कि भगवान ने अष्टविध ऐश्वर्य तो हे श्रीयमुनाजी! आपको दे रखे हैं अतः भगवान तो आपके अधीन हैं और सर्वदा ऐश्वर्यरहित हैं अतः आपके विचार करने से ही मेरे मन का सुख सदा बना रहेगा- यह अभिप्राय आचार्यचरणों ने सूचित किया है। प्रभुचरणों ने **एतेन** (*इससे यह भाव सूचित होता है कि श्रीयमुनाजी के संग से भगवान का संग प्राप्त हो जाता है*) इत्यादि शब्दों से यह बोध कराया है कि- हे श्रीयमुनाजी! सर्वदा प्रभु की द्रवीभूत रसात्मकस्वरूपा होने के नाते आपको लीलाविशिष्टप्रभु का संग प्राप्त है अतः जीव को आपका संग चाहे जिस प्रकार से भी क्यों न हो जाय, उसे प्रभुसंग प्राप्त हो ही जाता है ॥4॥

अथेत्यर्थान्तरोपक्रमे । पूर्वं चतुर्भिः श्लोकैरुत्कर्षवर्णनेन स्तुतिः कृता । अतः परमुत्कर्षवर्णनस्याऽशक्यत्वनिरूपणेन सा निरूप्यत इत्यर्थः । **भगवदीयानामपी**ति, भगवता भगवदीयत्वरूपपरमोत्कर्षं प्रापितानामपीत्यर्थः । **चरणपद्मजे**ति, चरणजेत्येतावतैव चारितार्थ्येऽपि पद्मपदोपादानस्याऽयमाशयः । यथा पद्मजो ब्रह्मा भगवतः प्रपञ्चे क्रीडार्थं भगवदाज्ञां च प्राप्य प्रपञ्चं सृष्टवान् स्वयं निरपेक्षस्तथेयमपि स्वगतभगवच्चरणरेणुभिः सेवौपयिकदेहसम्पादनेन भगवतो भक्तिमार्गप्रकटनेच्छामवगत्य स्वयमनपेक्षैव भगवत्क्रीडार्थं भगवदीयजनान् सृष्टवतीति । अत्र ब्रह्मवदाज्ञाऽभावोऽस्या भगवति साक्षात्सम्बन्धत्वेन[1] हार्दवित्तया । न हि हार्दविदो लोकेऽप्याज्ञाप्यन्ते, अतिचतुरत्वादिति भावः ।

प्रभुचरणों ने **अथ** शब्द से व्याख्यान आरंभ किया है, जिसका तात्पर्य है कि यहाँ से अब दूसरा प्रसंग आरंभ हो रहा है। यानि कि पूर्व के चार श्लोकों द्वारा आचार्यचरणों ने श्रीयमुनाजी के उत्कर्ष का वर्णन करके उनकी स्तुति की और इसके पश्चात् अब उनके उत्कर्ष का वर्णन करना भी अशक्य है- यह कह कर उनकी स्तुति कर रहे हैं। **भगवदीयानां** (*भगवदीयों के भी उत्कर्ष को बढ़ने वाली*) का अर्थ है- श्रीयमुनाजी तो भगवान द्वारा भगवदीयतारूप परम उत्कर्ष को प्राप्त हो जाने वाले भगवदीयों के भी उत्कर्ष को बढ़ाने वाली हैं। अब **चरणपद्मजा** (*चरणकमल से उत्पन्न हुई गंगाजी*) का अर्थ कर रहे हैं। यद्यपि गंगाजी के लिये कहना है तो उन्हें 'चरणजा' भी कहा जा सकता था परन्तु उन्हें चरणकमल से उत्पन्न हुई कहने का आशय यह है कि, जैसे पद्मज-ब्रह्माजी ने भगवान इस प्रपंच में क्रीड़ा कर सकें इसलिये एवं भगवदाज्ञा होने के भी कारण इस प्रपंच-सृष्टि का निर्माण किया किन्तु स्वयं ब्रह्माजी तो प्रपंच से निरपेक्ष ही रहे, ठीक उसी प्रकार गंगाजी ने भी अपने में मिली भगवान की चरणरेणु के प्रताप से जीवों को भगवत्सेवा में उपयोगी देह प्रदान की एवं भगवान की भक्तिमार्ग प्रकट करने की इच्छा को जान कर खुद अनपेक्षित रहकर भगवत्क्रीड़ा के लिये भगवदीयजनों की सृष्टि की। ब्रह्माजी को तो भगवान ने आज्ञा की और तब उन्होंने सृष्टि की रचना की परन्तु गंगाजी ने तो भगवान आज्ञा करें उसके पहले ही उनकी इच्छा जान ली और सृष्टि कर दी, जिससे ज्ञात होता है उन्हें भगवान का साक्षात् सम्बन्ध प्राप्त है अतः वे भगवान के हार्द को जानती हैं। लोक में भी ऐसा उदाहरण देखने को मिलता है कि, जो व्यक्ति हार्द समझता हो, उसे तो आज्ञा करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि वो चतुर है और सामने वाले के मन के भावों को कहे बिना स्वयं ही समझ लेता है।

तेनेति, चरणपद्मजात्वेनेत्यर्थः । चरणं हि निर्दोषपूर्णगुणं भक्तिरूपं च तज्जातत्वेनास्यामपि तद्गुणसङ्क्रमः । तथा[2]चाऽन्येषामपि

---

[1] सम्बन्धत्वेनेति **क-ख-ग-घ-**च. [2] तथाऽन्येषामिति **ख.**

सेविनां तथा करणमुचितम् । 'कारणगुणा हि कार्यगुणानामारम्भका' इति न्यायादिति भावः ।

तेन का अर्थ है- भगवान के चरणकमल से निकली होने के कारण गंगाजी भक्तिमार्गीया हैं। भगवान के चरण निर्दोष, पूर्णगुण एवं भक्तिरूप हैं और उनके वामचरण से निकली होने के कारण ये सभी गुण गंगाजी में भी मिल गये। इससे ये ज्ञात होता है कि, यदि गंगाजी भी अपने सेवकों को सकलसिद्धियाँ दे रही हैं, तो यह उचित ही है क्योंकि कहा ही गया है- कारण के ही गुण कार्यगुणों के आरम्भक होते हैं।

यया त्वयेति, त्वया पुष्टिमार्गीयया सर्वाङ्गसम्बन्धिन्या मिलनतो मुररिपोर्भक्तप्रतिबन्धनिवर्त्तकस्याऽत एव तद्दुःखहर्त्तुः प्रियम्भावुका । यथा श्रीयमुना साक्षात्सेवोपयोगिदेहसम्पादनेन [1]सेवकसृष्टिकरणात्तत्कृत[2]सेवया प्रियम्भावुका, तथा गङ्गा श्रीयमुनासङ्गानन्तरं तद्गतस्मरश्रमजलाणुसम्बन्धे साक्षात्सेवोपयोगिदेहादिसम्पादनपूर्वकं सेवक[3]सृष्टिकरणात्तथा जाता ।

अब **यया त्वया**(*हे श्रीयमुनाजी आप जैसी के कारण*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। **यया त्वया** का अर्थ है- हे श्रीयमुनाजी! आप जैसी पुष्टिमार्गीया, जिसका कि भगवान के सर्वांग से सम्बन्ध हुआ है, ऐसी आपसे मिलने के कारण गंगाजी भी मुररिपु की अर्थात् भक्तप्रतिबन्धों के निवर्तक भगवान की और इसी कारण भक्तों के दुःखों को हरने वाले भगवान की अत्यन्त प्रिय बन गयीं। जिस प्रकार श्रीयमुनाजी साक्षात् भगवत्सेवोपयोगिदेह प्रदान करती होने की दृष्टि से भगवत्सेवकों की सृष्टि करती हैं और उन भगवत्सेवकों द्वारा की जाने वाली भगवत्सेवा से प्रसन्न हुए भगवान की प्रिय बन गयीं, ठीक उसी प्रकार गंगाजी भी श्रीयमुनाजी का संग करने के पश्चात् उनमें मिले हुए भगवान के स्मरश्रमजलाणुओं का सम्बन्ध होने पर साक्षात् भगवत्सेवोपयोगिदेह का सम्पादन करके भगवत्सेवकों की सृष्टि करती हैं अतः वे भी भगवान की प्रिय बन गयीं।

सेवतां भवन्मिलितगङ्गासेवकानां च पूर्वोक्तसकलसिद्धिदा जातेत्यर्थः । अयमुत्कर्षः स्वानुभवेनोक्तः । परं नाऽत्र चित्रं किञ्चित् । यो हि यदाविष्टः स तदा तत्कार्यं करोति । भगवदाविष्टभक्त इव । अत एव "कस्याश्चित्पूतनायन्त्या" इत्यादिवाक्यानीति नाऽनुपपत्तिः ।

सेवतां च (*गंगाजी भी अपने सेवकों को सकलसिद्धि देने वाली बन गयीं*) का अर्थ है- हे श्रीयमुनाजी! आपसे मिल जाने के कारण गंगा भी अपने सेवकों को सकलसिद्धियाँ देने वाली बन गयी। गंगाजी का ऐसा उत्कर्ष आचार्यचरणों ने अपने अनुभव के द्वारा कहा है। और इसमें आश्चर्य करने वाली भी कोई बात नहीं है क्योंकि जिस व्यक्ति में जो आविष्ट हो जाता है, फिर वो व्यक्ति उस आविष्ट हुए व्यक्ति के जैसे ही कार्य करने लगता है; जैसे कि भगवान जिस भक्त में आविष्ट हो जाते हैं, फिर वह भक्त भी भगवान के जैसे ही कार्य करने लगता है। अत एव "गोपिकाएँ भगवान को ढूँढते-ढूँढते कातर हो गयीं थी और भगवन्मय हो जाने के कारण वे भगवान की लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। एक गोपी पूतना बन गयी तो दूसरी गोपी कृष्ण बनकर उसका स्तनपान करने लगी (श्री०भा० 10/30/15)" इत्यादि वाक्य प्राप्त होते हैं अतः इस बात में कुछ भी अप्रामाणिक नहीं है, तात्पर्य यह कि गंगाजी में भी श्रीयमुनाजी आविष्ट हुई हैं और उस कारण अब यदि गंगाजी भी श्रीयमुनाजी के जैसे कार्य करने लगें, तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है- यह बताना चाह रहे हैं।

पूर्वमिति, यद्यपि पूर्वमाचार्यवर्यप्राकट्यात्पूर्वं पुराणादिष्वपि सरस्वतीसङ्गतिजनितमुत्कर्षमभिधाय [4]भवतीसङ्गतिज उत्कर्षः पठितः । परन्तु "सा राजन् दर्शनादेव ब्रह्महत्यापहारिणी"त्यादिरूपो न तु पूर्वोक्तरूपः । श्रीयमुनाया निजाचार्यप्राकट्यात्पूर्वमेवंविधस्वरूपाज्ञानात्तदनिरूपणात् । अतोऽयमेवोत्कर्ष एतत्सङ्गत्यनन्तरं भावी मन्तव्य इति भावः । एतादृश्येति, स्वसम्बन्धेन स्वसमानगुणसम्पादिकयेत्यर्थः ।

अब हम **पूर्वम्** (*यद्यपि पूर्व में गंगा का उत्कर्ष कहा गया है तथापि*) इत्यादि शब्दों का अर्थ कर रहे हैं। **पूर्वम्** का अर्थ है, आचार्यचरणों के प्राकट्य से पूर्व यद्यपि पुराण इत्यादि में भी गंगा का सरस्वती से मिलने के पश्चात् उसका उत्कर्ष कहा गया है और फिर हे श्रीयमुनाजी! आपकी संगति से उत्पन्न हुआ उत्कर्ष भी कहा गया है परन्तु वो उत्कर्ष "सा राजन् दर्शनादेव" इस श्लोक में कहा गया उत्कर्ष है, इस अष्टक में बताया गया

---

[1] सेवकसृष्टिकर्तृकत्वादिति ग–घ. [2] तत्कृतसेवायामिति च. अ. [3] पूर्वकसेवाकारणादिति ग–घ. पूर्वकसेवाकरणादिति क. पूर्वकं सेवाकरणादिति ङ. पूर्वकं तत्सेवाकरणादिति ख–च. पूर्वकं सेवाकारणादिति मुद्रितग्रन्थे स्वीकृतः । अ ग्रन्थे उपरिनिर्दिष्टोन्वर्थः पाठः वर्तते सोऽस्माभिः स्वीकृतः [4] भवत्सङ्गतिज इति च. भगवत्सङ्गतिज इति ग.

उत्कर्ष नहीं। क्योंकि निजाचार्यचरणों के प्राकट्य से पूर्व श्रीयमुनाजी के ऐसे स्वरूप का जब किसी को ज्ञान ह नहीं था, तो फिर उनके ऐसे उत्कर्ष का निरूपण कौन करता ? अतः श्रीगंगाजी का ऐसा उत्कर्ष तो उन श्रीयमुनाजी का संग होने के पश्चात् ही उत्पन्न हुआ है, यह मानना चाहिए। **एतादृश्या त्वया** (*हे श्रीयमुनाजी ! ऐसे उत्कर्ष वाली आप जैसी की तुलना*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। इसका अर्थ है- हे श्रीयमुनाजी ! आप जैसी जो कि मात्र आपसे सम्बन्ध हो जाने के द्वारा व्यक्ति में आपके समान गुण उत्पन्न कर देती है, ऐसी आप जैसी श्रीयमुनाजी की तुलना कैसे और कौन कर सकता है ?

भगवत्पत्नीत्वादिति, पत्नीत्वादेव सपत्नीत्वं न तु पुष्टिमार्गीयलीलासम्बन्धित्वभक्तानुगुणत्वादिगुणैरित्यर्थः । **तत्राऽपीति**, पत्नीत्वेऽपीत्यर्थः । **भक्तानुगुणत्वमिति**, दोषनिवर्त्तकत्वेनेत्यर्थः । गुणस्तु हरिप्रियपदेनैव सिद्ध इति भावः । **मनसि मे सदा स्थीयतामिति** मूले । मनसो भावाधिष्ठानत्वेन तत्र पूर्वोक्तधर्मवत्याः सततस्थितौ भावस्याऽपि निर्दोषपूर्णगुणत्वं सेत्स्यतीति भावः ।।५।।

अब हम **भगवत्पत्नीत्वात्** (*हे श्रीयमुना ! तुम्हारे जैसी की समानता कोई नहीं कर सकता। यदि कोई कर सकता है, तो श्रीलक्ष्मीजी कर सकती हैं क्योंकि श्रीलक्ष्मीजी और आप दोनों भगवान की पत्नी हैं*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। प्रभुचरण यहाँ यह कहना चाह रहे हैं कि, केवल भगवान की पत्नी होने के नाते ही श्रीलक्ष्मीजी श्रीयमुनाजी की सपत्नी(पत्नी के समान) हैं, किन्तु श्रीयमुनाजी में विद्यमान पुष्टिमार्गीयलीला सम्बन्धी गुणों एवं भक्तानुगुणत्व आदि गुणों के दृष्टिकोण से उनकी समानता श्रीयमुनाजी से नहीं हो सकती। ये गुण लक्ष्मीजी में नहीं हैं। **तत्रापि** का अर्थ है- भगवान की पत्नी होने पर भी श्रीलक्ष्मीजी श्रीयमुनाजी की बराबरी नहीं कर सकतीं क्योंकि श्रीयमुनाजी में भक्तानुगुणत्व है अर्थात् भक्तों के दोषों को दूर कर देने का गुण है, जो कि श्रीलक्ष्मीजी में नहीं है। और श्रीयमुनाजी में ये गुण है, यह तो 'हरिप्रियकलिन्दया (*श्रीयमुनाजी भक्तों के दोष दूर कर देने वाली हैं*)' इसी पद से सिद्ध हो जाता है- यह भाव है। अब हम **मनसि मे सदा स्थीयताम्** (*ऐसी श्रीकालिन्दी-यमुना मेरे मन में सदा विराजें*) इत्यादि मूलग्रन्थ के शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। आचार्यचरण श्रीयमुनाजी को अपने मन में विराजने का मनोरथ इसलिये कर रहे हैं क्योंकि समस्त भावों के टिकने का स्थान मन है और ऐसी सामर्थ्यशालिनी श्रीयमुनाजी यदि सतत मन में विराजेंगी तो मन के भाव भी उनके जैसे निर्दोष और पूर्णगुण वाले बन जायेंगे- यह भाव है ॥5॥

एतादृश्यामिति । भक्तोत्कर्षाधायिकायां भक्तानुगुणायां चेत्यर्थः । एतेनैतादृगुपकर्त्र्यां प्रत्युपकृत्यसम्भवेन यथाकथञ्चिन्नमनमेव माहात्म्यज्ञानात्सम्भवति नाऽन्यदित्युक्तं भवति । **नमनपीति** । भगवति नमनं सम्भवत्यपि । भगवन्माहात्म्यस्य शास्त्रसिद्धत्वात् । भवत्यां तु लीलासृष्टिप्रवेशे तादृग्भावसम्पत्तौ तत एव तथाविधभावावगतौ तद्भवतीति दुर्लभमेवेत्यर्थः ।

अब हम **एतादृश्याम्** (*ऐसी श्रीयमुनाजी*) शब्द का अर्थ है- ऐसी भक्तों के उत्कर्ष एवं भक्तों के दोष दूर करने वाली श्रीयमुनाजी। इससे प्रभुचरण यह कहना चाह रहे हैं कि, ऐसी भक्तों का उपकार करने वाली श्रीयमुनाजी का उपकार/सेवा/स्तुति क्या कोई कर सकता है ? अतः जो किया जा सकता है, वह तो नमन ही किया जा सकता है, और वो नमन भी श्रीयमुनाजी का माहात्म्यज्ञान हो जाने के पश्चात् ही संभव बन सकता है, अन्यथा नहीं। जबकि भगवान को तो नमन करना संभव बन भी सकता है क्योंकि भगवान का माहात्म्यज्ञान तो समस्त शास्त्रों में स्पष्टतया वर्णित है अतः भगवान को तो नमन किया भी जा सकता है **परन्तु इस अष्टक में श्रीयमुनाजी का जैसा स्वरूप बताया गया है, वैसा स्वरूप शास्त्रों में तो प्राप्त ही नहीं होता** अतः प्रभुचरण यहाँ यह भाव बताना चाह रहे हैं कि, हे श्रीयमुने ! आपको तो नमन भी कोई तभी कर सकता है, जब वह लीलासृष्टि में प्रवेश कर चुका हो और भगल्लीला के समस्त भावों को प्राप्त कर ले और तब लीला के उन सभी भावों से अवगत होने के पश्चात् आपके वास्तविक स्वरूप को जान लेने के पश्चात् ही उसके लिये आपको नमन करना संभव बन सकता है अतः आपश्री आज्ञा क़र रहे हैं कि, हे श्रीयमुने ! आपको तो नमन कर पाना भी दुर्लभ ही है- यह अर्थ है।

अद्भुतत्वमेवेति । मूले अति[१]शब्दाद[२]द्भुतत्वमपि तथाविधं वाच्यम् । तत्राऽयं भावः । भगवानद्भुतकर्मा, "कृष्णायाऽद्भुतकर्मण"

---

[१] अत्युपसर्गादिति **ख–ग–घ.** [२] अद्भुतमपीति **क–ग–घ.**

इत्याचार्यैर्निरूपितत्वात् । तच्च "असाधनं साधनं करोति" इत्यादिरूपम् । यथाऽसाधनं कामादि प्रमेयबलप्राकट्येन साधनं भगवद्भावनाहेतुत्वेन । तत्र विषयत्वेन स्वप्रवेशात् । अत एव 'गोप्य: कामादि'त्यादिवाक्यानि । उक्तं चाऽऽचार्यवर्यैः 'कामान्ता च[१] कृतिः स्फुटा । कामोद्भूते तथा प्रीतिरि'ति । एवं सति भगवान्नसाधनमपि स्वरूपबलेन साधनं करोति । तथाविधस्वरूपप्रदर्शनेन[२] तादृग्भावजननात् । अत्र तु भावनाभावेऽपि असाधनं पय:पानं पिपासाहेतुकं तथा फलसाधकं साधनीकरणाभावेऽपीत्यत्यद्भुतत्वमेतच्चरित्रस्येति भावः । न हि पिपासया पानीयपाने काऽपि तद्भावना सम्भवति । अतस्तदसाधनमेव ।

वैसे प्रभुचरणों ने **अद्भुतत्वमेव** कहा है परन्तु मूलश्लोक में 'अति-अद्भुत' कहा गया है अतः प्रभुचरणों का भी तात्पर्य अति-अद्भुतता से ही है। श्रीयमुनाजी के चरित्र को अति-अद्भुत कहने का भाव यह है कि, भगवान तो अद्भुतकर्मा(अद्भुत कर्म करने वाले)हैं ही, जैसा कि आचार्यचरणों ने "अद्भुतकर्म करने वाले कृष्ण को नमस्कार(शा0प्र0-1)" इस कारिका में कहा भी है ; और इसके प्रकाश में भी आपश्री लिखा है- भगवान की अद्भुतता यह है कि वे असाधन को भी साधन बना देते हैं। यानि कि काम-क्रोध इत्यादि जो भगवत्प्राप्ति में असाधन हैं यानि कि साधन नहीं हैं, उन्हें भी भगवान अपने प्रमेयबल से उनकी प्राप्ति के साधन बना देते हैं। क्योंकि जब जीव इन असाधन काम-क्रोध इत्यादि द्वारा ही सही परन्तु भगवत्सम्बन्धित चिंतन या विचार करता है, तो भगवान स्वयं इनमें विषयरूप से प्रविष्ट हो जाते हैं और उसे अपनी प्राप्ति करवा देते हैं। उदाहरण के लिये कंस भय के कारण सतत भगवान का चिंतन किया करता था तथापि, कारण कि भले ही भय से ही सही परन्तु उसने आखिरकार चिंतन तो भगवान का ही किया अतः भगवान ने इस दृष्टिकोण से उसकी मुक्ति कर दी। यद्यपि 'भय' वास्तव में भगवत्प्राप्ति का साधन कभी नहीं बन सकता परन्तु भगवान तो अद्भुतकर्मा हैं अतः उन्होंने असाधन को भी साधन बना दिया- यह अर्थ है। अत एव "नारदजी ने युधिष्ठिर से कहा- गोपियों ने प्रेम के कारण, कंस ने भय से, शिशुपाल आदि ने द्वेष से, यदुवंशियों ने परिवारसम्बन्ध से, तुम लोगों ने स्नेह से और हम लोगों ने भक्ति से भगवान को प्राप्त किया है(श्री0भा0 7/1/30)" इत्यादि वाक्य प्राप्त होते हैं। आचार्यचरणों ने भी "कामान्ता च कृतिः" यह कहा है। इस प्रकार से भगवान अपनी सामर्थ्य से असाधन को भी साधन बना देते हैं। यानि कि जिसने जैसी भावना की, भगवान उसे वैसे भाव का दान करते हैं अर्थात् यदि किसी ने कामभाव से भगवान का चिंतन किया तो उसे कामभाव से प्राप्त होंगे और यदि किसी ने क्रोध से उनका चिंतन किया तो वैसे प्राप्त होंगे जैसे कंस-शिशुपाल को प्राप्त हुए थे किन्तु श्रीयमुनाजी का चरित्र तो इससे भी अद्भुत है क्योंकि श्रीयमुनाजी तो ऐसी हैं कि भले ही यमुनापान करते समय भक्त उनकी भावना न भी करे और भले ही प्यास मिटाने का ही भाव रखे, तब भी श्रीयमुनाजी का चरित्र ऐसा अद्भुत है कि यद्यपि प्यास मिटाने के लिये किया गया उनका पान असाधन है तथापि वे उसे फलसाधक बना देती हैं, जिसे जीव ने साधन समझ कर भी नहीं किया है ; अतः श्रीयमुनाजी का ऐसा चरित्र तो अति-अद्भुत ही है- यह भाव है। क्योंकि प्यास मिटाने के लिये यमुनापान करने वाले को कभी भी भगवद्भाव तो उत्पन्न नहीं हो सकता अतः यह तो असाधन ही है और ऐसे जीव में भी भगवद्भाव को उत्पन्न कर देना तो श्रीयमुनाजी का अति-अद्भुत चरित्र ही है।

ननु यमयातनाभावस्तु भगवन्नाम्नाऽपि भवतीति को विशेष एतच्चरित्र इति चेत्तत्राऽऽह**र्जातु** इति मूले । कदाचिन्नामापराधेषु सत्सु गुरुवैमुख्यदु:सङ्गवर्जनरूपाङ्गद्वयाभावे न फलत्यपि नाम, न तथा प्रकृते । न हि पिपासया पाने नामग्रहण इव किञ्चिदङ्गमपेक्ष्यम् । अतो महानेव विशेष इति भावः । नन्वत्र कोपपत्तिः [३]पय:पानेन यमयातनाभावे । लौकिकेन तेनाऽदृष्टाजननात् । नाऽपि दृष्टद्वारा, असम्भवात् । न हि पिपासाहेतुकपय:पानस्य यमयातनाभावहेतुत्वं क्वचिदपि लोके सिद्धमित्याशंक्याऽऽह**र्यमोऽपीति** मूले ।

किसी को यह शंका होती है कि, यमयातना से बच जाना तो भगवन्नाम लेने से भी संभव बन सकता है,

---

१ तत्कृतिरिति च. २ दर्शनेनेति क-ख-ग-घ. प्रदर्शने इति च. ३. पय:पानेन यमयातनाभावहेतुत्वं क्वचिदपि लोके सिद्धमित्याङ्क्याऽऽहु: यमोऽपीति ख. पय:पानेन यमयातनाभावः । लौकिके पय:पाने कृते अदृष्टे अलौकिको यमयातनाभावः । तस्याऽनुत्पत्तिः । नापि दृष्टद्वारा । असम्भवादित्यादि: च.

फिर इसे श्रीयमुनाजी के ही चरित्र की विशेषता क्यों मानी जाय ? इस शंका का निवारण करने के लिये आचार्यचरण मूलश्लोक में **न जातु यमयातना** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य इसमें यह है कि, कदाचित् भगवन्नाम लेने में होने वाले दस प्रकार के अपराधों के कारण एवं गुरुविमुखता और दु:संग इन दोनों का वर्जन करने जैसे अंग यदि न हों, तो भगवन्नाम भी फलित नहीं होता। किन्तु श्रीयमुनाजी के विषय में तो यह न्यूनता भी नहीं है क्योंकि प्यास मिटाने के लिये यमुनाजल का पान करने के द्वारा जो भगवद्भाव प्राप्त होता है, उसमें तो उन अंगों की भी अपेक्षा/आवश्यकता नहीं रहती, जो भगवन्नाम लेने में ऊपर बताये गये थे अत: श्रीयमुनाजी में यह बात तो विशेष ही है- यह भाव है। परन्तु किसी को शंका यह होती है कि, यमुनापान करने वाले को यमयातना भुगतनी नहीं पड़ती, इस बात में क्या तर्क है ? क्योंकि प्यास मिटाने जैसा लौकिककार्य आखिर पुण्य कैसे उत्पन्न कर सकता है ? और ऐसा किसी ने होता देखा भी नहीं है कि, किसी ने यमुनापान किया और उसकी यमयातना दूर हो गयी क्योंकि खुद के जीवित रहते दूसरे की यमयातना दूर होती देख पानी तो असंभव बात है। अत: प्यास मिटाने लिये किया गया यमुनापान यमयातना को दूर कर देता हो, ऐसा तो लोक में किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता, तो फिर किस आधार पर कहा जा सकता है कि यमुनापान करने से यमयातना मिट जाती है ? यदि ऐसी शंका होती हो तो, आचार्यचरण **यमोऽपि** इत्यादि मूलश्लोक में इसका समाधान कर रहे हैं।

श्रीयमुना हि यमभगिनी, सूर्यापत्यत्वात् । तत्राऽपि कनिष्ठा, यमोत्पत्त्यनन्तरं तद्दोषपरिहाराय रविणा पश्चादुत्पादितत्वात् । अतो यमसन्माननीया । तस्या: पय:पाने तत्सुतत्वम् । पय:शब्दस्य श्लिष्टार्थकत्वात् । वस्तुतोऽपि पय:पानेन तत् सुतत्वम् । पञ्चमहाभूता तदपेक्षया जलस्यैव मुख्यत्वं, पयसैव देहोत्पत्ते: । भूतान्तरापेक्षया पयस एव विशेषतो देहोत्पादकत्वात् । "पञ्चम्यामाहुतावाप: पुरुषवचसो भवन्ती"ति श्रुते: । तादृशेषु दोषसत्त्वेऽपि भागिनेयत्वेनाऽतिमान्यत्वात्स्वत एव कथं यमस्ताँस्तथा करोतीत्यर्थ: ।

भाव यह है कि, श्रीयमुनाजी यमराज की बहन हैं क्योंकि यम की भाँति वे भी सूर्यपुत्री हैं। तत्रापि यम की छोटी बहन हैं क्योंकि यम के जन्म लेने के पश्चात् यम के दोषों का परिहार करने के लिये यम के पश्चात् रवि-सूर्य द्वारा श्रीयमुनाजी की उत्पत्ति हुई। चूँकि श्रीयमुनाजी ने यम के दोषों का परिहार किया अत: यम ने भी उनको सम्मान दिया है। श्रीयमुनाजी का पयपान करने वाला उनका पुत्र बन जाता है क्योंकि 'पय' शब्द का दूसरा अर्थ 'दूध' भी होता है। और यदि वास्तविकता देखी जाय तो उनके जल का पान करने वाला भी उनका पुत्र ही कहलायेगा क्योंकि पंचमहाभूतों(जल-पृथ्वी-तेज-वायु-आकाश) में भी जल की ही मुख्यता है क्योंकि जल से ही देह की उत्पत्ति हुई है। क्योंकि "पञ्चम्यामाहुतावाप: पुरुषवचसो(छा0उप- 5/3/3)" इस श्रुति के अनुसार भी अन्य महाभूतों की तुलना में जल ही विशेषरूप से देह की उत्पत्ति करता है। इसलिये ऐसा श्रीयमुनाजी का पुत्र भले ही दोषयुक्त क्यों न हो, परन्तु अपना भाँजा होने के कारण उसे अति मान्यता देने के कारण यमराज उसे कैसे यातना दे सकता है- यह अर्थ है।

एवं दोषनिवारकमद्भुतचरित्रमुक्त्वा फलसम्पादकमद्भुतचरित्रमाहु: प्रियो भवतीति मूले । भगवदङ्गीकृतानां भगवदुक्तसाधनैर्भगवति प्रीतिसिद्धिर्भगवच्छास्त्रसिद्धा, न तु भगवतो जीवेषु प्रीति:, तेषामविद्यादिदोषग्रस्तत्वात् । न हि निर्दोष: सदोषेषु रमते प्रीणाति च । तव पुष्टिमार्गीयाया: सेवनात्सर्वभावेन चेतसस्त्वदधीनत्वकरणात्त्वदीयत्वे सम्पन्ने स्वसम्बन्धिसम्बन्धाद्धरे: सर्वदु:खहर्त्तुस्तादृक्स्वभावस्य स [१]सेवकस्तदीय: प्रियो भवतीत्यर्थ: । इदमपि तवाऽद्भुतचरित्रम्, शास्त्रासिद्धत्वात्, लोकेऽपीतरतोषहेतुकृतेरितरतोषासाधकत्वाच्च ।

इस प्रकार से दोषनिवारण करने वाला श्रीयमुनाजी का अद्भुतचरित्र कह कर अब आचार्यचरण मूलश्लोक में **प्रियो भवति** इत्यादि शब्दों से फल सम्पादन कराने वाला उनका अद्भुतचरित्र कह रहे हैं। वैसे वास्तविकता तो यह है कि भगवान द्वारा स्वीकार कर लिये जाने वालों को तो भगवान ने जो साधन बताये हैं उन्हीं साधनों द्वारा भगवान में प्रीति होने वाली बात तो शास्त्रसिद्ध बात है, किन्तु खुद भगवान ही जीवों से प्रीति करने लग जाते हैं, यह बात तो शास्त्र में कहीं नहीं बतायी गयी है क्योंकि जीव तो अविद्या आदि दोषों से ग्रस्त होते हैं। यह तो साफ़ बात है कि, निर्दोष-भगवान कभी भी सदोषजीवों के संग रमण नहीं करते और न

---

[१] स्वसेवकस्तदीय इति च.

ही प्रीति करते हैं। किन्तु हे श्रीयमुने ! जब जीव आप जैसी पुष्टिमार्गीया की सेवा करके यानि अपने चित्त को सर्वभाव से आपके अधीन कर देने से आपका तदीय बन जाता है, तब उसे हरि से सम्बन्धी से(श्रीयमुनाजी से)सम्बन्धित हुआ देखकर वह जीव भी हरि-सर्वदुःखहर्ता का, यानि जिस भगवान का स्वभाव ही अपने भक्तों के दुःखों का हरना है, ऐसे भगवान का तदीय/प्रिय बन जाता है- यह अर्थ है। श्रीयमुनाजी का यह चरित्र भी अद्भुत ही है क्योंकि शास्त्रों में भी श्रीयमुनाजी के ऐसे चरित्र का वर्णन नहीं मिलता ; लोकव्यवहार में भी ऐसा कहीं देखा नहीं जाता कि किसी एक को प्रसन्न करने से कोई दूसरा प्रसन्न हो जाता हो।

ननु किं प्रमाणमत्र कुत्राऽप्येवं फलस्याऽदृष्टत्वादित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाहुर्यथा गोपिका इति मूले । यथा व्रतप्रसङ्गे फलप्रकरणीयगुणगानप्रसङ्गे च तव सेवनाद् गोपिका हरेस्तथा जाताः । तथाऽन्योऽपि भगवत्सेवकस्तथा भवतीति भावः । अथवा । यथा गोपिका इति दृष्टान्तेन न प्रीतिमात्रं[1] किन्तु यथा ताः सर्वभावेन प्रीतिविषया भगवतस्तथाऽयमपि भवतीति भावः ।।६।।

यदि कोई ये शंका करे कि, किसी एक को प्रसन्न करने से कोई दूसरा प्रसन्न हो जाता है- ऐसा फल मिलना तो लोक में कहीं देखा-सुना नहीं गया है अतः इस कथन का क्या प्रमाण है, तो आचार्यचरण मूलश्लोक में कहे **यथा गोपिका** इत्यादि शब्दों से इस शंका का समाधान कर रहे हैं। इससे आचार्यचरण श्रीभागवत के व्रतचर्या एवं फलप्रकरण में जो गोपिकाओं ने भगवद्गुणगान किया है, उस ओर संकेत करना चाह रहे हैं, जिसमें बताया गया है कि, श्रीयमुनाजी की सेवा करने के कारण गोपिकाएँ भगवान की प्रिय बन गयीं। आपश्री इससे यह आज्ञा करना चाह रहे हैं कि, जैसे श्रीयमुनाजी की सेवा करने के कारण गोपिकाएँ भगवान की प्रिय बन गयीं, ठीक वैसे ही भगवान का कोई अन्य सेवक भी श्रीयमुनाजी की सेवा करे तो वह भी भगवान का प्रिय बन जाता है। अथवा तो "**यथा गोपिका** (*जिस प्रकार से गोपिकाएँ, वैसे ही तुम भी*)" इस दृष्टान्त द्वारा यह समझ लें कि श्रीयमुनाजी कि सेवा करने से भगवान न केवल उससे प्रीति करने लगते हैं परन्तु उससे भी अधिक जिस प्रकार गोपिकाएँ सर्वभाव से भगवान की प्रीतिविषयक बन गयीं, वैसे वह भी **सर्वभाव** से भगवान का प्रीतिविषयक बन जाता है अर्थात् भगवान सर्वभाव से उससे प्रीति करने लगते हैं- यह भाव है ॥6॥

आवश्यकेति । देहस्य देहान्तरारम्भकत्वमावश्यको दैहिको धर्मः "प्रज्ञया [2]शरीरं समारूह्ये"त्यादिश्रुतेः । किं बहुना । मुक्तावपि भगवच्छास्त्रे सेवोपयोगिवैकुण्ठादिषु देहान्तरम् । अत एवोक्तमाचार्यैः सेवाफलग्रन्थे– "सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्वि"ति । तस्मिन्नपि त्वत्सम्बन्धे सान्निध्यसम्पादिते [3]दैशिकेऽपि सम्बन्धे यत्र तथाविधभक्तिसिद्धिस्तत्र तत्र जातानां यमयातनाभावे का शङ्केति कैमुतिकन्यायो निरूप्यत इत्यर्थः ।

अब हम **आवश्यकदैहिकधर्मेऽपि** (*आवश्यक दैहिकधर्म के विद्यमान रहते हुए भी यदि हे श्रीयमुनाजी !आपका सम्बन्ध होने पर मुक्ति से भी बड़ी भक्ति की प्राप्ति हो सकती हो, वहाँ यमयातना नहीं होगी- इस बात में क्या शंका रह जाती है ?*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। 'दैहिकधर्म' शब्द से प्रभुचरणों का तात्पर्य एक देह से दूसरी देह को पैदा करने वाला अवश्यंभावी धर्म है ; जैसा कि "शरीरं समारुह्य (कौषीतकि उपनिषद् 3/4)" इस श्रुति में बताया गया है कि, एक देह के द्वारा दूसरी देह उत्पन्न होती है। और क्या कहें, भगवच्छास्त्र में कहा गया है कि, मुक्ति प्राप्त होने पर भी वैकुण्ठादि में सेवोपयोगी दूसरी देह प्राप्त होती ही है। अतएव आचार्यचरणों ने सेवाफलग्रन्थ की विवृति में भी "भगवत्सेवा में प्राप्त होने वाला तीसरा फल भगवान के वैकुण्ठादि में प्राप्त होने वाली सेवोपयोगिदेह है(1)"- यों कहा है। प्रभुचरणों का तात्पर्य यह है कि, जहाँ ऐसी लौकिकदेह में दैहिकधर्म के रहते हुए भी हे श्रीयमुने ! यदि उसका आपसे सम्बन्ध हो जाय, उसे आपका सान्निध्य मिल जाने पर यानि– कि आपकी समीपता प्राप्त हो जाने से उसे ऊपर कही भक्ति की सिद्धि प्राप्त हो सकती हो, वहाँ जो आपके सान्निध्य में ही उत्पन्न हुए हों, उनकी यमयातना दूर हो जाने में क्या शंका रह जाती है ? यों आपश्री ने कैमुतिकन्याय द्वारा कहा है।

तव सन्निधाविति । एतेन दुष्टसन्निधानकृतत्वत्तिरोभावाभावस्थल एव तथात्वमित्याशयो ज्ञेय इति बोधितम् ।

*अब **तव सन्निधौ** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। इससे आपश्री आचार्यचरणों का यह भाव कहना चाह*

---

[1] प्रतीतमात्रमिति च. [2] शरीरमारुह्येति **ख.** [3] दैहिकेऽपीति **ग.** युक्तन्तु यथानिवेशमिति न प्रस्मार्य्यम् ।

रहे हैं कि हे श्रीयमुने! आपकी सन्निधि में मुझे तनुनवत्व प्राप्त हो"; जिससे यह सिद्ध होता है कि श्रीयमुनाजी में सर्वत्र नहीं परन्तु दुष्टों की सन्निधि द्वारा जिस स्थल पर हे श्रीयमुने! आपका तिरोभाव न हुआ हो, ऐसे विशिष्ट यमुनास्थल पर ही तनुनवत्व प्राप्त होगा- यह बताना चाह रहे हैं। अनुवादक का व्यक्तिगत मत यह है कि, श्रीगोकुलनाथचरणों ने पूर्वपंक्ति में जो व्याख्यान किया है, वह आधुनिक देशकाल की परिस्थिति को देखकर किया होगा। यद्यपि श्रीयमुनाजी तो सर्वत्र ही पावन और शुद्ध हैं, परन्तु अधुना सामयिक दुष्टों द्वारा श्रीयमुनाजी के संग होते दुर्व्यवहार एवं श्रीयमुनाजी के स्वरूप एवं वहाँ की परिस्थिति से कहीं जीव का भाव डाँवांडोल न हो जाय इसी भीतिवश आपश्री ने ऐसा व्याख्यान किया होगा। तात्पर्य यह कि इस व्याख्यान से अन्यथा अर्थ लेकर भ्रमित होकर श्रीयमुनाजी के स्वरूप में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं समझनी चाहिए।

पूर्वदेहनिवृत्तिरिति । घटस्य पाकेन[१] मृत्त्वनिवृत्तिवन्निवृत्तिरत्र वाच्या । अन्यथा पूर्वतनोर्नवत्वमिति न व्याख्यातं स्यादिति भावः ।

अब **पूर्वदेहनिवृत्तिः** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। यहाँ पूर्वदेहनिवृत्ति (*पूर्व देह की निवृत्ति*) का अर्थ यों समझना चाहिए, जैसे कि घड़े के पक जाने के पश्चात् मिट्टि की निवृति हो जाती है, ठीक उसी प्रकार श्रीयमुनाजी की सन्निधि से पहले की देह में से लौकिकता निवृत्त होकर अलौकिकता आ जाती है। यदि ऐसा अर्थ न होता, तो श्रीगोकुलनाथचरण "पूर्वशरीर की नूतनता प्राप्त हो जाती है" यों व्याख्या न करते- यह भाव है। समझना चाहिए कि मूलश्लोक में आए 'तनुनवत्वम्' शब्द से श्रीगोकुलनाथचरणों का अभिप्राय यह है कि जो तनु-शरीर अभी प्राप्त है, वही शरीर श्रीयमुनाजी के सान्निध्य से नया हो जाता है। जबकि श्रीपुरुषोत्तमचरण अपनी टीका में इसका अभिप्राय यह लिखते हैं कि, इस शरीर की निवृत्ति हो जाती है और कोई दूसरा नया अलौकिक शरीर प्राप्त होता है।

दुर्लभतमा नेति । त्वत्सम्बन्धस्यैव दुर्लभत्वेन सा भगवति दुर्लभा[२] तु भवत्येवेति तमप्प्रत्ययाशयो बोध्यः । **प्रतिबन्धक** इति । भक्त्युत्पत्तावित्यर्थः। **त्वत्सम्बन्धादिति** । यथा नरकासुरनिरुद्धकन्यानुग्रहाय तत्सम्बन्धाज्जलदोषरूपमुरस्य निवारकस्तथा त्वत्सम्बन्धात्त्वदीयसर्वसेवकदोषनिवारक इति भावः । एतेन त्वत्सम्बन्धिनां भगवद्रतिप्रतिबन्धनिरसनायाऽपि यत्नो न विधेय इत्युक्तम् ।

अब हम **दुर्लभतमा न** (*इस प्रकार के शरीरपरिवर्तन होने मात्र से ही मुररिपु-प्रभु में रति उत्पन्न होनी दुर्लभतमा नहीं रहती*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। प्रभुचरणों ने 'दुर्लभतमा' शब्द से तर-तम भाव द्योतित किया है (*यानि दुर्लभ-दुर्लभतर-दुर्लभतम*), जिससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, हे श्रीयमुने! जहाँ आपसे सम्बन्ध हो पाना ही दुर्लभ है, वहाँ आपकी कृपा प्राप्त करके भगवान में रति हो जानी तो दुर्लभतम ही है। **प्रतिबन्धके** (*कदाचित् भगवद्रति में कोई प्रतिबन्ध होता भी हो, तो जैसे भगवान जलदोषरूप मुरदैत्य के निवारक बने, वैसे ही हे श्रीयमुनाजी! आपका सम्बन्ध होने से जीव के सभी दोष निवारित हो जाते हैं- यह बात आपश्री ने 'मुरारि' पद के द्वारा कही है*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। प्रतिबन्धक का अर्थ है- भक्ति उत्पन्न होने में जो प्रतिबन्धक होते हैं, वे श्रीयमुनाजी से सम्बन्ध हुआ होने के कारण दूर हो जाते हैं। अब **त्वत्सम्बन्धात्** (*हे श्रीयमुनाजी! आपका सम्बन्ध होने से जीव के सभी दोष निवारित हो जाते हैं- यह बात आपश्री ने 'मुरारि' पद के द्वारा कही है*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। इनका तात्पर्य यह है कि, जैसे नरकासुर/भौमासुर ने जिन कन्याओं को बन्धक बना कर रखा हुआ था और जो प्रभु से मिल नहीं पा रहीं थीं, उन कन्याओं पर अनुग्रह करने के लिये भगवान जैसे नरकासुर द्वारा नियुक्त किये गये जलदोषरूप 'मुर' नामक दैत्य के निवारक बने, उसी प्रकार हे श्रीयमुनाजी! आपसे सम्बन्धित तदीय-भगवदीय सभी सेवकों के दोषों के भगवान निवारक बनते हैं- यह भाव है। इससे प्रभुचरण यह बात भी बताना चाह रहे हैं कि, हे श्रीयमुने! आपसे सम्बन्धित जीवों को भगवद्रति में आड़े आने वाले प्रतिबन्धकों का निरसन करने का यत्न भी नहीं करना पड़ता, क्योंकि आपसे सम्बन्ध होने मात्र से वे अनायास ही दूर हो जाते हैं।

मुकुन्दप्रिय इति मूले । पदतात्पर्यं तु–भगवान् मुकुन्दो मोक्षदाता गृह एव चतुर्विध[३]पुरुषार्थं भावेन स्वयमाविर्भूयाऽनुभावयन् तादृशसमाजसख्यसम्पादनेन स्वतन्त्रभक्त्या भगवदीयत्वसम्पादकस्तादृशस्य प्रियात्वेन तद्धर्मवत्त्वात्

---

१ परिपाके नामत्वनिवृत्तिवत् इति पाठः **अ.** २ दुर्लभा न भवत्येवेति **ग.** ३ चतुर्विधपुरुषार्थभावेनेति **ख.**

भगवदीयत्वसम्पादकत्वमस्या इति स्वतन्त्रभक्तिदा[1]यिकात्वेन परमोत्कर्षो निरूपितो भवतीति तथा सम्बोधनमिति । **अत: कारणादिति** । यतो यथाकथञ्चित्त्वत्सम्बन्धे प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकभक्तिप्राप्तिसौलभ्यमत: कारणादित्यर्थ: । **यावदाधुनिकेति** । नवीने अलौकिके तु शरीरान्तरे सम्पन्ने लीलारसानुभव एव त्व[2]त्तीरे भवेदिति भाव: ।

अब हम मूलश्लोक में श्रीयमुनाजी को '**मुकुन्दप्रिये**' क्यों कहा गया, इसकी व्याख्या करते हैं। पद का तात्पर्य है- भगवान 'मुकुन्द' हैं अर्थात् मोक्षदाता हैं; यानि कि घर बैठे ही भाव द्वारा स्वयं आविर्भूत होकर चतुर्विधपुरुषार्थ का अनुभव कराते हुए जीव को उसके जैसे ही तादृशी/भावुकजीवों का सख्यभाव उपलब्ध करवा कर स्वतन्त्रभक्ति के द्वारा उसमें भगवदीयत्व उत्पन्न कराने वाले हैं। और ऐसे मुकुन्द की प्रिया होने के कारण श्रीयमुनाजी में भी ये सभी धर्म प्रविष्ट हो गये हैं अतः श्रीयमुनाजी में भी भगवदीयत्व प्रदान करने की योग्यता है और इस कारण स्वतन्त्रभक्तिदायिका होने के कारण उनके परम उत्कर्ष का निरूपण करना आवश्यक हो जाता है इसलिये आचार्यचरणों ने उन्हें 'मुकुन्दप्रिये' पद से सम्बोधित किया है। **अतः कारणात्** (*इस कारण हे श्रीयमुनाजी! हम आपकी लालना/स्तुति करते रहें*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। इनका अर्थ यह है- कारण कि हे श्रीयमुने! आपसे चाहे जिस किसी भी प्रकार से सम्बन्ध होने मात्र से प्रतिबन्धकों की निवृत्ति होकर भक्ति प्राप्त होनी सुलभ बन जाती है, इसलिये हम आपकी लालना/स्तुति करते हैं। अब **यावदाधुनिकेति** (*इस कारण जब तक इस आधुनिक शरीर की निवृति न हो जाये, और अलौकिक शरीर की प्राप्ति न हो जाय, तब तक हे श्रीयमुनाजी! हम आपकी लालना/स्तुति करते रहें*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। इनका अर्थ है- जब नया अलौकिकशरीर प्राप्त होगा, तब तो भगवान की लीलारस का अनुभव आपके तीर पर हो ही जायेगा, परन्तु जब तक ऐसा अलौकिकशरीर प्राप्त नहीं होता, तब तक हम आपकी लालना/स्तुति करते रहें- यह भाव है।

लालना स्तुतिरूपेति । यथा जननी लालनसमये प्रेम्णा बालकं स्तौति । सा स्तुतिरपि लालनैव न तु गुणकीर्त्तनम् । लालनमध्यपातित्वात् । तथैषाऽपि स्तुतिर्लालनैवेति स्तुतिरूपेत्युक्तमित्यर्थ: । **फलसाधकत्वमिति**, पुष्टिमार्गीयफलसाधकत्वमित्यर्थ: । पुष्टिमार्गीयं फलं तु साक्षात्पुरुषोत्तमलीलासम्बन्धोऽलौकिकदेहसिद्ध्या, तत्सम्पादकत्वं तु गङ्गायास्त्वत्सम्बन्धादेव । अन्यथा “स्रोतसामस्मि जाह्नवी”ति वाक्येन तस्या विभूतिरूपत्वेन निरूपणादेतत्फलसाधकत्वमुच्यमानं बाधितं स्यात् । अत एव **पुष्टिस्थितै**रित्युक्तम्, अन्येषामेतन्माहात्म्यानवगते: ।

अब **लालना स्तुतिरूपा** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, जैसे माता अपने बालक का लालन करते समय प्रेमपूर्वक उसकी स्तुति करती है, तो वह स्तुति भी लालना ही होती है, वह उस बालक का गुणानुवाद नहीं है क्योंकि वह तो बालक को किया जाने वाला दुलार है; ठीक उसी प्रकार यहाँ की जाने वाली श्रीयमुनाजी की लालना भी वास्तव में तो उनकी स्तुति है ही नहीं क्योंकि श्रीयमुनाजी का स्वरूप तो ऐसा है कि कोई उनकी स्तुति करने में भी सक्षम नहीं है अतः प्रभुचरणों ने यहाँ 'लालना' का अर्थ स्तुतिरूपा (स्तुति के जैसा, परन्तु स्तुति नहीं) किया है, वास्तविक स्तुति नहीं। अब हम **फलसाधकत्वम्** (*हे श्रीयमुनाजी! गंगाजी भी आपका सम्बन्ध होने के पश्चात् ही फ़लसाधिका बनती हैं*) इत्यादि शब्दों का अर्थ कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि, गंगाजी पुष्टिमार्गीयफल की साधिका बनती हैं। पुष्टिमार्गीयफल तो साक्षात् पुरुषोत्तम की लीला से सम्बन्धित हो जाना है और वह तो अलौकिकदेह प्राप्त होने पर ही हो सकता है; और गंगाजी का अलौकिकदेह प्रदान करना तो हे श्रीयमुने! उनका आपसे सम्बन्ध हुआ होने के कारण ही है- यह अर्थ है। यदि ऐसा न होता तो "स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी" इस श्लोकानुसार गंगाजी तो भगवान की केवल विभूतिरूपा कही गयीं हैं, और विभूतिरूपा में ऐसी सामर्थ्य कहाँ से आ सकती है, अतः गंगाजी में श्रीयमुनाजी के बिना स्वतन्त्ररूप से ऐसी सामर्थ्य कहनी विरोधास्पद बन जाती! इसलिये वास्तविकता तो यह है कि, गंगाजी में ऐसी सामर्थ्य तो श्रीयमुनाजी से सम्बन्ध हुआ होने के कारण ही आयी है। इसी कारण आचार्यचरणों ने 'पुष्टिस्थितैः'. (पुष्टिमार्गीय तो श्रीयमुनाजी के स्वरूप को जानते हैं अतः पुष्टिस्थितजीव तो श्रीयमुनाजी से सम्बन्ध हुआ होने के कारण ही गंगाजी की स्तुति करते हैं) यों कहा है, क्योंकि अन्यों को श्रीयमुनाजी के इस माहात्म्य का ज्ञान नहीं है।

---

१ स्वन्त्रभक्तदायकत्वेनेति ख च. २ तत्तीरे इति क–ग–घ–ङ–च.

पद्यपदलापनिका तु, पुष्टिस्थितैः निःसाधनानुग्रहमार्गनिष्ठैः सुरधुनी लोकान्तरनदी भुवि तु पुनर्न कदाऽपि कीर्त्तिता तादृक्पुष्टिमार्गीयफलसाधकत्वेनेति । परं किन्तु सर्वदैव तवैव सङ्गमात् सा तथा कीर्तिता । अतः सर्वदा तव लालना [१]पूर्वोक्तरूपाऽस्त्विति सम्बन्धो ज्ञेयः ।।७।।

इस पद्य का अन्वय यों करें= 'पुष्टिस्थितैः' का अर्थ है- निःसाधन अनुग्रहमार्ग में जो निष्ठा रखने वाले हैं वे ; 'सुरधुनी' का अर्थ है- दूसरे लोक की नदी 'गंगाजी' ; ऐसे पुष्टिमार्गीयों ने "गंगाजी ऊपर कहा पुष्टिमार्गीयफल देती हैं" यह सोच कर भूतल पर गंगाजी की कीर्ति नहीं गायी अपितु गंगाजी का सम्बन्ध हे श्रीयमुनाजी ! आपसे हुआ है, यह सोच कर ही गायी है। अतः हम सर्वदा आपकी लालना करते रहें- यह अर्थ है॥7॥

अशक्यस्तुतित्व इति । वागगोचरमाहात्म्यसत्त्वाद्यथा[२]रसस्वरूपानन्देऽशक्यस्तुतित्वम् । "यतो वाच" इति श्रुतेः । तथाऽत्राऽपीति भावः । **कमलजासपत्नीति** हेतुनिरूपणम् । सपत्नीत्वेन लक्ष्मीविरुद्धस्वभावत्वादित्यर्थः । अयमभिप्रायः । लक्ष्मीर्हि प्रमाणसिद्धब्रह्मा[३]नन्दस्वरूपा । अतः प्रमाणभूतैर्वेदादिवाक्यैर्लक्ष्मीमाहात्म्यनिरूपणमुपपद्येताऽपि । त्वं तु पुष्टिलीलास्थत्वेन तदतीतप्रमेयानन्दरूपेति मयतो वाचफइति श्रुतेरशक्यस्तवेति विरुद्धस्वभावत्वात्सपत्नीति ।

अब हम **अशक्यस्तुतित्वे हेतुमाहुः** (*श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी अशक्य क्यों है, इसका कारण आपश्री* ***कमलजासपत्नि*** *शब्द से कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। आपश्री इससे यह कहना चाह रहे हैं कि, "परमात्मा के आनन्दमयस्वरूप को मनसहित सभी इन्द्रियाँ उसे प्राप्त किये बिना ही लौट आती हैं, उनमें परमात्मा के आनन्दमयस्वरूप को जानने की शक्ति नहीं है(तैत्ति0उप0 2/4/1)" इस श्रुति के अनुसार जिस प्रकार वाणी से भी जिनके माहात्म्य न कहा जा सके ऐसे रसस्वरूपानन्द-भगवान की स्तुति करनी अशक्य है ; ठीक वैसे ही श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी भी अशक्य है क्योंकि श्रीयमुनाजी के माहात्म्य का भी वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता। इसमें कारण यह है कि, श्रीयमुनाजी कमलजा-लक्ष्मीजी की सपत्नी हैं। और कारण कि श्रीयमुनाजी सपत्नी हैं लक्ष्मीजी की, इसलिये उनका स्वभाव भी लक्ष्मीजी से विरुद्ध है, अर्थात् भिन्न है। इसका अभिप्राय यह है कि, लक्ष्मीजी ब्रह्मानन्दस्वरूपा हैं- यह बात तो निश्चितरूप से प्रमाणसिद्ध बात है ; अतः उन प्रमाणभूत वेदवाक्यों के आधार पर श्रीलक्ष्मीजी के माहात्म्य का निरूपण तो हो भी सकता है परन्तु हे श्रीयमुनाजी ! आप तो पुष्टिलीला में हैं और प्रमाण से भी आगे प्रभु की प्रमेयानन्दरूपा हैं इसलिये ऊपर कही "यतो वाचो(तैत्ति0उप0 2/4/1)" इस श्रुति के अनुसार आप ऐसी हैं जिसकी स्तुति भी करनी अशक्य है ; इस अर्थ में आप श्रीलक्ष्मीजी से विरुद्ध/भिन्न स्वभाव वाली होने के कारण उनकी सपत्नी कहलाती हैं।

लक्ष्म्याः स्तुत्यत्वमुपपादयन्ति सर्वत्रेति । लोके वेदे च स्तुत्यत्वं भगवत्सम्बन्धात् । तदभावे निन्द्यत्वमेव । "मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिमि"ति वचनात् । सम्बन्धतारतम्येन स्तुत्यत्वतारतम्यम् । तथाच सम्बन्धस्तु लक्ष्म्या निरतिशय एव, उरसि सर्वदा निवासात् । अतः स्तुत्यत्वं तत्रोपपन्नमिति भावः । तत्समानसौभाग्यवतीति । अन्यासां भगवत्पत्नीनां लक्ष्म्यंशत्वेन तदधीनत्वम् । तव तु तत्समानसौभाग्यवत्त्वेन लक्ष्मीवत्स्वातन्त्र्यमिति भावः ।

अब श्रीलक्ष्मीजी की लोक में स्तुति किस प्रकार से है, इसे प्रभुचरण **सर्वत्र** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- लोक और वेद में जिस किसी की भी स्तुति होती है, वह उसका भगवान के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही होती है, यदि भगवान के साथ सम्बन्ध न हो, तो उसकी निन्दा ही होती है, जैसा कि "हे अर्जुन ! आसुरीयोनि को प्राप्त हुए मूढ मनुष्य जन्म-जन्म में भी मुझे प्राप्त न होकर और फिर उससे भी अधमगति को प्राप्त होते हैं(भ0गी- 16/20)" इस गीतावाक्य में भी कहा गया है। फलितार्थ यह कि जिसका भगवान के साथ सम्बन्ध कम या अधिक होगा, उसकी स्तुति भी कम या अधिक होती चली जायेगी। तिस पर श्रीलक्ष्मीजी का भगवान से सम्बन्ध तो विशेषरूप से है क्योंकि उनका तो सर्वदा भगवान के हृदय पर निवास है, इसलिये उनकी स्तुति होनी तो ठीक भी है- यह भाव है ; परन्तु श्रीयमुनाजी तो **तत्समानसौभाग्यवती** (*ठीक लक्ष्मीजी के समान ही सौभाग्यवती*) हैं, फिर भी उनका माहात्म्य ऐसा है कि उनकी स्तुति भी करनी अशक्य बन जाती है। श्रीलक्ष्मीजी के समान होने का तात्पर्य यह है कि, भगवान की अन्य पत्नियाँ तो श्रीलक्ष्मीजी की

---

[१] सा पूर्वोक्तरूपेति **ग–घ.** [२] रसरूपेति **ख.** [३] ब्रह्मानन्दरूपेति च.

अंशरूप होने के कारण श्रीलक्ष्मीजी के आधीन हैं परन्तु हे श्रीयमुनाजी ! आप तो लक्ष्मीजी के समान ही सौभाग्यशालिनी हैं अतः श्रीलक्ष्मीजी की भाँति आप भी स्वतन्त्र हैं, किसी के आधीन नहीं हैं।

ननु लक्ष्मीस्तुतिस्त्विति । स्वातन्त्र्येऽपि[1] साम्यसत्वे लक्ष्मीस्तुतिरिव कथमेतत्स्तुतिरशक्येत्याक्षेपार्थ इत्यर्थः । प्रिय इति सम्बोधनम् । स्वातन्त्र्येण साम्येऽपि प्रियात्वेन ततोऽप्याधिक्यसत्वान्न लक्ष्मीदृष्टान्तेन शक्यस्तुतित्वमस्या उपपद्येतेति भावः । अत एव "श्रियं चाऽऽत्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परे"ति दुर्वाससं प्रति प्रभुरेवैतादृशानां ततोऽपि प्रियत्वमाहेत्याधिक्यं प्रमाणसिद्धमेव[2] ।

अब हम प्रभुचरणों द्वारा कही गयी किसी पूर्वपक्षी द्वारा उठाई गयी **ननु लक्ष्मीस्तुतिस्तु लोके दृश्यते** (*लोक में श्रीलक्ष्मीज़ी की स्तुति होती तो दिखाई पड़ती है परन्तु श्रीयमुनाजी की नहीं*) इस शंका का भावार्थ कह रहे हैं। पूर्वपक्षी की शंका करने का तात्पर्य यह है कि, यदि श्रीयमुनाजी भी श्रीलक्ष्मीजी के समान ही स्वतन्त्र हैं, किसी के आधीन नहीं हैं, और यदि श्रीलक्ष्मीजी की स्तुति हो सकती है तो फिर श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी अशक्य क्यों है ?- यह अर्थ है। अब हम इस शंका का निराकरण कह रहे हैं। आचार्यचरणों ने श्रीयमुनाजी को भगवान की 'प्रिया' कह कर सम्बोधित किया है ; अतः वे भले ही स्वतन्त्र होने के कारण श्रीलक्ष्मीजी के समान हैं परन्तु साथ ही साथ प्रभु की प्रिया भी हैं अतः उनका स्थान लक्ष्मीजी से भी अधिक है, इसलिये "लक्ष्मीजी का दृष्टान्त देकर उनकी स्तुति शक्य है" ऐसा नहीं कहा जा सकता- यह भाव है। अतएव श्रीभागवत में "हे दुर्वासाजी ! अपने भक्तों का एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। उन्हें छोड़कर न मैं अपने आपको चाहता हूँ और न ही लक्ष्मीजी को(श्री0भा-9/4/64)" इस श्लोक में प्रभु ने ही दुर्वासाजी के प्रति कहे अपने वाक्य में अपने शरणागत साधुस्वभाव वाले भक्तों को लक्ष्मीजी से भी अधिक प्रिय बताया है अतः जब भगवान को अपने शरणागतभक्त ही श्रीलक्ष्मीजी से अधिक **प्रिय** हैं, वहाँ प्रिया होने के नाते श्रीयमुनाजी की उनसे अधिकता होनी तो प्रमाणसिद्ध ही है।

फलतोऽप्याधिक्यं वक्तुमाहुर्हरेर्यदनुसेवयेति । हरेः सम्बन्धिनी या यदनुसेवा हरिसाहित्येन तत्रापि अनु पश्चाद्भगवत्सेवां विधाय गौणभावेन यस्याः सेवा तया मोक्षं पुरुषोत्तमसायुज्यं मर्यादीकृत्य सालोक्यादिसुखं भवति । पुरुषोत्तमसायुज्यस्य भक्तिमार्गेण केवल[3]भगवत्सेवासाध्यत्वात् । अत एवोक्तमाचार्यवर्यैः – "आदिमूर्त्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यये"ति निबन्धे । तत्रापि कृष्णपदेन भक्तिप्राप्यः प्रभुरेवकारेण इतरनिरासश्चोक्तः । मोक्षप्राप्तिर्भवतीति । सालोक्यादिमोक्षप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः । अत एव वैकुण्ठे लक्ष्मीसखीनां सालोक्यादिसुखं, न लक्ष्मीवत्पुरुषोत्तमनित्यसंयोगरूपसायुज्यम्, तस्य लक्ष्मीमात्रभोग्यत्वात् । न हि स्वभोग्यमन्येभ्यः कोऽपि दातुमीष्टे । अत एवोक्तं बालबोधे – "लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुंक्ते तन्न यच्छति कर्हिचिदि"ति ।

श्रीयमुनाजी फलदृष्टि से भी श्रीलक्ष्मीजी की तुलना में अधिक हैं, यह बताने के लिये आचार्यचरणों ने **हरेर्यदनुसेवया** (*आचार्यचरण श्रीलक्ष्मीजी के लिये कहते हैं- हरि के पश्चात् श्रीलक्ष्मीजी के सेवा करने से मोक्षपर्यन्त सुख प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि मोक्षप्राप्ति होती है। किन्तु मोक्ष ही प्राप्त होता है, मोक्ष से अधिक भजनानन्दरूपी सुख प्राप्त नहीं होता*) यह कहा है। आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, हरि की सम्बन्धिनी जिन श्रीलक्ष्मीजी की हरिसहित सेवा करने से, और वह भी भगवत्सेवा के पश्चात् श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करने से, जो कि भगवत्सेवा की तुलना में गौणरूप से की गयी है, ऐसी सेवा से पुरुषोत्तम का सायुज्य प्राप्त न होकर उससे पहले-पहले तक का सालोक्य आदि सुख ही प्राप्त होता है। क्योंकि पुरुषोत्तम का सायुज्य तो भक्तिमार्ग पर चलते हुए केवल भगवत्सेवा करने के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। अतएव आचार्यचरणों ने निबन्ध में "आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः(शा0प्र-13)" यों कहा है। इस कारिका की प्रकाशटीका में भी आचार्यचरणों ने 'कृष्ण' पद के द्वारा यह कहा है कि, प्रभु तो भक्ति से ही प्राप्त होते हैं और 'एव' शब्द से भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधनों का निरसन भी कह दिया है। **मोक्षप्राप्तिर्भवति** का अर्थ है- भगवत्सेवा के पश्चात् श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करने वालों को सालोक्य आदि मोक्ष प्राप्त होता है। अतएव वैकुण्ठ में श्रीलक्ष्मीजी की सखियों को सालोक्य आदि सुख ही प्राप्त होते हैं, श्रीलक्ष्मीजी की भाँति पुरुषोत्तम से नित्यसंयोगरूप सायुज्य प्राप्त नहीं है क्योंकि ऐसे सुख का भोग करने का अधिकार तो केवल लक्ष्मीजी को ही प्राप्त है। अब कोई अपने भोग करने

---

१ तत्स्वातन्त्र्येऽपीति ख. २ प्रमाणप्रसिद्धमेवेति क-ग-घ-ङ-च. ३ केवलमिति ख.

की वस्तु किसी दूसरे को देने की इच्छा थोड़े ही करेगा !! इसी कारण बालबोधग्रन्थ में आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- "लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि, जिस वस्तु का भोग स्वामी करता है, उसे वह कभी किसी दूसरे को नहीं देता(14)"।

न तु ततोऽपीति । सायुज्यादप्यधिकमित्यर्थः । हरेरित्यस्य षष्ठ्यन्तपदस्य सम्बन्धिबोधकस्य तात्पर्यमाहुस्तदपीति मोक्षसुखमपीत्यर्थः । केवलाया मोक्षविघातकत्वादिति । केवला भगवतः पुरुषोत्तमाद्भेदेन स्थिता विभूतिरूपा भजनेन धनादिसम्पत्प्रदा तस्या विषयासक्तिहेतुत्वेन वैराग्यविघातद्वारा[१] मोक्षविघातकत्वमित्यर्थः ।

न तु ततोऽपि (श्री*लक्ष्मीजी की सेवा करने से मोक्षपर्यन्त सुख प्राप्त होता है किन्तु मोक्ष ही प्राप्त होता है, मोक्ष से अधिक भजनानन्दरूपी सुख प्राप्त नहीं होता*) इत्यादि शब्दों में 'मोक्ष' का अर्थ है- सायुज्य आदि मोक्ष, और इससे अधिक की प्राप्ति नहीं होती। **हरेः** इस सम्बन्धसूचक षष्ठ्यन्तपद का तात्पर्य प्रभुचरण **तदपि**(मोक्षसुख भी)आदि शब्दों से बता रहे हैं, इन शब्दों का अर्थ है- मोक्षसुख भी तब प्राप्त होगा जब भगवानसहित लक्ष्मीजी का भजन किया जायेगा क्योंकि भगवान को छोड़ कर केवल श्रीलक्ष्मीजी का भजन करेंगे तो लक्ष्मीजी उल्टे मोक्ष का विघात कर देंगी। भगवानरहित केवल श्रीलक्ष्मीजी तो भगवान-पुरुषोत्तम से भिन्न उनकी विभूतिरूपा हैं और जिनका भजन किया जाय तो धन-सम्पत्ति देने वाली बनती हैं और धनसम्पत्ति तो विषयासक्ति बढ़ाने वाली होती है जो वैराग्य का विधात कर देगी और जिसके कारण मोक्ष का विघात हो जायेगा- यह अर्थ है।

कालिन्द्युत्कर्षमिति, भजनानन्दरूपफलसाधकत्वेन लक्ष्मीत उत्कर्षमित्यर्थः । **सर्वमुक्त्यपेक्षयेति,** लक्ष्मीतत्सेवकफलरूपसायुज्यसालोक्यादिमुक्त्यपेक्षयेत्यर्थः । **अत एवेति, यतो मुक्त्यपेक्षयैतत्कथाया आधिक्यमित्यर्थः । एतत्कथारसिकानामिति । मोक्षे हि न भेदेन स्थितिरिति सर्वात्मभावलभ्यरसकथारसिकानां तत्र तदभावान्न तदिच्छागन्धोऽपीत्यर्थः । "अथ ह वावे"त्यादिना प्रमाणोपन्यासः ।**

अब हम **कालिन्द्युत्कर्षमाहुः इयं तव कथा** (*कालिन्दी-श्रीयमुनाजी के उत्कर्ष को आचार्यचरण **तव कथा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों का अर्थ करते हैं। कालिन्दी के उत्कर्ष को कहने का तात्पर्य है- भजनानन्दरूपी फल की साधिका होने के कारण श्रीयमुनाजी का उत्कर्ष श्रीलक्ष्मीजी की तुलना में अधिक है, आपश्री उस उत्कर्ष को कह रहे हैं। **सर्वमुक्त्यपेक्षया** (*श्रीयमुनाजी की कथा तो समस्त मुक्तियों की अपेक्षा भी अधिक है*) इत्यादि शब्दों का अर्थ है- श्रीलक्ष्मीजी को मिलने वाला सायुज्यरूप मोक्ष एवं उनके सेवकों को मिलने वाले सालोक्य आदि मोक्ष की अपेक्षा श्रीयमुनाजी की कथा/माहात्म्य अधिक है, यह भाव है। **अत एव** (*अत एव इनकी कथा के रसिकजनों में तो मोक्षप्राप्ति करने की गंध भी नहीं होती*) इत्यादि शब्दों का अर्थ है- चूँकि ऊपर कही मुक्तियों की अपेक्षा श्रीयमुनाजी की कथा/माहात्म्य अधिक है अतएव श्रीयमुनाजी के रसिकों में तो मोक्ष प्राप्त करने की गंध भी नहीं होती। **एतत्कथारसिकानाम्** (*अत एव श्रीयमुनाजी की कथा के रसिकजनों में तो मोक्षप्राप्ति करने की गंध भी नहीं होती*) इत्यादि शब्दों का तात्पर्य यह है कि- मोक्ष की स्थिति में जीव और भगवान में भेद की स्थिति नहीं रहती (*अर्थात् ऊपर बतायी गयी मुक्तियों वाले मोक्ष के प्रकार में जीव संसार से मुक्त होकर सीधा भगवान में मिल जाता है, एकमेक हो जाता है*) किन्तु पुष्टिमार्गीय प्रकारक सर्वात्मभाव से प्राप्त होने वाले कथारस के रसिकों की तो मोक्ष होने पर अभेदरूप से स्थिति रहती है (*अर्थात् पुष्टिमार्गीयमुक्ति वो है जहाँ जीव भगवान से मिलकर एकाकार नहीं हो जाता परन्तु अपनी समस्त अलौकिक इन्द्रियों से भगवान का दर्शन, उनसे मिलना, उनका स्पर्श, उनका आलिंगन इत्यादि करता है*) इस कारण जब उन्हें साक्षात् भगवान का ऐसा सुख प्राप्त हो रहा है तो, वे क्यों सालोक्यसायुज्य आदि की कामना करेंगे अतः उनमें तो ऐसी मोक्षप्राप्ति की गंध भी नहीं होती- यह अर्थ है। इस बात को प्रमाणित करने के लिये प्रभुचरणों ने "हे मधुसूदन ! आपकी अमृतमयी महिमारस का समुद्र अनन्त है। उसकी एक बूँद का भी स्वाद चख लेने के पश्चात् लौकिक-पारलौकिक जितने लेशमात्र भी सुख हैं या उनकी प्रतीति है, वह सभी सुख भुला दिये जाते हैं (श्री0भा-6/9/39)" यह प्रमाण दिया है।

सा केति । कथेत्यर्थः । यस्या इति पञ्चमी षष्ठी च व्याख्येया । पञ्चमीपक्षे – यस्याः सकाशादन्येषामेतत्सम्बन्धिनामपि

---

[१] वैराग्यविघ्नद्वारेति च.

तत्सङ्गमः । षष्ठीपक्षे –श्रीयमुनायास्तत्सङ्गमः । तदाऽपि कृपया तद्रसदातृत्वमित्यर्थः । एभिर्विशेषणैरिति । एतत्कथायां सकलगोपिकास्तत्सङ्गमः, सोऽपि रसावेशजनितो येन श्रमः तेनोद्भूतं स्वेदजलं तदीया अणवोऽतिसूक्ष्मबिन्दवस्तैः सङ्गमः, एतावन्ति कथाविशेषणानि तैरित्यर्थः । एतादृशी एतत्कथेत्यस्यामपि परमकाष्ठेत्याद्युक्तसकलधर्मवत्त्वं सूचितमित्यभिहितमिति भावः । केवलैतद्भजनकर्त्तुरपीति । अनन्यभजनकर्त्तुरित्यर्थः ।।८।।

सा का इस पंक्ति का अर्थ है- वो श्रीयमुनाजी की कथा/माहात्म्य क्या है, यह बता रहे हैं। **यस्याः** पद को पञ्चमीविभक्ति भी माननी चाहिए और षष्ठीविभक्ति भी। यदि पञ्चमी मानेंगे तो अर्थ होगा- भगवान के स्मरश्रमजल का संगम जिन **श्रीयमुनाजी के द्वारा** मिलना संभव बन पाता है, ऐसी श्रीयमुनाजी। और यदि षष्ठी करेंगे तो अर्थ होगा- जिन **श्रीयमुनाजी को** भगवान के स्मरश्रमजल का संगम प्राप्त हुआ है, और जब श्रीयमुनाजी अपने आश्रित जीव पर कृपा करेंगी तो उसे भी इसका संगम करायेंगी- यह भाव है। **एभिर्विशेषणैः** (*श्रीयमुनाजी की कथा/माहात्म्य को बताने के लिये आचार्यचरणों ने 'सकलगोपिकासंगम', 'स्मरश्रमजलाणु', 'सकलगात्रज' इन विशेषणों से सूचित किया है*) इत्यादि शब्दों का अर्थ करते हैं- श्रीयमुनाजी को उपरोक्त विशेषण दिये जाने से यह बात ज्ञात होती है कि, श्रीयमुनाजी की कथा/माहात्म्य तो ये है कि, इनके तट पर सकलगोपिकाओं का भगवान से संगम हुआ है, जो संगम रसावेश के कारण उत्पन्न हुआ और जिस संगम के कारण श्रम हुआ और उस श्रम से निकले हुए स्वेदजल जो कि अति सूक्ष्म जलबिन्दु हैं, उनसे श्रीयमुनाजी का संगम हुआ है। ऐसी श्रीयमुनाजी की कथा है अतः इनकी कथा/माहात्म्य में भी परमकाष्ठापन्नता, पुष्टिपुष्टिमार्ग का अंतरंगभक्तत्व, सर्वदा भगवद्रस से पूर्णता, उनकी अन्तरन्गभक्तानुगुणत्व और भगवान की लीला में मध्यपाती होने जैसे समस्त धर्म आचार्यचरणों ने सूचित किये जान लेने चाहिएँ, यह प्रभुचरणों का कथन है। **केवलैतद्भजनकर्त्तुरपि** (*चूँकि श्रीयमुनाजी स्वयं इस भगवद्रस से पूर्ण हैं अतः जो केवल श्रीयमुनाजी का भी भजन करता है, उसे श्रीयमुनाजी इस भगवद्रस का दान करती हैं, यह श्रीयमुनाजी की विलक्षणता तो स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है*) का अर्थ है- अनन्यभाव से केवल श्रीयमुनाजी का भी भजन करने वाले को श्रीयमुनाजी पूर्णभगवद्रस का दान करती हैं॥8॥

वक्ष्यमाणमिति । अनुपदमेवाऽत्र पद्ये वक्ष्यमाणमित्यर्थः । समस्तेति ब्रह्मसम्बन्धवदेकहेलया अखिलपापक्षय एतत्स्तोत्रपाठेन बोधितः । तदनन्तरमिति । भक्तिप्रतिबन्धकसमस्तदुरितक्षयानन्तरमित्यर्थः । अन्यथा दुरितानामनन्तत्वेनैकदा तदनिवृत्तौ रत्युत्पत्तेरनवसरपराहतिः स्यात् । अत एवेत्यादिना प्रमाणोपन्यासपुरस्सरं समस्तपापाभावस्य भगवद्भक्त्युत्पत्तौ हेतुता निरूपिता । यद्यपि "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणी"ति वाक्याज्ज्ञानेनाऽपि सर्वकर्मनिवृत्तिः । परन्तु तत्र ज्ञानसाधने क्लेशभूयस्त्वमंत्र तु पाठमात्रेणैतत्स्तोत्रस्य सा भवतीत्यनायासेन तत्साधकत्वं पाठस्येति तदुत्कर्षो ज्ञेयः । प्रसन्न इति । यथा लीलासृष्टिस्थेभ्यस्त्वत्साक्षात्कारात् त्वत्सम्बन्धेन प्रसन्नस्तथा आधुनिकेभ्यः परोक्षे त्वत्स्तुतिपाठादेव प्रसन्नो भवतीत्यर्थः । भक्तिमेवेति निश्चयवाचकं "वा" इत्यंव्ययपदप्रयोगतात्पर्यं ज्ञेयम् ।

अब **वक्ष्यमाणं फलम्** (*यद्यपि श्रीयमुनाजी के लिये तो अन्यों द्वारा लिखे स्तोत्र भी उपलब्ध होते हैं परन्तु यहाँ कहा जाने वाला फ़ल तो इसी स्तोत्र का पाठ करने से प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। "वक्ष्यमाणं फलं" इत्यादि शब्दों से प्रभुचरणों का तात्पर्य है, इसी नौवें श्लोक में इस स्तोत्र का पाठ करने का जो फल बताया गया है, वह फल। यानि कि समस्त पापों का क्षय हो जाना, मुकुन्द में रति हो जानी, उससे सकलसिद्धियाँ प्राप्त हो जानीं, मुरारि-भगवान का प्रसन्न हो जाना और स्वभाव पर विजय प्राप्त कर लेनी इत्यादि इत्यादि फल। **समस्त** (*इस अष्टक का जो पाठ करता है उसके पूर्वकाल के समस्त पापों का क्षय हो जाता है*) इत्यादि शब्दों का अर्थ है- जो इस अष्टक का पाठ करता है, उसके ब्रह्मसम्बन्ध की भाँति एकसाथ सभी पापों का क्षय हो जाता है। **तदनन्तरम्** का अर्थ है- भक्ति में आने वाले समस्त पापों का क्षय हो जाने के अनन्तर भगवान में भक्ति उत्पन्न होती है। चूँकि पाप तो अनन्त हैं अतः यदि एक बार में ही उनकी निवृत्ति नहीं हुई तो भगवान में रति उत्पन्न होने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो पायेगा, इसलिये प्रभुचरणों ने अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये "अत एवोक्तं "नराणां......" इत्यादि प्रमाण देकर यह निरूपण किया है कि, समस्तपापों का क्षय होना भगवद्भक्ति उत्पन्न होने में कारण बनता है। यद्यपि "हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी भाँति ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मबन्धनों को भस्म कर

देती है(भ0गी- 4/37)" इस वाक्यानुसार ज्ञान द्वारा भी सर्वकर्मनिवृत्ति होती है परन्तु ज्ञान सिद्ध करने में अनेकों क्लेश हैं और यहाँ तो केवल श्रीयमुनाष्टक का पाठ करने मात्र से सर्वकर्मनिवृत्ति होकर भगवद्भक्ति उत्पन्न हो जाती है इसलिये इस ग्रन्थ का पाठ बिना प्रयास के भगवद्भक्ति की सिद्धि करवा देता है, यह इस पाठ का उत्कर्ष/महिमा जान लेनी चाहिए। अब **प्रसन्न** (*हे श्रीयमुनाजी ! आपकी इस स्तुति का पाठ करने से प्रसन्न होकर भगवान पाठकर्ता को सीधे भक्ति ही दे देते हैं, केवल मोक्ष ही नहीं*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। भगवान के प्रसन्न होने का अर्थ है- लीलासृष्टिस्थजीवों से तो हे श्रीयमुने ! आपसे साक्षात्कार होने के द्वारा आपसे सम्बन्ध होने कारण भगवान प्रसन्न होते हैं एवं आधुनिकजीवों से भगवान परोक्षरूप से आपकी स्तुतिपाठ करने के कारण प्रसन्न होते हैं- यह अर्थ है। श्रीगोकुलनाथचरणों ने **भक्तिमेव ददाति** (*श्रीयमुनाजी से सम्बन्धित जानकर भगवान उसे भक्ति **ही** दे देते हैं*) इस वाक्य में जो निश्चयता दर्शायी है, वह आपश्रीने मूलग्रन्थ में आचार्यचरणों द्वारा प्रयुक्त किये निश्चित अर्थ को बताने वाले 'वै' शब्द के कारण दर्शायी हैं।

भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमिति । एतत्स्तोत्रपाठस्येत्यर्थः । अत्राऽयं भावः । भगवत्स्वभावः स्वामिनीभ्यो देयं फलमन्येभ्यो न प्रयच्छति । अन्यथाऽनुकम्पापात्रमुद्धवं व्रजे न प्रेषयेत् । स्वयमेव तादृग्भावं दद्यात् । एतत्स्तोत्रपाठे तु तत्कर्त्तरि श्रीयमुनासम्बन्धावगमेन स्वामिनीभ्य इव स्वयमेव तादृग्भावं प्रयच्छतीति तथेति भावः । ततः किमिति । ततो भगवद्भावादग्रे किं भवतीत्यर्थः ।

सन्तुष्यतीति । भगवत्प्रियात्वाद्यमुनायास्तत्स्तुतौ भगवत्तोषस्तत्रापि सम्यक्तोषो यथा गोपिकासु । अत एव "प्रियो भवति सेवनात्तव हरेरि"ति पूर्वमुक्तम् । चकारेण स्वामिन्योऽपि तुष्यन्तीत्यर्थः । लोकेऽपि स्वस्तवनापेक्षया स्वप्रियस्तवनस्याऽतितोषहेतुत्वादिति भावः ।

अब **भगवत्स्वभावपरावर्तकत्वं** (*हे श्रीयमुनाजी ! आपकी इस स्तुति का पाठ करने से प्रसन्न होकर भगवान पाठकर्ता को सीधे भक्ति ही दे देते हैं, केवल मोक्ष ही नहीं; इससे इस यमुनाष्टकम् को भगवान के स्वभाव का परावर्तक भी कहा गया है*) इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। तात्पर्य यह है कि, इस स्तोत्र का पाठ भगवान के स्वभाव को भी बदल देने वाला है। इसका भाव यह है कि, भगवान का स्वभाव तो ऐसा है कि वे जो फल अपनी स्वामिनियों को देते हैं, वह फल अन्य किसी दूसरे को नहीं देते। तभी तो, भले ही उद्धवजी भगवान के इतने कृपापात्र थे तथापि भगवद्रस का अनुभव कराने के लिये भगवान ने उन्हें गोपिकाओं के पास व्रज में भेजा; यदि वे चाहते तो खुद ही उन्हें उस भाव का दान कर सकते थे, परन्तु नहीं किया। किन्तु इस स्तोत्र का पाठ करने पर पाठ करने वाले का श्रीयमुनाजी से सम्बन्ध हुआ है, यह जान लेने पर तो स्वामिनियों को दिये फल की भाँति वे खुद ही वैसे भाव का दान उसे कर देते हैं अतः इस स्तोत्र को श्रीगोकुलनाथचरणों ने भगवान के भी स्वभाव को बदल देने वाला कहा है। **ततः किम्** (*भगवान में रति उत्पन्न हो जाने से क्या होगा*) इत्यादि शब्दों का अर्थ है- ऐसे भगवद्भाव का दान मिल जाने पर आगे क्या होगा ? आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- इससे **मुररिपुश्च सन्तुष्यति** अर्थात् भगवान की प्रिया होने के कारण श्रीयमुनाजी की स्तुति करने से भगवान उस पाठकर्ता पर प्रसन्न होंगे, केवल प्रसन्न ही नहीं अपितु भलीभाँति प्रसन्न होंगे, जैसे कि वे गोपिकाओं पर प्रसन्न हुए थे। अतएव आचार्यचरणों ने पूर्व में "आपकी सेवा करने से जैसे गोपिकाएँ हरि की प्रिय बनीं, वैसे आपकी सेवा करने वाले जीव भी हरि के प्रिय बन जाते हैं(6)" यों कहा है। **मुररिपुश्च** में प्रयुक्त **च** शब्द से ज्ञात होता है कि, भगवान तो प्रसन्न होंगे ही, साथ ही साथ स्वामिनियाँ भी उस पाठकर्ता पर प्रसन्न होंगी। क्योंकि ऐसा उदाहरण तो लोक में भी देखा जाता है कि, कोई हमारी प्रशंसा करे, उससे अधिक यदि कोई हमारे प्रिय की प्रशंसा करे, तो हमें अधिक प्रसन्नता होती है।

फलान्तरमिति । प्रथममेकं फलं समस्तदुरितक्षयपूर्वक[१]सकलसिद्धिसहितभगवद्भावप्राप्तिरूपं निरूपितमित्यर्थः । स्वभावविजय इति । "काममयोऽयं पुरुष" इति श्रुतेः स्वभावस्य कामभावरूपजीवस्वभावस्य परावृत्तिः सर्वात्मभावसिद्ध्या भवतीत्यर्थः । यद्वा । स्वभावस्य सात्त्विकादिस्वभावस्य विजयः स्वाधीनीकरणं लीलामात्रोपयोगितया प्रवर्त्तनरूपं स्वरूपतो गुणातीतत्वसिद्ध्या भवतीत्यर्थः । अथवा । स्वभावस्य भगवद्धर्मप्रवेशजन्यमानादिस्वभावस्य दैन्यभावसिद्ध्या परावृत्तिर्भवतीत्यर्थः । दुष्टस्वभाव इति । शुद्धपुष्टिमार्गविचारेण पूर्वोक्तरूपस्वभावस्य दुष्टत्वमित्यर्थः ।

अब **फलान्तरं** (*इस पाठ का अन्य दूसरा फल **स्वभाव विजयो भवेत्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों

---

[१] पूर्वकमिति क. ग. घ. ङ.

की व्याख्या करते हैं। इस श्लोक के पहले चरण में आचार्यचरण समस्त पाप नष्ट होकर मुकुन्द में रति हो जाने वाला इस स्तोत्रपाठ का एक फल बता चुके हैं, अब आगे 'स्वभाव विजयो भवेत्' से दूसरा फल बता रहे हैं- यह अर्थ है। स्वभाव पर विजय पा लेने का अर्थ यह है कि, वैसे तो "यह पुरुष काममय ही है (बृहदा०उप- 4/4/5)" इस श्रुति के अनुसार जीव का स्वभाव तो कामभावरूप ही है परन्तु भगवान में सर्वात्मभाव सिद्ध होने के द्वारा उसका ऐसा स्वभाव भी परिवर्तित हो जाता है। अथवा, स्वभाव पर विजय प्राप्त कर लेने का अर्थ- जीव का स्वभाव सात्विक-राजस-तामस आदि गुणों वाला है- ऐसे स्वभाव पर विजय पाना है अर्थात् ऐसे स्वभाव को अपने अधीन बना कर उसे केवल भगवान की लीला में ही प्रवृत्त करा देना, जिसके कारण सात्विक-राजस-तामस स्वभाव फिर गुणातीत स्वभाव बन जाता है- यह स्वभाव पर विजय प्राप्त कर लेने का अर्थ है। अथवा तो स्वभाव पर विजय पा लेने का अर्थ यों करें कि, जीव में भगवद्धर्म प्रविष्ट हो जाने के कारण उसमें प्रभु से भी मान करने का, उनसे रूठने का जो स्वभाव उत्पन्न हो गया/जाता है, ऐसे स्वभाव में श्रीयमुनाष्टकपाठ करने से दैन्यभाव आ जाने के द्वारा उसका स्वभाव परावर्तित हो जाता है- यह अर्थ है। **दुष्टस्वभाव** का अर्थ है- यदि शुद्धपुष्टिमार्ग की दृष्टि से विचार किया जाय तो पूर्व में कहा प्रभु से मान करने का, उनसे रूठ जाने का स्वभाव दुष्टस्वभाव है।

आप्तवाक्यत्वेनेति । यथादृष्टार्थवादित्वेनाऽऽप्तत्वम् । तच्चाऽऽचार्यचरणेष्वेव सम्भवति । लीलासृष्टिसम्बन्धित्वेन लीलास्थभक्तजनफलजननदर्शनात् । अत एतदाप्तत्वमेतेष्वेवेत्येतद्विषये स्वोक्तमेव प्रमाणमिति बोधनाय स्वनामोक्तिरिति भावः । नन्वित्यादिना आप्तत्वसंशयमादाय पूर्वपक्षो ज्ञेयः । साक्षादित्यादिनिरूपणस्याऽयमभिप्रायः । हरिपदेन निःसाधनगजराजोद्धृतये तद्दैन्येन प्रादुर्भूतः पुरुषोत्तम उच्यते । स च पुष्टिमार्गीयप्रभुरेव । सर्वसाधनराहित्ये केवलदैन्येन प्रादुर्भूतत्वात् । अत एवाऽग्रे साक्षादित्युक्तम् । पुष्टिमार्गीयातिरिक्तेषु साक्षात्सम्बन्धाभावेन साक्षात्स्वरूपप्रादुर्भावाभावात् । तत्र तु पुरुषोत्तमस्य विशुद्धसत्त्वव्यूहादिव्यवधानमेव । अत एव श्रीपदम् । सौन्दर्यादिरसानुभावकधर्मप्राकट्यस्य पुष्टिमार्ग एव सम्भवात् । तादृशस्य वल्लभत्वेन सम्बन्धीति मदुक्तौ नाऽऽप्तत्वसंशयः पुष्टिपथानुगृहीतैरस्मदीयैर्विधेय इति दिक् ।

आप्तवाक्यत्वेन (*स्वभाव परावृत्त हो जाने की सिद्धि केवल इस स्तोत्र का पाठ करने मात्र से ही प्राप्त हो जायेगी- इस बात में आपश्री ने स्वयं अपने नाम का उल्लेख करके इसकी प्रामाणिकता कह दी है*) शब्द का अर्थ है- जैसा देखा, वैसा ही कहा गया वाक्य 'आप्तवाक्य' कहलाता है ; और ऐसा तो आचार्यचरणों के लिये ही संभव बन सकता है क्योंकि आपश्री का सम्बन्ध प्रभु की लीलासृष्टि से है और इस कारण आपश्री ने लीलास्थ भक्तजनों को ऐसा फल मिलते हुए स्वयं देखा है; और इसीलिये इस बात की आप्तता तो केवल आचार्यचरणों में ही घटित होती है और इसी कारण इस विषय में स्वयं आपश्री का कथन ही प्रमाण है- इस बात को बताने के लिये आपश्री ने अपने नाम का भी उल्लेख किया है। श्रीगोकुलनाथचरणों ने **ननु** इत्यादि वाक्यों के द्वारा किसी पूर्वपक्षी की शंका कही है, जो आचार्यचरणों की आप्तता में संशय करता हो। इस शंका का समाधान करने में श्रीगोकुलनाथचरणों ने जो **साक्षात्** इत्यादि वाक्य कहे हैं, उनका अभिप्राय यह है कि, आचार्यचरण 'हरि' पद के द्वारा निःसाधन गजराज का उद्धार करने के लिये उसकी दीनता देखते हुए प्रादुर्भूत हुए साक्षात् पुरुषोत्तम के लिये ही कह रहे हैं। वह पुरुषोत्तमभगवान पुष्टिमार्गीयपुरुषोत्तम ही हैं क्योंकि गजराज जब समस्त साधनों से रहित हुआ और जब उसमें दीनता प्रकट हुई, तब पुरुषोत्तम का प्रादुर्भाव हुआ। इसी बात को बताने के लिये श्रीगोकुलनाथचरणों ने आगे 'साक्षात्' पद का प्रयोग किया। क्योंकि पुष्टिमार्गीयों के अतिरिक्त अन्य किसी को पुरुषोत्तम का साक्षात् सम्बन्ध न हुआ होने के कारण उनके समक्ष भगवान के साक्षात् स्वरूप का प्रादुर्भाव नहीं होता। पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त जहाँ जहाँ पुरुषोत्तम का प्रादुर्भाव होता है, वह तो विशुद्धसत्त्वस्वरूप वासुदेव आदि व्यूह के व्यवधानसहित होकर ही प्रकट होता है, किन्तु पुष्टिमार्ग में व्यूहरहित साक्षात् पुरुषोत्तम का प्रादुर्भाव होता है, जिसको बताने के लिये श्रीगोकुलनाथचरणों ने 'श्रीपुरुषोत्तम' यों कह कर 'श्री' पद का प्रयोग किया है। क्योंकि पुरुषोत्तम का सौंदर्यादि रसानुभावकधर्म का प्राकट्य तो पुष्टिमार्ग में ही संभव हो सकता है अतः आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, ऐसे पुरुषोत्तम का वल्लभ (प्रिय) होने के कारण मैं उनसे सम्बन्धित हूँ अतः मेरे कहे में मेरे पुष्टिपथ में अनुग्रहीतजनों को आप्तत्व का संशय नहीं करना चाहिए।

इति श्रीमन्निजाचार्यकृपया परया युतः ।
हरिदासश्चकारेदं टिप्पणं विवृतौ प्रभोः ।।१।।
प्रसीदन्तु निजाचार्याः स्वदासे निजवंशगे ।
प्रयच्छन्तु स्वतो भावं यमुनासहिते हरौ ।।२।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरणतामरसपरागाभिलाषिहरिदासप्रणीतं श्रीयमुनाष्टकविवृतिटिप्पणं सम्पूर्णम् ।

श्रीमन्निजाचार्यचरणों की परमकृपा से
प्रभुचरणों की विवृति पर 'हरिदास' ने यह टिप्पणी की ॥1॥
इस टिप्पणी से निजवंश में उत्पन्न हुए मुझ निजदास पर निजाचार्यचरण प्रसन्न हों एवं,।
स्वयं मुझे यमुनासहित हरि में भाव उत्पन्न होने का दान करें ॥2॥

यह श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकमलों के रसपराग के अभिलाषी हरिदास द्वारा की गयी श्रीयमुनाष्टकविवृति की टिप्पणी सम्पूर्ण हुई।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतं

श्रीयमुनाष्टकम्

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता श्रीप्रभुचरणविवृतिविवृतिः ।

श्रीमद्वल्लभनन्दन दासेऽस्मिन् कृपय साधनैः शून्ये ।
श्रीयमुनाष्टकविवृतिं विवरीतुं काङ्क्षते यतः करुणाम् ।।१।।

अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः श्रीमदाचार्याणां स्वस्य चाऽवतारप्रयोजनं तत्र श्रीयमुनाया निर्वाहकत्वादष्टककरणं चाऽनुसन्धाय श्रीयमुनाष्टकविवृतिं विरचयिष्यन्तस्तत्साफल्याय श्रीमदाचार्यान् प्रार्थयन्ति **विश्वोद्धारार्थमिति** । विश्वोद्धारार्थं सदैव, सदैव तदर्थं वा, सदा तदर्थमेव वा, **कृपयन्त्विति** सम्बन्धः । एतेन स्वस्य तदुद्योगस्तदावश्यकत्वं कृपालुत्वं च बोधितम् । तथाच कृपयाऽष्टकविवृतिभ्यां तं कुर्वन्तु कारयन्तु चेति भावः । श्रीमदाचार्यावतारप्रयोजनं तु. –. 'अर्थं तस्ये'ति श्लोकेन 'सर्वोद्धारप्रयत्नात्मे'त्यादिसन्दर्भेण च स्वयमेव ज्ञापितम् । तदत्र 'विश्वोद्धारार्थमेवाऽऽविर्भूते'ति पदसमभिव्याहारेण बोधितम् ।

श्रीपुरुषोत्तमजीकृतविवृति

हे श्रीवल्लभनन्द ! अपने इस साधनशून्य दास पर कृपा करें।
क्योंकि मैं श्रीयमुनाष्टकविवृति का विवरण करने के लिये आपकी करुणा चाहता हूँ ॥1॥

अब श्रीमत्प्रभुचरण आरंभ में श्रीमदाचार्यचरण एवं स्वयं अपने अवतार का प्रयोजन कह रहे हैं और चूँकि दोनों के प्रयोजन का निर्वाह करने वाली तो श्रीयमुनाजी हैं अतः इस अष्टक रचने का कारण(जिन श्रीयमुनाजी की स्तुति के कारण प्रयोजन सफल हो पायेगा, वह कारण)भी ध्यान में लेते हुए श्रीयमुनाष्टकग्रन्थ की विवृति की रचना करते हुए उसकी सफ़लता हेतु श्रीमदाचार्यचरणों को **विश्वोद्धारार्थम्** (*विश्वोद्धार के लिये ही आविर्भूत हुए वृन्दावनप्रिय-तातचरण मुझ विठ्ठल पर सदा कृपा करें*) इत्यादि शब्दों से प्रार्थना कर रहे हैं। "विश्वोद्धार्थमेव-आविर्भूत-वृन्दावनप्रियाः" के तीन अर्थ हो सकते हैं। (1) विश्वोद्धार के लिये आविर्भूत हुए आचार्यचरण सदा ही मुझ पर कृपा करें (2) **सदा ही** विश्वोद्धार के लिये आविर्भूत हुए आचांर्यचरण मुझ पर कृपा करें (3) **सदा** विश्वोद्धार के लिये **ही** आविर्भूत हुए आचार्यचरण मुझ पर कृपा करें। प्रथमपक्ष का अर्थ यह है कि, विश्वोद्धार के लिये आविर्भूत हुए जो आचार्यचरण हैं, वे मुझ पर सदा कृपा करें या करते रहें। दूसरे पक्ष का अर्थ यह है कि, आचार्यचरण सदा ही विश्वोद्धार के लिये आविर्भूत होने वाले हैं अर्थात् किसी काल विशेष में नहीं परन्तु सदा ही, ऐसे आचार्यचरण मुझ पर कृपा करें। तीसरे पक्ष का अर्थ यह है कि, आचार्यचरण सदा विश्वोद्धार के लिये ही आविर्भूत होते हैं, इसके अतिरिक्त उनके आविर्भूत होने का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है,ऐसे आचार्यचरण मुझ पर कृपा करें। इन शब्दों से प्रभुचरणों ने आचार्यचरणों का विश्वोद्धार के प्रयत्नशील रहना, विश्वोद्धार की आवश्यकता एवं उनकी कृपालुता का बोध कराया है। इसका तात्पर्य यह है कि, श्रीमदाचार्यचरणों की कृपा द्वारा प्रभुचरणों की इस अष्टक पर विवृति पूर्ण होगी एवं आचार्यचरण उनकी इस विवृति के माध्यम से अन्यों पर भी कृपा करेंगे- यह भाव है। श्रीमदाचार्यचरणों के अवतार का प्रयोजन तो "श्रीभागवत के यथार्थ को प्रकट करने के लिये भगवान ने मुझे व्यासजी की भाँति भूतल पर भेजा(सु-1/1/1; का-5)" इस श्लोक द्वारा एवं "सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा(शा0प्र0-)" इस नामानुसार स्वयं आपश्री ने ही बता दिया है। आपश्री के उसी प्रयोजन को यहाँ प्रभुचरण 'विश्वोद्धारार्थमेवाविर्भूत' पद से कह रहे हैं।

स्वावतारप्रयोजनं तु स्वनाम्ना, विदा ज्ञानेन ठाः शून्यास्तान् लात्यनुगृह्णातीति तदर्थात् । पदनिरुक्तिस्तु – विदा इत्यत्र विभक्तिलोपे चर्त्वे ष्टुत्वे च कृते 'चयोद्वितीयाः शरि पौष्करसादेरि'ति वार्त्तिकाट्टस्य ठत्वम् । 'पौष्करसादेर्मते शर्येव अन्येषां मते

त्वन्यत्राऽपी'ति कृष्णपण्डितैर्विस्तरेण व्याख्यानात् । यदि च नवीनमतमालम्ब्येदं नाऽऽद्रियते तदा तु– 'पररूपं तकारो लचटवर्गेषु' – तकारः पदान्तो लचटवर्गेषु परे पररूपमापद्यते – इति कौमारसूत्रात् । आवश्यकत्वमपि विवृतेरेतेनैव ध्वनितम् ।

और, श्रीमत्प्रभुचरणों ने स्वयं अपने अवतार का प्रयोजन तो मंगलाचरण में अपने नाम 'विठ्ठल' का उल्लेख करके ही कह दिया है। 'विठ्ठल' का अर्थ होता है- 'विदा' अर्थात् ज्ञान से ; 'ठाः' अर्थात् शून्यों को; 'लाति' अर्थात् अनुग्रहीत करते हैं, वह 'विठ्ठल' हैं। यानि ज्ञानशून्यों पर अनुग्रह करने वाले को 'विठ्ठल' कहते हैं। 'विठ्ठल' पद की निरुक्ति तो यों होगी- 'विदा' पद में विभक्ति का लोप होकर 'चर्त्व' एवं 'ष्टुत्व' करने पर "चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः(लघुसिद्धान्तकौमुदी-26-वार्त्तिक/पाणिनि व्या0 8/3/28-वार्त्तिक-पौष्करसादि के मतानुसार 'चयों' को वर्ग का द्वितीय वर्ण लागू कर दिया जाय, यदि उसके आगे 'शर' प्रत्याहार के वर्ण आये हों)" इस वार्त्तिक के अनुसार 'ट' वर्ण को 'ठ' हो जायेगा। वैसे देखा जाय तो 'विठ्ठल' शब्द में 'ट' के आगे यद्यपि 'शर' प्रत्याहार का कोई वर्ण नहीं आया है इसलिए उक्त वार्त्तिक कैसे लागू हो पायेगा, ऐसी शंका हो सकती है परन्तु उक्त वार्त्तिक के लिये कृष्णपण्डित ने विस्तारपूर्वक ["पौष्करसादि के मत में आगे केवल 'शर' होने पर ही वर्ण को द्वितीय वर्ण करने का सूत्र लागू पड़ता है, किन्तु अन्यों के मत में 'शर' के अतिरिक्त अन्य वर्णों के आगे रहने पर भी उक्त सूत्र लागू हो सकता है"] - ऐसा कहा है। इसलिये 'शर' आगे न रहने पर भी 'ट' को 'ठ' हो जायेगा और 'विठ्ठल' शब्द ही बनेगा 'विट्ठल' नहीं। फिर भी यदि आप नवीनमत को ही प्रामाणिक मान कर चल रहे हों एवं ऊपर कहे कृष्णपण्डित के मत को नहीं मानते, तो फिर "पररूपं तकारो लचटवर्गेषु' इस कौमारसूत्रानुसार यदि 'त्' किसी पद के अन्त में हो एवं उसके आगे यदि 'ल', 'च', 'ट' वर्ग का कोई भी वर्ण आ जाय तो 'त्' को पररूप (यानि 'त्' को उसी रूप का आदेश हो जायेगा, जो वर्ण उसके आगे आया है) हो जाता है ; इसलिये इस सूत्रानुसार भी 'विठ्ठल' शब्द ही बनता है। और श्रीप्रभुचरणों को इस अष्टक की विवृति करने की आवश्यकता पड़ी, यह भी आपश्री ने अपने नाम 'विठ्ठल' का उल्लेख किया होने से ही पता चल जाता है, क्योंकि साधारणजीव तो श्रीमदाचार्यचरणों का अभिप्राय समझने में ज्ञानशून्य हैं अतः आपश्री को इसकी विवृति करके उन पर अनुग्रह करने की आवश्यकता पड़ी।

आविर्भूतवृन्दावनप्रिया इति । अत्र वृन्दावनस्य प्रियः, वृन्दावनं प्रियं यस्येति वा वृन्दावनप्रियः, आविर्भूतश्चाऽसौ स च आविर्भूतवृन्दावनप्रिय इति तत्पुरुषबहुव्रीह्यन्यतरगर्भः कर्मधारयः । तथाच तदभिन्ना इत्यर्थः । अत्र भगवत्पक्षे अभेदो वास्तवः । 'वस्तुतः कृष्ण एवे'त्याद्युक्तेः । व्रजभक्तपक्षे तद्भाववत्त्वकृतसारूप्यनिबन्धनः । 'तत्सारभूते'ति नामनिर्देशात् । **तातचरणा** इत्यत्र चरणपदं बहुवचनं च पूजार्थम् । 'जीवत्सु तातपादेषु', 'मुद्रे ब्रूहि सलक्ष्मणाः कुशलिनः श्रीरामपादा' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्, 'एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे' इति वाक्याच्च 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्यामि'ति सूत्रे 'जात्याख्यायामि'ति योगं विभज्य पूजायामेकत्वे बहुवचनं प्रयुक्तमित्यदोषः ।

अब हम **आविर्भूतवृन्दावनप्रियाः** शब्द का अर्थ करते हैं। **वृन्दावनप्रियाः** के दो अर्थ हो सकते हैं। एक- वृन्दावन के जो प्रिय हैं, वो। दूसरा- वृन्दावन जिनको प्रिय है, वह। ऐसे दोनों प्रकारानुसार जो वृन्दावनप्रिय आविर्भूत हुए, उन्हें कहेंगे- 'आविर्भूतवृन्दावनप्रिय'। यों इस शब्द में तत्पुरुषबहुव्रीहिसहित कर्मधारयसमास है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, श्रीमदाचार्यचरण आविर्भूत होकर भगवान की ही भाँति वृन्दावनप्रिय हुए हैं, अतः इस दृष्टिकोण से सारांश यह हुआ कि, श्रीमदाचार्यचरण भगवान से भिन्न नहीं हैं। और यदि वृन्दावनप्रिय को भगवान का विशेषण कहके (यानि वृन्दावन जिनको प्रिय है, ऐसे भगवान, यों भगवान का विशेषण कहके) यदि श्रीमदाचार्यचरणों को भी भगवान के समान ही कह दिया गया है तो यह वास्तविकता ही है, क्योंकि श्रीप्रभुचरणों की ही "आचार्यचरण तो वास्तव में कृष्ण ही हैं(वल्लभाष्टकम्-8)" यह वाणी इस बात को प्रमाणित भी कर रही है। और यदि वृन्दावनप्रिय को व्रजभक्तों के अर्थ में देखा जाय (यानि व्रजभक्तस्वामिनियों को वृन्दावन प्रिय है, यों अर्थ करके देखा जाय) तो चूँकि आचार्यचरण का भाव उन व्रजभक्तों के ही समान है अतः व्रजभक्तस्वामिनियाँ एवं आचार्यचरण दोनों में एकरूपता होने के कारण आचार्यचरणों को भी श्रीप्रभुचरणों ने 'वृन्दावनप्रिय' कहा है। क्योंकि स्वयं आचार्यचरणों का एक नाम "भागवत की सारभूत रास की व्रजस्त्रियों के भावों से पूरित(सर्वो-16)" यह भी है। **तातचरणाः** पद में 'चरण' पद बहुवचन में है एवं पूजा के अर्थ में भी है ; जैसा कि "तातचरणों के जीवित रहते" , "हे मुद्रे ! कहो पूज्यश्रीराम लक्ष्मणसहित कुशल तो हैं !" इत्यादि

प्रयोगों में चरण का पूजा(पूज्य) अर्थ में प्रयोग होता देखा गया है। और बहुवचन का प्रयोग करने में एक बात यह भी है कि, "गुरु के लिये, स्वयं के लिये एवं ईश्वर आदि के लिये एकवचन का प्रयोग न करके बहुवचन का प्रयोग करना चाहिए" इस वाक्यानुसार भी बहुवचन का प्रयोग किया गया है। और यह भी है कि, बहुवचन का प्रयोग करने को असाधु मानकर कदाचित् कोई "(1)जाति, (2)नाम और (3)एक अर्थ में, एकवचन का प्रयोग होना चाहिए, इन तीनों में बहुवचन का प्रयोग तो वैकल्पिक होता है" इस इस सूत्रानुसार कोई पूर्वपक्षी 'तातचरणाः' पद द्वारा बहुवचनप्रयोग को दोषयुक्त कह सकता है परन्तु ध्यान देना चाहिए कि जहाँ इस सूत्र की व्याख्या की गयी है, वहाँ 'जाति' और 'नाम' दोनों को एक कोटि में रखकर अलग कर दिया गया है और तीसरे यानि कि 'एक अर्थ में' को दूसरी कोटि में रखकर किसी एक पूज्य व्यक्ति के संदर्भ में बहुवचन का प्रयोग करना बताया है अतः श्रीप्रभुचरणों ने यदि एक आचार्यचरणों के लिये बहुवचन का प्रयोग किया है तो इसमें कोई दोष नहीं है।

एवं कृपाप्रार्थनयाऽऽर्थिकनमनात्मकं मङ्गलं विधाय विवक्षितोद्धारस्य भजनानन्दावाप्तिरूपत्वात्तत्र च भक्तिमत्कृतस्य दैन्यस्यैव साधनत्वात्तद्धृदि कृत्वा भक्तिस्तत्प्रतिबन्धनिवृत्तिः तत्तदुपयोगिपरिकरसम्पत्तिश्चाऽर्थज्ञानपूर्वकाष्टकपाठेन भविष्यतीति ज्ञापनाय स्तोतव्यायाः श्रीकालिन्द्याः स्वरूपमुपकारकत्वं कृपावत्त्वं च बोधयन्त एवाऽऽद्यश्लोकमवतारयन्ति **विविधेत्यादि** । अत्र विविधलीलोपयोगिनीमित्यनेन हेतुगर्भेण विशेषणेन स्तुतिप्रयोजकं रूपमुक्तम् । अनेन स्तोत्रेण स्तुत्या प्रसन्ना स्तोतॄणां लीलासम्बन्धं कारयिष्यतीति च ध्वनितम् । श्रीगोकुलेशपदेन 'अन्ह्यापृतं निशि शयानमि'ति वाक्योक्तं निःसाधनफलात्मकं 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठमि'त्याद्युक्तं दीनबन्धुत्वं च बोधितम् । **न कर्त्तुं शक्यमि**त्यनेन साधनान्तराणां फलानुपधायकत्वम् । अतिदेशेन तद्धर्मवत्त्वम् । **नमनपदेन** कायादित्रयव्यापारात्मकमत्र नमनं सङ्गृह्यतेऽतो न चोद्यावसरः ।

इस प्रकार से प्रभुचरण श्रीमदाचार्यचरणों से कृपा की प्रार्थना करने के द्वारा मनोकामना पूर्ण हो जाय ऐसा मंगलाचरण करके अब चूँकि ऊपर कहे उद्धार का तात्पर्य है- भजनानन्द की प्राप्ति करवा देना और भजनानन्द की प्राप्ति होने में तो भक्ति करने वाले की दीनता ही एकमात्र साधन है अतः इन सभी बातों को ध्यान में रख कर भक्ति में आनेवाले प्रतिबन्धों की निवृति, भक्ति में उपयोगी परिकर प्राप्त होना इत्यादि मुद्दे तो इस अष्टक के अर्थ की समझ के साथ इसका पाठ करने से संभव बनेंगे- यह बताने के लिये इस स्तोत्र में स्तुत्य श्रीकालिन्दी के स्वरूप, उनकी उपकारिता एवं कृपालुता का बोध कराते हुए प्रथमश्लोक की व्याख्या **विविध**(*प्रभु की विविध लीलाओं में उपयोगी कालिन्दी-श्रीयमुनाजी की स्तुति करने के लिये*) इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं। यहाँ श्रीकालिन्दी को "प्रभु की, विविध लीलाओं में उपयोगिनी" यह हेतुगर्भ विशेषण दिया होने के द्वारा श्रीकालिन्दी का वह स्वरूप कहा जा रहा है, जिसके कारण उनकी स्तुति की जा रही है। इस स्तुति से प्रसन्न होकर श्रीयमुनाजी/कालिन्दी स्तुति करने वाले को प्रभुलीला से सम्बन्ध करायेंगी- यह बात ध्वनित होती है। **श्रीगोकुलेश**(*जैसे कि श्रीगोकुलेश को जीव नमन के अतिरिक्त और कुछ भी करने में समर्थ नहीं है, वैसे ही*) पद देकर श्रीप्रभुचरणों ने भगवान का "गोकुलवासी तो दिनभर काम करते हैं और रात्रि में थककर सो जाते हैं। ऐसे साधनहीनों को भी भगवान अपने परमधाम में ले जायेंगे(श्री0भा-2/7/31)" इस वाक्य में कहा निःसाधनफलात्मकस्वरूप एवं "यह सारा व्रज मेरे आश्रित है, मैं ही इसका एकमात्र रक्षक हूँ। संतो की रक्षा करना तो मेरा व्रत ही है अतः मैं अपनी योगमाया से इसकी रक्षा करूँगा(श्री0भा-10/25/18)" इस वाक्य में बताया दीनबन्धुत्व का स्वरूप बताया है। **न कर्तुं शक्यम्** (*श्रीगोकुलेश को जीव नमन के अतिरिक्त और कुछ भी करने में समर्थ नहीं है*) इत्यादि शब्दों से प्रभुचरणों ने यह बताया है कि, भगवत्कृपा के अतिरिक्त अन्य साधन प्रभुप्राप्ति नहीं करवा सकते। चूँकि भगवान के धर्म श्रीयमुनाजी में भी कहे जा रहे हैं अतः श्रीयमुनाजी के लिये भी प्रभुचरणों ने कहा कि, श्रीयमुनाजी को भी जीव नमन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। **नमन** पद के द्वारा श्रीप्रभुचरण काया-वाणी और मन इन तीनों के सहित होने वाला नमन कह रहे हैं अतः यहाँ कुतर्क का कोई अवसर नहीं है।

आदौ नमनोक्तेरयमेवाऽऽशय इत्यत्र गमकमाहुः- **भगवतेत्यादि** । अन्यथा श्लोकसंख्ययाऽत्र भगवत्साम्यं न बोधयेयुरतस्तथेत्यर्थः । संख्यायाः प्रयोजनवत्त्वं जातेष्ट्यधिकरणे सिद्धम् । ऐश्वर्यदाने गमकमाद्यविशेषणमेवेत्याशयेनाऽऽध्यात्मिकाधिभौतिकव्यवच्छेदाय च

तदैश्वर्यदेयं विवृण्वन्ति साक्षादित्यादि ।

प्रभुचरणों ने **आदौ नमनमेव** इत्यादि शब्दों से भगवान के धर्म श्रीयमुनाजी में कहे हैं, इस बात का प्रमाण आपश्री **भगवता** (*भगवान ने अष्टविध ऐश्वर्य कालिन्दी को दिये हैं- यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने इस स्तोत्र में आठ श्लोकों द्वारा श्रीयमुनाजी की स्तुति की है*) इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। यदि भगवान ने अपने अष्टविध ऐश्वर्य श्रीयमुनाजी को न दिये होते, तो आचार्यचरण इन आठ की श्लोकसंख्या द्वारा श्रीयमुनाजी की समानता भगवान से न बताते अतः इससे भी सिद्ध होता है कि, श्रीयमुनाजी भगवान के समान ही हैं और जैसे भगवान को नमन करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया जा सकता वैसे ही श्रीयमुनाजी को भी नमन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी करने की सामर्थ्य जीव में नहीं है। परन्तु यदि कोई ये पूछे कि आठ श्लोकों की केवल संख्या होने से ही यह कैसे प्रमाणित हो सकता है कि, भगवान ने अपने अष्टविध ऐश्वर्य श्रीयमुनाजी को दिए हैं !! तो संख्या से तात्पर्य ज्ञात करने की बात तो पूर्वमीमांसा के "जातेष्ट्यधिकरण" में कही गयी है अतः संख्या से भी ऐसा तात्पर्य निकालना प्रामाणिक ही है। भगवान ने अपना ऐश्वर्य श्रीयमुनाजी को दिया ही है, इस बात का प्रमाण आपश्री द्वारा श्रीयमुनाजी के लिये दिये गये प्रथमविशेषण 'सकलसिद्धिहेतुं' से ही ज्ञात हो जाता है क्योंकि यदि भगवान ने अपने अष्टविध ऐश्वर्य श्रीयमुनाजी को न दिए होते, तो वे सकलसिद्धियों को देने वाली कैसे बनती ! और श्रीयमुनाजी ऐश्वर्य का दान करती हैं, इसका प्रमाण उनको दिया गया प्रथमविशेषण 'सकलसिद्धिहेतुं' ही है- यह बताने के आशय से एवं वे सकलसिद्धियाँ मात्र आध्यात्मिक या आधिभौतिक सिद्धियाँ भी नहीं हैं अपितु कुछ और प्रकार की सिद्धियाँ हैं, जो श्रीयमुनाजी हमें देती हैं- इस बात को बताने के लिये आपश्री उस प्रथम ऐश्वर्य द्वारा दी जाने वाली वस्तु क्या है, इसका विवरण **साक्षात्** (*यहाँ सकलसिद्धियों का अर्थ साक्षात् भगवत्सेवोपयोगी देह की प्राप्ति, भगवल्लीला का अवलोकन करना, भगवल्लीला के रस का अनुभव करना, सर्वात्मभाव इत्यादि है*) इत्यादि पदों से कर रहे हैं।

अत्र च यदीश्वरा न स्यादुक्तसिद्धिनिमित्तभूता न स्यादिति कार्यलिङ्गकानुमानगर्भेण तर्केण तत्सत्ता साधिता । सिद्धिविवरणेन चैश्वर्यमत्र नैकादशस्कन्धोक्ताणिमादिरूपं विवक्षितम्, किन्त्वेतत्स्तोत्रोक्तं भक्तिमार्गीयसामर्थ्यविशेषरूपम् । अणिमादिमतामपि सनकादीनामुक्तसिद्धिदानादर्शनेन तत्र तदभावनिश्चयात् ।

यदि श्रीयमुनाजी ऐश्वर्य देने वाली न होतीं, तो ऊपर कहे अनुसार सकलसिद्धियों को देने वाली भी न होतीं, अतः कार्यचिन्ह के अनुमान के आधार पर श्रीयमुनाजी में ऐश्वर्य है, यह बात अनुमानसहित तर्क के आधार पर सिद्ध की गयी। प्रभुचरणों ने जो सकलसिद्धियाँ देने वाले श्रीयमुनाजी के ऐश्वर्य का विवरण किया है, उसमें आपश्री ने यह बताया है कि यह ऐश्वर्य एकादशस्कंध में वर्णित अणिमादिरूप सिद्धियाँ देने वाला ऐश्वर्य नहीं समझना चाहिए अपितु इस स्तोत्र में बतायी गयीं विशेषसामर्थ्य देने वाली भक्तिमार्गीय सिद्धियाँ प्रदान करने वाला ऐश्वर्य समझना चाहिए। क्योंकि अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त करने वाले सनकादि जैसे ऋषिगणों को भी इस स्तोत्र में कही जाने वाली सिद्धियाँ कभी मिली हों, ऐसा देखने में नहीं आया अंतः उन सिद्धियों में भी वो वाली सिद्धियाँ नहीं हैं, जो इस स्तोत्र में कही गयीं हैं।

तदप्यैश्वर्यं विवृतं श्रीहरिरायैः । तथाहि उक्तसकलसिद्धिहेतुत्वमेकम् । भगवद्रतिवर्द्धकत्वं द्वितीयम् । भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धनिराकरणेन तदनुभवयोग्यतानुकूलशुद्धिसम्पादकत्वभुवनपावनीत्वं तृतीयम् । भगवत्समानधर्मवत्त्वादनायासेन भगवत्सम्बन्धसम्पादकत्वं तुरीयम् । भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वं पञ्चमम् । स्वसेवनाद्गोपिकावद्भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वं षष्ठम् । तनुनवत्वसम्पादकत्वं सप्तमम् । लीलासामयिकप्रभुश्रमजलकणसम्बन्धसम्पादकत्वमष्टममिति । इदं च यथाधिकारं लीलास्थेषु प्रकटयति । स्वदासेष्वाधुनिकेषु त्वेतदष्टकोक्तं फलं भगवदिच्छानुसारेण ददती किञ्चिदेकं द्वयं प्रकटयतीति स्तोत्रान्त्यश्लोकादवसीयते ।

श्रीयमुनाजी में विद्यमान उन ऐश्वर्यों का श्रीहरिरायजी ने विवरण भी किया है। और वे ऐश्वर्य इस प्रकार से हैं- ऊपर कही सिद्धियों को देने वाला **एक** ऐश्वर्य। भगवान में रति/प्रेम बढ़ाने वाला **दूसरा** ऐश्वर्य। भगवत्सम्बन्ध में होने वाले प्रतिबन्धों का निराकरण करके भगवान का अनुभव करने की योग्यता के लिए आवश्यक शुद्धिसम्पादन करने वाला भुवन को पावन करने वाला **तीसरा** ऐश्वर्य। भगवान के समान धर्म होने के कारण बिना प्रयास के भगवत्सम्बन्ध प्रदान कराने वाला **चौथा** ऐश्वर्य। भगवान के प्रियजनों के दोषों का निवारण करने वाला **पाँचवां** ऐश्वर्य। अपनी सेवा के द्वारा गोपिकाओं की भाँति जीव के प्रति भगवान की

प्रियता उत्पन्न कर देने वाला **छठा** ऐश्वर्य। तनुनवत्व का सम्पादन करने वाला **सातवां** ऐश्वर्य। लीला के समय प्रभु के श्रम द्वारा उत्पन्न हुए जलकणों का जीव से सम्बन्ध कराने वाला **आठवां** ऐश्वर्य। श्रीयमुनाजी इन ऐश्वर्यों को लीलासृष्टि के जीवों में उनके अपने-अपने अधिकारानुसार प्रकट करती हैं। आधुनिकजीवों में श्रीयमुनाजी इस अष्टक में बताये गये फलों में से कुछ एक या दो फल भगवान की इच्छानुसार प्रकट करती हैं, यह बात स्तोत्र के अन्तिमश्लोक द्वारा जानने में आती है क्योंकि स्तोत्र के अन्तिम श्लोक में जहाँ इस स्तोत्र का पाठ करने का फल बताया गया है, वहाँ उपर्युक्त आठों ऐश्वर्य प्राप्त होने वाली बात नहीं कही गयी है अपितु इनमें से एक या दो ही गिनाये गये हैं अतः श्रीपुरुषोत्तमचरणों का कथन है कि आधुनिकजीवों को आठों के आठों ऐश्वर्य प्राप्त नहीं हो सकते क्योंकि उनके अधिकारी तो भगवान की नित्यलीला के शुद्धपुष्टिजीव ही हैं।

प्रकृतमनुसरामः । **अत एवेति** । दीनबन्धुत्वसिद्धिदातृत्वाभ्यामेवेत्यर्थः । ननु दोषबाहुल्ये दैन्यस्य न दयोत्पादकत्वं लोके दृष्टमतस्तेषु विद्यमानेषु किं स्तोत्रेणेत्याकाङ्क्षायां द्वितीयं विशेषणं विवृण्वन्ति **जलेत्यादि** । **एतेनेति** । मुरारिपदामन्दपदघटितेनाऽनेनेत्यर्थः । अत्राऽसुरादिपदं विहाय मूले जलदोषात्मकमुरपदं यदुक्तं तद्विवृतौ च यज्जलपदं तच्छ्रीभागवते मदैत्यः पञ्चशिरा जलादियाति कथनादुक्तं बोध्यम् । जलपदस्य डलयोरभेदेन जडपर्यन्तत्वं तेन तत्र भगवतस्तत्सम्बन्धिमहादोषनिवर्त्तकत्वमभिप्रेयत इत्याशयं गमयितुम् । तेन दाम्भिकादीनां न निवर्त्तयतीति ध्वनयन्ति । तावता – 'अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः । हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिन'इति वाक्योक्तानां दोषं न दूरीकरोतीति सिद्ध्यति ।

चलिये, अब प्रस्तुत विषय की चर्चा करें। **अतएव** का अर्थ है- श्रीयमुनाजी में दीनबन्धुता एवं सिद्धिदातृता है अतएव श्रीमदाचार्यचरणों को नमन करने में आनन्द भी आ रहा है। किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि दोषों से भरे पड़े हों तो दीनता होने पर भी उसके प्रति दया नहीं जागती, ऐसा लोक में देखा जाता है; अतः दोष विद्यमान रहें तो इस स्तोत्र का पाठ करने से भी क्या अंतर पड़ेगा ? यदि ऐसी आकांक्षा हो तो प्रभुचरण श्रीयमुनाजी को दिये द्वितीय विशेषण का विवरण **जले** (*श्रीयमुनाजी में जलदोषात्मकरूप 'मुर' नामक असुर के शत्रु-श्रीकृष्ण के पदपंकज में स्फुरित होने वाली, भगवत्सेवा में उपयोगी देह का संपादन करने वाली रेणु अधिक है यानि जल की अपेक्षा रेणु अधिक है*) इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **एतेन** (*आचार्यचरणों के इस कथन से "भगवत्प्राप्ति में विलम्ब", "दोष का भय" इत्यादि बातें निरस्त हो गयीं समझ लेनी चाहिए*) इत्यादि शब्दों का अर्थ है- 'मुरारि' पद से एवं 'अमन्द' पद से उक्त "भगवत्प्राप्ति में विलम्ब", "दोष का भय" इन दो दोषों का दूर होना बताया गया है। श्रीमदाचार्यचरणों ने यहाँ असुर इत्यादि पद छोड़कर जो जलदोषात्मक 'मुर' पद का प्रयोग किया है एवं उसकी विवृति में प्रभुचरणों ने जो 'जल' पद कहा है, वह श्रीभागवत के "भगवान के पाञ्चजन्यशंख की ध्वनि सुनकर जल के भीतर सोया हुआ पाँच सिर वाला 'मुर' दैत्य बाहर निकल आया(श्री0भा-10/59/6)" इस वाक्य के आधार पर कहा है। 'ड' और 'ल' में कोई भेद नहीं होता अतः इसके अनुसार "जलदोष दूर हो जाते हैं" का तात्पर्य "जड़पर्यन्त दोष दूर हो जाते हैं" यों समझना चाहिए ; जिसका तात्पर्य है- श्रीयमुनाजी की कृपा होने पर भगवान जड़ता सम्बन्धित सभी महादोषों का निवारण कर देते हैं- यह आशय बताना चाह रहे हैं। परन्तु इससे एक बात यह भी ध्वनित होती है कि, दंभी आदि जीवों के दोष दूर नहीं होते। क्योंकि शास्त्र में "श्रद्धाहीन, पापी, नास्तिक, संशय करने वाला, स्वार्थी- इन पाँच लोगों को तीर्थ का फल प्राप्त नहीं होता(भविष्यपुराण- उत्तर, 122/7-8)" इस वाक्य में कहे लोगों को तीर्थ का फल प्राप्त नहीं होता।

तृतीयं विवृण्वन्तस्तदेकदेशस्योत्तानार्थत्वमाहुरग्रे **स्पष्टमिति** । सुरासुरपदाभ्यां द्विविधाधिकारिणोः सुपूजितपदेन पूजाङ्गीकारस्य च शीघ्रं प्रतीतेस्तथेत्यर्थः । तटस्थनवकानने प्रकटो मोद आनन्दो यैस्तादृशपुष्पयुक्तेनाऽम्बुनेत्येवं तृतीयान्तार्थः । स्मरपितृपदेन प्रद्युम्नजनकत्वस्य शीघ्रं प्रतीतेस्तद्वारणाय तद्विवृण्वन्ति **जलेत्यादि** । भगवतस्तथात्वं 'यं मां स्मृत्वा निष्कामः सकामो भवती'ति तापनीयश्रुतेरपि सिद्धम् । पूर्वं निष्कामस्य भगवत्स्मरणेन भगवद्विषयकस्यैव तस्य जननात् ।

तीसरे ऐश्वर्य (यानि 'तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम्' यह तीसरा विशेषण है और इस पूरे विशेषण में से श्रीप्रभुचरणों को केवल 'स्मरपितुः' पद का ही विशेषरूप से अर्थ करने

की इच्छा है अतः आपश्री ने इसके अतिरिक्त अन्य पदों की व्याख्या नहीं की और "अग्रे स्पष्टम्" कह कर आगे बढ़ गये- यह श्रीपुरुषोत्तमचरणों का कहना है। ऐसा क्यों, यह श्रीपुरुषोत्तमचरण आगे बता रहे हैं) का विवरण करने के संदर्भ में प्रभुचरणों को इसके केवल एक पद का यानि 'स्मरपितुः' पद का ही विशेषतया अर्थ करने की इच्छा है, अन्य पदों का नहीं अतः आपश्री **अग्रे स्पष्टम्** यों कह कर आगे बढ़ गये और अन्य पदों की व्याख्या नहीं की। अब चूँकि 'सुर' एवं 'असुर' पद से दो प्रकार के अधिकारी एवं 'सुपूजित' पद से उन दोनों अधिकारियों की पूजा को भगवान स्वीकार करते हैं- इस अर्थ की तो शीघ्र प्रतीति हो जाती है यानि यह बात सरलता से समझ में आ जाने वाली बात है अतः इसमें कुछ विशेष समझाने की आवश्यकता नहीं है- ऐसा सोच कर प्रभुचरण **अग्रे स्पष्टम्** कह कर आगे बढ़ गये। तट पर स्थित नवकानन में प्रकट हुआ मोद/आनन्द जिससे है, ऐसे पुष्पयुक्त जल के द्वारा भगवान सुर एवं असुर से सुपूजित हैं। (चूँकि भगवान के चार व्यूहों में से प्रद्युम्नव्यूह को 'स्मरपिता' कहा जाता है अतः यहाँ कहे गये 'स्मरपितृ' पद से कोई प्रद्युम्नव्यूह न समझ ले, इस कारण प्रभुचरणों ने 'जलदर्शनस्य' इत्यादि शब्दों से इसका निवारण करके यह बताया है कि, यहाँ कहे गये 'स्मरपितृ' पद का तात्पर्य स्वयं साक्षात् भगवान ही हैं, न कि उनके व्यूह। इस बात को श्रीपुरुषोत्तमचरण आगे समझा रहे हैं) ऊपर(रेखांकित की गयी) वाली बात तो सरलता से समझ में आ सकने वाली बात है किन्तु **स्मरपितृ** शब्द से किसी को भगवान के बदले शीघ्र ही स्मरपिता-प्रद्युम्न का भ्रम हो सकता है, जो कि भगवान के व्यूह प्रद्युम्न हैं, जिसका निवारण करने के लिये प्रभुचरण ने 'स्मरपितृ' पद का विवरण **जल**(*जो श्रीयमुनाजी के जल का दर्शन करेगा उसे भगवान का स्मरण होगा एवं भगवान के प्रति भाव उत्पन्न होगा- यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने "श्रीयमुनाजी* ***स्मरपिता भगवान*** *की श्री को धारण करने वाली हैं" यह कहा है*) इत्यादि शब्दों से किया है। यहाँ 'स्मरपितृ(कामजनक या काम को उत्पन्न करने वाले)' पद का अर्थ साक्षात् भगवान ही हैं क्योंकि भगवान के कामजनक/स्मरपिता होने वाली बात तो "मेरा स्मरण करने से जो निष्काम है वह सकाम बन जाता है(गोपालतापनीय उपनिषद्/उत्तर-4)" इस तापनीतश्रुतिवाक्य द्वारा भी सिद्ध होती है। क्योंकि पहले जो निष्कामभाव से भगवत्स्मरण करता है, फिर भगवान उसमें भगवत्विषयक काम प्रकट कर देते हैं।

तत्साम्येनाऽत्राऽपि तथात्वात् । एवञ्चैताभ्यां विशेषणाभ्यां यद्दोषनिवर्त्तकत्वं भावजनकत्वं चोक्तं तत्पूर्वविशेषणोक्तसिद्धिदातृत्वसहकारित्वायेति बोध्यम् । अनुग्रहः सर्वत्र बीजमिति न क्वाऽपि कोऽपि चोद्यावसरः ।।१।।

अब चूँकि श्रीयमुनाजी भी भगवान के समान धर्म वाली ही हैं अतः वे भी जीव में भगवत्विषयक काम प्रकट कर देती हैं। इस प्रकार ऊपर कहे इतने विशेषणों द्वारा जो श्रीयमुनाजी के लिये दोषों का निवारण एवं भगवान के प्रति भाव उत्पन्न कर देने वाली बात कही गयी, वह पूर्व में जो उनके लिये सकलसिद्धियाँ देने वाली बात कही गयी थी, उसको बल देने के लिये कही गयी हैं- यह जान लेना चाहिए। इन सभी में मूलकारण तो अनुग्रह ही है ; क्योंकि श्रीयमुनाजी कैसे सभी दोषों का निवारण कर देंगी, कैसे भाववृद्धि करेंगी, कैसे और क्यों सकलसिद्धियाँ देंगी, इन बातों में शंका-कुशंका मत करिये क्योंकि इन सभी में श्रीयमुनाजी का जीवों के प्रति रहा अनुग्रह ही एक मात्र कारण है और उनके अनुग्रह के कारण ही इतना सभी कुछ संभव बनता है ॥1॥

ननु नदीत्वे साधारणेऽपि कथमत्रैवैष विशेष इत्याकाङ्क्षायामाधिदैविक्यां विशेषं वक्तुं द्वितीयं श्लोकं वदन्तीत्याशयेन द्वितीयमवतारयन्त्याविरित्यादि। आधिदैविक्याः सृष्टेर्वेदाधारत्वं देवताविग्रहाधिकरणे 'शब्द इति चेदि'ति सूत्रस्य भाष्ये मतान्तरापाकरणपुरस्सरं व्युत्पादितम् । रवेर्वेदात्मकत्वं च तैत्तिरीयाणां बृहन्नारायणोपनिषदि 'आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपती'त्यनुवाके श्रावितम् । तदन्तःस्थितस्य पुरुषस्य परब्रह्मत्वं च अन्तस्तद्धर्माधिकरणे व्यासचरणैरेव निर्णीतम् । मधुविद्यायां च 'यश्चाऽयमादित्ये तेजोमय' इत्युपक्रम्य 'अयमेव स योऽयमि'ति तस्य व्यापकत्वमपि श्रावितम् । पाद्मे यमुनामाहात्म्ये च – 'त्रय्येषा ऋग्यजुः साम्नामादित्य इति गीयते । सम्यग्ज्ञानं च यत्तेषां विश्वेषां कर्मणां मुने । सञ्ज्ञेति साऽस्यां यो धर्मो धर्मराजः स उच्यते । रसो यः परमाधारः सच्चिदानन्दलक्षणः । ब्रह्मेत्युपनिषद्गीतस्तदेव यमुना स्वयमि'ति । 'दिवसे दिवसे भानुरादायाऽऽदाय वत्सलः । उदयाचलतः पुत्रीं नयत्यस्ताचलं मुने । यमुनाऽपि ततो नित्यं गच्छन्त्यास्तेऽक्षयाऽव्यया ।

विशन्त्योघेन साऽदित्यमुदयाद्रौ पुनः पुनः । एवं भूमौ तथाऽऽकाशे घटीयन्त्रमिवाऽनिशम् । यमुनाऽस्तोदयाद्रिभ्यां भ्रमन्त्यास्तेऽक्षयोदके'ति वसिष्ठवाक्यं च हृदिकृत्य 'ममोदरं प्रविश्य त्वं गच्छ चाऽऽदित्यनन्दिनि । कालिन्दीति तव ख्यातिरस्तु लोकत्रये सदे'ति कलिन्दकृतवरप्रार्थनं च हृदिकृत्याऽऽचार्यैर्मूले पद्मबन्धोः सुतेत्युक्तमित्याशयेन रविमण्डलापादानकत्वोक्तिपुरस्सरं प्रथमविशेषणं व्याकुर्वन्ति रवीत्यादि ।

किन्तु किसी पूर्वपक्षी को एक शंका यह होती है कि, एक नदी के रूप में तो श्रीयमुनाजी अन्य नदियों की भाँति ही तो हैं, फिर उनमें इतना सब कुछ करने की सामर्थ्य कैसे हो सकती है ? तो श्रीप्रभुचरण **आविर्भावप्रकारमाहुः** (*अब आचार्यचरण आगे के श्लोक में* ***कलिन्द*** *इत्यादि शब्दों द्वारा श्रीयमुनाजी के भूतल पर आविर्भाव का प्रकार बता रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से श्रीयमुनाजी में विद्यमान आधिदैविकता की विशेषता को कह रहे हैं। श्रीयमुनाजी चूँकि आधिदैविकी हैं अतः श्रीयमुनाजी वेदस्वरूप सूर्य से उत्पन्न हुई हैं- यह बात श्रीपुरुषोत्तमचरणों को बतानी है अतः आपश्री इसे आगे प्रमाणसहित विस्तार से बता रहे हैं। आधिदैविकसृष्टि का आधार वेद है, यह बात ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरण में "शब्द इति चेत्(ब्रह्मसूत्र-1/3/28)" इस सूत्र के भाष्य में अनेक मतों का खंडन करके व्यवस्थितरूप से व्युत्पादित की गयी है। और, सूर्य की आधिदैविकता तो तैत्तिरीय बृहन्नारायणोपनिषद् में "आदित्यो वा एष(प्रश्नः4/14 बृहन्नारायणोपनिषद्/महानारायणोपनिषद्)" इस अनुवाक् में बतायी गयी है। और इस आधिदैविकसूर्य के अन्तःकरण में स्थित पुरुष की परब्रह्मता ब्रह्मसूत्र के 'अन्तस्तद्धर्माधिकरण(ब्रह्मसूत्र-1/1/20)' में व्यासचरणों ने निर्णीत कर ही दी है। और, मधुविद्या में "यश्चाऽयमादित्ये" यहाँ से लेकर "अयमेव स" यहाँ तक के वाक्य में उस आदित्य/सूर्य की व्यापकता भी बतायी गयी है। पद्मपुराण के यमुनामाहात्म्य में भी "ऋक्-यजुः-साम ये तीनों वेद आदित्य/सूर्य ही हैं। इन वेदों में कहा हुआ समस्त कर्मों का जो सम्यक् ज्ञान है, उसे 'संज्ञा' यानि सूर्य की पत्नी कहा गया है। उस सूर्य की पत्नी में सूर्य के द्वारा जिस धर्म की उत्पत्ति हुई है, उसी का नाम 'धर्मराज/यम' है। और जो रस परम आधाररूप सच्चिदानन्दात्मक है, जिसे उपनिषदों ने 'ब्रह्म' कहा है, वही रस यमुना है(पद्मपुराण)" यह कहा गया है। साथ ही साथ वसिष्ठजी के ["चूँकि सूर्य अपनी पुत्री श्रीयमुनाजी को अत्यन्त प्रेम करते हैं अतः वे उन्हें प्रतिदिन अपने संग उदयाचल से अस्ताचल तक भ्रमण कराने ले जाते हैं। फिर श्रीयमुनाजी भी नित्य उनके संग अक्षया और अव्यया रूप से भ्रमण करने जाती हैं (यानि आवागमन की प्रक्रिया में श्रीयमुनाजी का स्वरूप न घटता है और न ही बढ़ता है, वे यथावत् रूप से रहती हैं)। फिर वेगपूर्वक वे पुनः पुनः उदयाद्रि से आदित्य/सूर्य में मिल जाती हैं। यों उदयाचल से अस्ताचल और अस्ताचल से फिर वेगपूर्वक समुद्र में, फिर समुद्र से सूर्य में, फिर वहाँ से कलिन्दपर्वत पर और कलिन्दपर्वत पर से भूमि पर और भूमि से फिर आकाश तक, यों एक घटीयन्त्र (खेतों में सिंचाई करने के लिये कुए के ऊपर एक गोलाकार चक्का लगा दिया जाता है जिसमें कई घड़े लगे होते हैं। इस चक्के को रस्सियों से बैल खींचते रहते हैं और उसमें लगा हुआ प्रत्येक घड़ा गोल चक्कर लगाता हुआ कुए में से जल भरकर खेत की क्यारियों में लगातार छोड़ता चला जाता है। इस गोलाकार चक्के को घटीयन्त्र या रहट्ट या अरघट्ट कहा जाता है) की भाँति श्रीयमुनाजी भूमि और ब्रह्मांड के चक्कर लगा रही हैं"] इस वाक्य को हृदयंगम करके और कलिन्दपर्वत द्वारा की गयी "हे आदित्यनन्दिनी श्रीयमुने ! तुम मेरे उदर में प्रवेश करके भूमि पर जाओ और वहाँ तीनों लोकों में तुम्हारी 'कालिन्दी' के नाम से प्रसिद्धि होगी" इस प्रार्थना को भी हृदयंगम करके आचार्यचरणों ने मूलस्तोत्र में श्रीयमुनाजी को **पद्मबन्धोः सुता**(सूर्यपुत्री श्रीयमुना) कहा है- इस बात को कहने के आशय से प्रभुचरणों ने रविमण्डल से श्रीयमुनाजी के प्रकट होने की बात कहते हुए **रविमण्डल** इत्यादि शब्दों से श्रीयमुनाजी के प्रथम विशेषण (कलिन्दगिरिमस्तके पतदमन्दपूरोज्ज्वला) का व्याख्यान किया है।

अत्र वर्षावद्रश्मिभ्यो नोत्पत्तिः किन्तु स्वरूपादित्याशयेन मण्डलस्याऽपादानत्वोक्त्या पूर्वोक्तरीतिकवेदाधारत्वस्फोरणेन तत्राऽऽधिदैविकत्वं दृढीकृतम् । तथैवाऽधिकरणकथनेन सौरगत्यनधीनपातत्वबोधनात्तदन्तःस्थितादेवाऽऽगमनं न भौतिकाद्रवेरिति निश्चायितम् । तृतीयान्तद्वयेनोज्ज्वलत्वस्याऽऽगन्तुकत्वबाह्यत्वबोधनात् स्वरूपश्यामत्वस्याऽबाधो ध्वनितः । तेनाऽऽपाततो दर्शनविरोधोऽपि परिहृतः ।

रवि/सूर्य से श्रीयमुनाजी की उत्पत्ति सूर्य की किरणों के माध्यम से हुई वर्षा के कारण उत्पन्न होने वाली अन्य

नदियों की भाँति नहीं हुई है (शास्त्रों में कहा जाता है कि, सूर्य अपनी रश्मियों/किरणों से समुद्र के जल को सोखता है एवं तत्पश्चात् वर्षा के रूप में पुनः बरसाता है जिससे नदियाँ एवं अन्यान्य जलाशय बनते हैं, किन्तु श्रीपुरुषोत्तमचरणों का कथन यह है कि, उक्त प्रकार से श्रीयमुनाजी की उत्पत्ति नहीं हुई है अपितु सूर्य के अन्तर्वर्ति स्वयं नारायण के स्वरूप से ही हुई है), अपितु स्वयं नारायण के स्वरूप द्वारा श्रीयमुनाजी की उत्पत्ति हुई है- इस बात को कहने के आशय से प्रभुचरणों ने सूर्यमण्डल को श्रीयमुनाजी का उपादान बता कर पूर्व में कहे "आधिदैविकी सृष्टि का आधार वेद होता है" इस बात को बताते हुए श्रीयमुनाजी की आधिदैविकता दृढ़ की है क्योंकि श्रीयमुनाजी आधिदैविकी सृष्टि करती हैं और श्रीयमुनाजी की उत्पत्ति का स्थान सूर्य है जो कि वेदस्वरूप है अतः श्रीयमुनाजी जो सृष्टि करती हैं उसका आधार वेद हो गया- यह अर्थ है। चूँकि सूर्यमण्डल के अन्तर्वर्ति नारायण के निवासस्थान से श्रीयमुनाजी का आगमन हुआ है, यानि वही श्रीयमुनाजी की उत्पत्ति का मूलस्थान कहा गया है अतः श्रीयमुनाजी सूर्यगति के अधीन होकर नहीं पधारी हैं अपितु उसके अन्तस्थित श्रीनारायण के निवासस्थल से ही पधारी हैं अतः बोध होता है कि श्रीयमुनाजी का भूतल पर आगमन भौतिक रवि/सूर्य से नहीं हुआ है (यानि हमें दिखाई देने वाले भौतिकसूर्य जिसके माध्यम से वर्षा आदि होती है, उस सूर्य से श्रीयमुनाजी की उत्पत्ति नहीं हुई है अपितु ऊपर कहे शास्त्रवाक्यों के अनुसार सूर्य के अन्तर्वर्ति विराजे हुए नारायण से हुई है) - यह बात निश्चित होती है। प्रभुचरणों की विवृति में कहे 'फेनेन' एवं 'प्रवाहजलेन' इन दो तृतीयान्त पदों के द्वारा आपश्री ने फेन एवं उज्ज्वलता को श्रीयमुनाजी का बाहरी और आगन्तुकधर्म बताया है, जिससे आपश्री यह कहना चाहते हैं कि श्रीयमुनाजी का वास्तविक स्वरूप तो श्याम ही है- यह ध्वनित होता है। इसी बात से आपश्री ने श्रीयमुनाजी अपने श्यामस्वरूप से विरुद्ध आपाततः उज्ज्वल दिखाई देती हैं, इस विरोध का भी परिहार कर दिया है।

अतः परमुक्तविशेषणस्थममन्दत्वं द्रढयितुं विलासगमनेत्यादि द्वितीयं विशेषणमित्याशयेन तद् व्याकुर्वन्त्युच्चनीचेत्यादि । एवं क्रियाविशेषकृतशोभया प्रवाहाविच्छेदबोधनेनाऽऽमन्दत्वं स्थिरीकृतम्, तेनाऽपादानस्य व्यापकत्वेऽपि प्रदेशभेदस्य विद्यमानत्वान्मूलधाम्न एव समागमनं स्फोरितम् । अथ तद्गमकं भगवन्मेलनोत्सुकत्वं बोधयितुं सघोषगतिदन्तुरेत्यग्रिमं विशेषणमित्याशयेन तद् व्याकुर्वन्तः पूर्वविशेषणवाच्योऽर्थ उत्तरत्राऽप्युपकरोतीत्याशयेन तमनूद्याऽवतारयन्त्युच्चत इत्यादि ।

इसके पश्चात् श्रीयमुनाजी के लिये दिये गये 'अमन्द(तीव्र)' विशेषण को दृढ़पूर्वक समझाने के लिये यानि श्रीयमुनाजी तीव्रगति से क्यों पधार रही हैं, यह समझाने के लिये आगे उन्हें 'विलासगमन' इत्यादि द्वितीयविशेषण भी दिया गया है, यानि श्रीयमुनाजी को प्रभुमिलन की शीघ्रता है अतः वे तीव्रता से पर्वतखण्डों से पधारती हुई ऊपर-नीचे होती हुई पधार रहीं हैं, जिसके कारण उनकी गति विलासपूर्वकगति प्रतीत होती है। इसी विलासगति का विवरण आपश्री ने **उच्चनीच** इत्यादि शब्दों से किया है। इस प्रकार प्रभुचरणों ने उपर्युक्त विशेष क्रियाओं द्वारा होने वाली श्रीयमुनाजी की शोभा द्वारा एवं उन्हें निरन्तरप्रवाहयुक्त कहा होने से उनमें 'अमन्दता/तीव्रता' को स्थापित किया ; जिसके द्वारा आपश्री ने यह बात स्पष्ट की है कि, यद्यपि श्रीयमुनाजी की उत्पत्ति का मूलस्थान सूर्यमण्डल तो व्यापक है, तथापि उस व्यापक सूर्यमण्डल के केवल अन्तर्वर्ति मध्यस्थान मूलधाम यानि नारायण के विराजने के मूलस्थान से ही श्रीयमुनाजी भूतल पर पधारी हैं। अब इसके आगे श्रीयमुनाजी अमन्दगति/तीव्रगति से क्यों पधार रही हैं, इसका कारण उनकी भगवान से मिलने की उत्सुकता है, जिसे बताने के लिये 'सघोषगतिदन्तुरा' यह अग्रिम विशेषण है- इस आशय को कहने के लिये आपश्री ने इसकी व्याख्या **उच्चतः पाते** इत्यादि वाक्यों द्वारा की है। श्रीयमुनाजी को दिये गये 'कलिन्दगिरि.........शैलोन्नता' इन विशेषणों में जिस प्रकार का व्याख्यान किया गया है, वही अर्थ आगे के 'सघोषगति......... ...मुकुन्दरतिवर्द्धिनी' तक के व्याख्यानों से भी जुड़ता है, अतः उन समस्त विशेषणों में आचार्यचरणों का जो भाव है, उसे लेकर उसकी व्याख्या श्रीप्रभुचरणों ने **उच्चतः पाते** इत्यादि वाक्यों द्वारा की है। तात्पर्य यह कि प्रभुचरण 'उच्चतः पाते' इत्यादि शब्दों से ऊपर कहे उन्हीं विशेषणों द्वारा कहे गये भावों की व्याख्या कर रहे हैं।

तत्र 'दन्तुरं तून्नतानतमि'ति कोशोक्तस्य वाच्यार्थस्य पूर्वार्ध एव सिद्धेस्तदनुवादवैयर्थ्यादत्र लाक्षणिकोऽर्थोऽभिप्रेयत इत्याशयेन

विवक्षितमर्थमाहुर्दन्तुरेत्यादि । अत्र जयदेवोक्तिं सम्मतित्वेनाऽऽहुर्विपुलेत्यादि । पुलकेऽपि रोमकूपदेशे उच्छूनतेव भवतीति नोक्तार्थदार्ढ्यमिति द्वितीयमुदाहरणम् ।

वैसे 'दन्तुर' शब्द का वाच्यार्थ "दन्तुरं तून्नतानतम्(अमरकोष-3/1/69) वैसे अमरकोष में 'बन्धुरं' शब्द है" इस कोश में कहे वाक्यानुसार पूर्वपंक्ति में ही सिद्ध हो चुका है अतः फिर वापस से उसी अर्थ को दोहराना व्यर्थ होता, इसलिये प्रभुचरण को यहाँ इसका वाच्यार्थ नहीं अपितु लाक्षणिक अर्थ करना अभिप्रेत है- इस दृष्टि से आपश्री को जो लाक्षणिक अर्थ करना है, उसे आपश्री **दन्तुरशब्देन** इत्यादि वाक्यों से कह रहे हैं। इसमें श्रीप्रभुचरणों ने यह कहा है कि, उन्होंने 'दन्तुर' शब्द का जिस प्रकार से अर्थ किया है, उसे जयदेवजी ने भी माना है अतः आपश्री ने जयदेवजी द्वारा लिखी पंक्तियों के दो उदाहरण **विपुल** इत्यादि पंक्तियों द्वारा दिये हैं। परन्तु, 'दन्तुर' शब्द का सामान्य अर्थ होता है- उन्नतता , ऊँचा-नीचा या पुलकितता या रोमांचित होना, रोमकूप खड़े होना ; और ध्यान से देखें तो जयदेवजी के उदाहरणों में से पहले 'विपुलपुलक' वाले उदाहरण में भी 'दन्तुर' शब्द का अर्थ आखिरकार तो पुलकितता होने पर रोमकूप खड़े हो जाने वाला अर्थ ही आ जाता है, सो देखा जाय तो एक तरह से वही के वही अर्थ हो गया जो अर्थ कोश में है और जो अर्थ प्रभुचरणों को अभिप्रेत नहीं है, इसीलिये प्रभुचरणों ने अपनी बात समझाने के लिये दूसरा 'केतकीदन्तुरिताशे' वाला उदाहरण भी दिया।

उक्तमर्थं हेतुक्त्या द्रढयन्ति व्रजजनेत्यादि । समानो घोषो व्रजो यस्य तत् सघोषं व्रजजनादि । 'समानस्य छन्दस्य मूर्द्धप्रभृत्युदर्केष्वि'ति सूत्रे समानस्येति योगं विभज्य सपक्षसाधर्म्यादिशब्दाः काशिकायां व्युत्पादितास्तथाऽत्राऽपि । सदृशस्तुल्यो वासो घोषो यस्य तद्वा । अस्वपदविग्रहे बहुव्रीहौ सदृशार्थस्य सहस्य सभावेन कौमुद्यां ते साधितास्तथा वा । तथा च 'व्रजन्तमिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निर्झरैरि'तिवत्तद्गतिभिर्विविधविकारवतीवेत्यर्थः । विकारश्चाऽत्र रसानुकूलो बाह्याभ्यन्तरो धर्मो बोध्यः यो रसशास्त्रे भावपदेनोच्यते ।

अब आपश्री ने 'दन्तुर' शब्द का दूसरा 'विविधविकार या विविधभाव' वाला अर्थ क्यों किया, इसका हेतु आपश्री **व्रजजन** इत्यादि शब्दों से कह कर अपने पक्ष को दृढ कर रहे हैं। सबसे पहले 'सघोष' शब्द का अर्थ होता है = "समान है घोष/व्रज जिसके लिये, वह है 'सघोष'। यानि कि- 'व्रजजन'। हमने 'स' वर्ण से 'समान' अर्थ "समानस्य छन्दस्य(पा0अष्टा0-6/3/84)" इस सूत्र पत्र लिखी काशिकाटीका के आधार पर किया है। जैसे काशिकाटीका में 'स' का अर्थ 'समान' किया गया है, उसी प्रकार हमने भी 'सघोष' में से 'स' का अर्थ 'समान' लेकर उसकी व्युत्पत्ति "घोष/व्रज जिसके लिये समान है, उसे सघोष कहेंगे" यों की है। घोष/व्रज तो व्रजजनों के लिये समान है अतः सघोष का अर्थ है- व्रजजन। अथवा यदि लघुकौमुदी के अनुसार 'सघोष' का व्रजजन अर्थ करना हो तो, 'स' का अर्थ 'सदृश' भी किया जा सकता है ; यानि समानरूप से जिनका घोष/वास हो, उन्हें 'सघोष' कहेंगे। क्योंकि अस्वपद वाले बहुव्रीहिसमास में सदृश अर्थ बताने वाले 'सह' शब्द को 'स' आदेश हो जाता है- यह बात कौमुदी में सिद्ध की गयी है अतः 'सघोष' में 'स' का अर्थ है- सदृश/समान। यानि कि 'सघोष' का अर्थ हुआ- 'व्रजजन'। इसलिए ऊपर बताये गये सभी विश्लेषणों को ध्यान में रखते हुए समझिए कि, 'कैलासपर्वत पर कल्पवृक्ष की डालियों को हिल रही हैं, तो ऐसा लगता है मानों वह पक्षियों को बुला रहा हो। हाथियों के चलने-फिरने के कारण ऐसा लगता है मानों स्वयं कैलासपर्वत चल रहा हो। झरनों की कल-कल ध्वनि से ऐसा लग रहा है मानों झरना किसी से बात कर रहा हो(श्री0भा-4/6/13)" इन उदाहरणों में बताये गये भावों को ध्यान में रखते हुए श्रीप्रभुचरणों को समझाना यह है कि, श्रीयमुनाजी भी गतिशील होकर ऐसे बह रही हैं मानों उनके मन में प्रभुमिलनसंबंधी विविधविकार यानि विविधप्रकार के भाव उठ रहे हों- यह उनके लिये प्रयुक्त हुए 'सघोषगतिदन्तुरा' शब्द का अर्थ है। विविधविकार/विविधभाव का अर्थ है- रस प्रकट होने में अनुकूल बाह्य एवं आभ्यान्तर धर्म; जिनको रसशास्त्र में 'भाव' के नाम से कहा गया है।

एतस्य पक्षस्य गौणत्वायोत्प्रेक्षावाचकपदप्रयोगः । गौणत्वं तु व्रजजनसम्बन्धस्य समभूमौ सत्त्वेनाऽत्राऽभावात्स्वतस्तथात्वासिद्ध्या मूलधामागमनगमकत्वाभावाच्च ज्ञेयम् । अनेनैवाऽस्वरसेन पक्षान्तरं वदिष्यन्तो घोषपदस्याऽर्थावाहुः – घोषः शब्दो व्रजो वेति । शब्दपक्षे घोषेण सह वर्तमाना सघोषा तादृश्या गत्या तथा । ससिञ्जिताभिसरणेनोत्कटानेकभावेत्यर्थः ।

वैसे एक बात यह भी है कि, 'दन्तुर' शब्द का जैसा अर्थ ऊपर किया गया, वह तो गौणपक्ष है; और इसी कारण प्रभुचरणों ने 'दन्तुर' शब्द के लिये उत्प्रेक्षावाचक पद का प्रयोग किया है। जहाँ पर किसी एक वस्तु की

समानता दूसरे से बतायी गयी हो, उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं। उदाहरण के रूप में "कमल जैसे नेत्र" या "चंद्र जैसा मुख" इत्यादि वाक्यों में नेत्रों की सुंदरता बताने के लिये उन्हें कमल जैसे बताया गया है या मुख की सुंदरता बताने के लिये उसे चंद्रमा की उपमा दी गयी है, तो इसे उत्प्रेक्षा कहा जाता है। यद्यपि 'दन्तुर' शब्द का सामान्य अर्थ तो 'उन्नतता' या 'पुलकितता' होता है और प्रभुचरणों ने इसका अर्थ श्रीयमुनाजी के संदर्भ में "व्रजजन-गोवृन्द आदि की विविधगति के कारण श्रीयमुनाजी भी दन्तुरा जैसी दिखाई पड़ रही हैं यानि पुलकित होती प्रतीत हो रहीं हैं" यों उत्प्रेक्षावाचक अर्थ किया है परन्तु अब यहाँ समझने वाली बात यह है कि, श्रीपुरुषोत्तमचरणों के अनुसार श्रीप्रभुचरणों को 'सघोष' पद का अर्थ 'व्रजजन' करने में असमंजसता आयी होगी, और वो इसलिये, क्योंकि अभी तो श्रीयमुनाजी के उस समय के वर्णन की बात चल रही है जब श्रीयमुनाजी ऊँचे पर्वत से होती हुई पधार रही हैं और ऊँचे पर्वत पर उन्हें व्रजजनों का संग मिलना कैसे संभव है, क्योंकि उन्हें व्रजजनों का संग तो नीचे समतल भूमि पर आने के बाद मिलना है !!! यानि इस समय ये कैसे कहा जा सकेगा कि वे व्रजजनों के संग उनके भावों को देखकर पुलकित हो रहीं हैं !! साथ ही साथ, यदि उन्हें पर्वत पर से पधारते समय व्रजजनों का संग प्राप्त ही नहीं है, तो फिर उन्हें उस समय दन्तुरा कहकर 'विविधभाववती' भी कहना कैसे संभव बन पायेगा ? क्योंकि व्रजजन एवं उनके प्रभुसंबंधी भावों को देखकर ही तो श्रीयमुनाजी में भी प्रभुसंबंधी विविधभाव उठ रहे हैं, और इसी अर्थ में तो उन्हें 'दन्तुरा' भी कहा गया था !! अब यदि व्रजजन ही नहीं हैं, तो न तो उनमें विविधभावों का उदय होना संभव हो सकेगा और न ही उन्हें 'दन्तुरा' ही कहा जा सकेगा। दूसरी आपत्ति यह आयेगी कि, यदि वहाँ व्रजजन नहीं हैं तो, श्रीयमुनाजी सीधे भगवान के मूलधाम से पधारीं हैं यह कहना भी कैसे संभव बन पायेगा क्योंकि भगवान के मूलधाम में तो व्रजजनों के साथ नित्य भगवल्लीला चलती रहती है, इसलिये यदि वहाँ व्रजजन नहीं हैं- ऐसा कह दिया जायेगा तो बात परस्पर विरोधास्पद हो जायेगी। अतः श्रीपुरुषोत्तमचरणों का कथन है कि, उपर्युक्त कारणों का पर्याप्त मंथन करने के पश्चात् श्रीप्रभुचरणों ने आगे 'सघोष' का अर्थ बदल कर 'शब्द' कर दिया, जिसे आगे की पंक्तियों में आपश्री ने कहा है। 'दन्तुरा' पद श्रीयमुनाजी को 'विविधभाववती' कहने का अर्थ लेने वाले पक्ष की गौणता इसलिये है क्योंकि श्रीयमुनाजी का व्रजजनों से सम्बन्ध तो पर्वत से उतर कर समतल भूमि पर पधारने के पश्चात् ही संभव बन सकता है, परन्तु ये वर्णन तो अभी उस समय का चल रहा है, जब श्रीयमुनाजी पर्वत से होकर पधार रही हैं और चूँकि पर्वत पर व्रजजन हो नहीं सकते और यदि वहाँ व्रजजन ही नहीं हैं तो वे 'दन्तुरा/विविधभाववती' कैसे हो सकतीं हैं ? साथ ही साथ यदि पर्वत पर से पधारते समय श्रीयमुनाजी को व्रजजनों का संग प्राप्त नहीं था, तो ये भी कैसे कहा जा सकेगा कि वे भगवान के मूलधाम से पधारीं हैं !!! क्योंकि भगवान के मूलधाम में तो व्रजजनों के संग ही नित्य भगवल्लीला चलती रहती है ? अतः इन दोनों ही कारणों से 'सघोष' पद का अर्थ 'व्रजजन' करने में प्रभुचरणों को असमंजसता आ रही थी और इसी कारण श्रीप्रभुचरणों को उक्त अर्थ में रस नहीं आया होगा, इसलिये उन्होंने पक्षान्तर करके 'घोष' शब्द का अर्थ बदल दिया और **घोषः शब्दो व्रजो वा** (*घोष का अर्थ 'शब्द' और 'व्रज' दोनों होता है*) इस वाक्य द्वारा इसका अर्थ 'शब्द' भी कर दिया। यदि घोष का अर्थ 'शब्द' मान लें तो अर्थ होगा- श्रीयमुनाजी शब्द करती हुई यानि घोषयुक्त गतिपूर्वक पधार रही हैं और 'दन्तुरा' हो रही हैं। शब्द करते हुए गमन करने के कारण श्रीयमुनाजी को 'सघोषगतिदन्तुरा' कहने का अर्थ है- श्रीयमुनाजी गाती हुई अनेक उत्कट भावों के सहित गमन कर रही हैं।

अस्मिन् पक्षे नोत्प्रेक्षेति यद्यपि तदपेक्षयाऽयमुत्तमस्तथापि लीलाया नित्यत्वेन मूलधाम्न्यपि व्रजसम्बन्धस्य सार्वदिकत्वात्प्रथमपक्षस्याऽपि नाऽसम्भवः'। स्वाभाविकतथात्वपक्षश्चाऽऽवश्यक एवेति द्वयमपि सङ्ग्रहीतुं व्याख्यातविशेषणद्वयस्य द्वितीयविशेषणार्थद्वयस्य च तात्पर्यमाहुरनतीत्यादि । 'गण्डशैलास्तु ते प्रोक्ताश्च्युताः स्थूलोपलागिरेरि'ति कोशे गिरिच्युतानां तथात्वकथनादनतिस्थूलशिलासु या गतिरुच्चनीचभावेन गमनं तत्र घोषेण यत्सिञ्जितवत्ताव्यञ्जनं सैव शोभा तया स्वयमसमधिरूढेव समानसौभाग्यानां साहित्यात्स्वयमपि पादचारिणीव ।

इस प्रकार से अर्थ करने में आपश्री को कोई उत्प्रेक्षा भी नहीं करनी पड़ी और सीधे-सीधे सरलतापूर्वक अर्थ हो गया। यद्यपि आपश्री ने पहले जिस प्रकार से 'सघोषगतिदन्तुरा' का अर्थ किया था, उसकी तुलना में अभी ये वाला अर्थ उत्तम है, तथापि, चूँकि मूलधाम में तो प्रभुलीला तो नित्य चलती रहती ही है अतः प्रभु के

मूलधाम में भी व्रजजन तो सर्वदा होने ही हैं अतः उस प्रथमपक्ष वाले अर्थ को भी असम्भव तो खैर नहीं कहा जा सकता। और चूँकि दूसरा वाला पक्ष भी स्वाभाविक ही है यानि दूसरे पक्ष में ऊपर से जल नीचे गिरने में जो शब्द/ध्वनि होती है, वह अर्थ तो स्वाभाविक ही है अर्थात् सामान्यतया गिरते हुए जल में ध्वनि/शब्द तो होता ही है अतः वह स्वाभाविक अर्थ करना भी तो आवश्यक ही था, इसलिये प्रभुचरणों ने इन दोनों पक्षों को मिलाकर अर्थ करने के लिये 'दन्तुरा' विशेषण के दोनों प्रकार के अर्थों को एवं द्वितीयविशेषण 'सघोष' के दोनों प्रकार के अर्थों का तात्पर्य बताने के लिये **अनतिस्थूल** इत्यादि शब्दों से कहा है। "गण्डशैल उन्हें कहते हैं, जो शिलाखण्ड पर्वत पर से नीचे गिर जाते हैं(अमरकोष-2/4/6)" इस कोशवाक्यानुसार पर्वत पर से नीचे गिरने वाले शिलाखण्डों को 'गण्डशैल' कहते हैं। **अनतिस्थूलशिलासु गतिशोभया** (*छोटी छोटी शिलाओं पर गति करती हुई श्रीयमुनाजी यद्यपि वहाँ कोई डोली/पालकी नहीं है तथापि ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी उत्तम डोली पर बैठ कर पधार रही हों*) का अर्थ है- उन छोटी-छोटी शिलाओं पर से पधारते समय ऊँची-नीची होती हुई श्रीयमुनाजी की जो गति है, उस गति के कारण जो घोष/ध्वनि/शब्द हो रहा है, उससे ऐसा लगता है मानों उनमें प्रभुसंबंधी विविधप्रकार के भाव उत्पन्न हो रहे हैं, और उन भावों को वे शब्दों द्वारा व्यक्त करती हुई पधार रही हैं, वही श्रीयमुनाजी की शोभा है। अपने प्रियतम से मिलने जा रही नायिका के मुख से निकलने वाले अस्पष्ट शब्दों को 'सिञ्जित' कहते हैं। उस शोभा को धारण करती हुई श्रीयमुनाजी **असमधिरूढेव** (किसी डोली पर बैठी नहीं हैं) हैं अर्थात् यों लग रहा है मानो उनके समानसौभाग्यवाली अन्य गोपिकाएँ यदि उनके संग हैं, तो वे भी उनकी भाँति चल कर ही पधार रही हैं, डोली पर बैठ कर नहीं पधार रही हैं।

तथाच सेयमाधिदैविकी यद्यपि दोलास्थानीये आधिभौतिके जलरूपे आरुह्य गच्छतीत्यग्रिमविशेषणे वक्तव्यं तथापि विलासगमनेत्यादिविशेषणद्वयवत्त्वादसमधिरूढेवेत्यर्थः ।

यद्यपि श्रीयमुनाजी स्वयं आधिदैविकी हैं एवं डोलीस्थानीय आधिभौतिक जलरूपी डोली में बैठ कर पधार रही हैं, ऐसा आगे आने वाले 'समधिरूढदोलोत्तमा' विशेषण द्वारा आचार्यचरणों को कहना है, परन्तु, इसके पूर्व में श्रीयमुनाजी की 'विलासगमनोल्लसत्' इस विशेषण द्वारा विलासपूर्वक गति दर्शायी गयी है अतः यदि श्रीयमुनाजी विलासगति करती हुई जा रहीं हैं, तो इसमें डोली में बैठने वाला विशेषण ठीक नहीं बैठ पायेगा इसलिये प्रभुचरण **असमधिरूढेव समधिरूढदोलोत्तमा** (छोटी छोटी शिलाओं पर गति करती हुई यद्यपि वहाँ कोई डोली/पालकी नहीं है तथापि ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी उत्तम डोली पर बैठ कर पधार रही हों) यों कह रहे हैं- यह अर्थ है।

द्वितीयविशेषणप्रथमव्याख्याने घोषो व्रजसुन्दरीप्रभृतिवृन्दम् । तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः । तेन सह वर्त्तमाना सघोषा तादृश्या गत्या चरणचलनेन दन्तुरेव दन्तुरेति । "समासे पुंवत्कर्मधारयजातीयेष्वि"तिं पुंवद्भावः । एवं शब्दपक्षव्याख्यानेऽपि ज्ञेयः ।

द्वितीयविशेषण 'सघोष' के लिये किये गये पहले व्याख्यान के अनुसार 'घोष' का अर्थ होगा- व्रजदेश में रहने वाली व्रजसुन्दरियों का समूह। अब 'घोष' शब्द से 'व्रज' अर्थ तो होता है परन्तु व्रज में रहने वाले लोग ऐसा अर्थ कैसे होगा- यह श्रीपुरुषोत्तमचरण आगे बता रहे हैं। 'घोष' शब्द से व्रजसुन्दरियों का अर्थ प्रभुचरणों ने "तात्स्थ्यात् व्यपदेशानुसार" लिया है। कभी कभी आपस की सामान्य बोलचाल की भाषा में किसी व्यक्ति को बुलाना हो या संबोधित करना हो तो उसे उसके देश/शहर के नाम से भी बुलाया या संबोधित किया जाता है, जहाँ का वह निवासी हो। जैसे, मान लीजिए, किसी प्रसंग में किन्हीं परदेश से आने वाले अतिथिगणों की प्रतीक्षा हो रही हो और उनमें से कोई दिल्लीनिवासी आ पहुँचे, तो कभी-कभार यों कहा जाता है कि- "चलो दिल्ली तो आ गयी, अब नागपुर कब आयेगा?" यानि उस व्यक्ति को उसके नाम से न बुलाकर उसके देश या शहर के नाम से बुलाया गया, जहाँ का वह निवासी है। जब व्यक्ति को उसके निवासस्थल के नाम से संबोधित किया जाय, तो इसे 'तात्स्थ्यात् व्यपदेश' कहते हैं। यहाँ बात 'घोष' शब्द की चल रही है। घोष का अर्थ होता है- व्रज। यानि, यदि घोष/व्रज कहा जा रहा है, तो ऊपर कहे तात्स्थ्यात् व्यपदेशानुसार इसे घोष/व्रज न समझ कर व्रज के जो निवासी हैं, वे समझने चाहिएँ। यानि घोष का अर्थ हुआ- घोष/व्रज के निवासी अर्थात् व्रजवासी या व्रजजन। और 'घोष/व्रजसुन्दरियों' के संग रहने वाली 'सघोषा' यानि श्रीयमुनाजी उनके संग चल रही हैं, इस कारण उनके भावों को देखकर वे स्वयं भी विविधभाववती हो रही हैं अतः आचार्यचरणों ने उन्हें

'सघोषगतिदन्तुरा' कहा। पूरे 'सघोषगतिदन्तुरा' पद की समास में 'पुंवत्कर्मधारयजातीयेषु" इस सूत्रानुसार पुंवद्भाव करने पर समास ठीक ढंग से बनेगी। हमने ऊपर 'घोष' का अर्थ 'व्रजदेश' करके तो अर्थ कर ही दिया है, अब उसी पद्धति से **घोष** का अर्थ 'शब्द' करके भी उसका अर्थ आपको स्वयं ही समझ लेना चाहिए।

एवं सकलसिद्धिहेतुत्वदार्ढ्यार्थमाधिदैविकत्वमनेकधा समर्थयित्वा भूमौ लीलासम्बन्धआधिभौतिकादिरूपद्वयविशिष्टायामस्तीत्यादिज्ञापनाय तदुभयसाहित्यं हृदिकृत्याऽग्रिमं व्याकरिष्यन्तः प्रथममाधिभौतिकसाहित्यमाहुः समधीति । दोला शिबिका, उत्तमत्वं तु तस्या अपि, अग्रे लीलासम्बन्धात् । समधिरूढा आविष्टा सा ययेत्यर्थः ।

इस प्रकार से यहाँ तक श्रीयमुनाजी सकलसिद्धियों को देने वाली क्यों/कैसे हैं, इस पक्ष को दृढ़ बनाने के लिये श्रीयमुनाजी में विद्यमान आधिदैविकता का अनेक प्रकारों से समर्थन करने के पश्चात् अब श्रीयमुनाजी का भूमि पर जो भगवल्लीला से सम्बन्ध हुआ है, वह सम्बन्ध श्रीयमुनाजी के आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक इन दोनों विशिष्टस्वरूपों को भी हुआ है- यह बताने के लिये इन दोनों स्वरूपों के सहित श्रीयमुनाजी के स्वरूप को हृदय में धारण करके अग्रिम **समधिरूढदोलोत्तमा** का व्याख्यान करते हुए प्रथमतया श्रीयमुनाजी के आधिभौतिकसहित स्वरूप को प्रभुचरण **समधि** (*मानों किसी उत्तम डोली पर बैठ कर पधार रही हों*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। दोला का अर्थ है- डोली या पालकी। श्रीयमुनाजी की जलरूपा डोली भी उत्तम ही है, क्योंकि आगे श्रीयमुनाजी के जल का भी प्रभुलीला से सम्बन्ध जो होने वाला है।

अथाऽऽध्यात्मिकसाहित्यमग्रिमे विवृण्वन्ति ततो भूमावित्यादि । तत इति दोलारोहोत्तरम् । भूमावागत्येति, दूराद्रिरिमूर्द्धपातक्लेशसहनपूर्वकं भूमावागत्य । एवमुभयसाहित्यात् "कलिन्दतनयातटोन्मदे"त्यादीनां न विरुद्धत्वम् । तथा पद्मबन्धोः सुतेत्यस्य 'जयति'क्रियाकर्तृत्वेन विशेष्यत्वेऽप्याधिदैविक्या नित्याया एव स्तुत्यत्वेन विवक्षिततत्वात्तद्विचारेणाऽस्याऽपि विशेषणत्वमेव । तेन 'कलिन्दगिरी'त्यारभ्य 'पद्मबन्धोः सुते'त्यन्तानि पञ्चाऽपि विशेषणानि भगवद्रतिवर्द्धकत्वस्यैवोपकारकाणीति द्वितीयैश्वर्यवत्त्वमनेन श्लोकेन समर्पितम्। एतेन द्वितीयमैश्वर्य्यं रूपद्वयविशिष्टायामित्यपि ज्ञापितम् ।।२।।

श्रीयमुनाजी के आध्यात्मिकसहित स्वरूप का विवरण प्रभुचरण **ततो भूमौ** (*श्रीयमुनाजी मानों किसी उत्तम डोली पर बैठ कर पधार रही हों। डोली पर से वे भूतल पर पधारीं और मुकुन्द में रति बढ़ाने वाली मुकुन्दरतिवर्धिनी बनीं*) इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **ततः** का अर्थ है- डोली पर बैठ कर भूमि पर पधारने के पश्चात्। **भूमावागत्य** (*डोली पर से वे भूतल पर पधारने के पश्चात् श्रीयमुनाजी मुकुन्द में रति बढ़ाने वाली मुकुन्दरतिवर्धिनी बनीं*) इत्यादि शब्दों का अर्थ है- दूरवर्ती पर्वत के शिखर पर से नीचे गिरने के क्लेश को सहन करके भूमि पर पधारने के पश्चात् श्रीयमुनाजी ने जीवों के लिये मुकुन्द में रति बढ़ाने का कार्य किया। इस प्रकार चूँकि श्रीयमुनाजी आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों स्वरूप वाली भी हैं, इसलिये "कलिन्दतनयातटोन्मदा" इस श्लोक में जो श्रीयमुनाजी में उन्माद होना इत्यादि बातें कही गयीं हैं, उसे श्रीयमुनाजी के इस अष्टक में कहे स्वभाव से विरुद्ध न मानें क्योंकि उसे श्रीयमुनाजी का आधिभौतिकस्वरूप समझ लेना चाहिए। और, यद्यपि इस श्लोक में 'जयति' इस क्रियापद का अन्वय 'पद्मबन्धोः सुता;' से ही होता है अतः 'पद्मबन्धोः सुता' पद को विशेष्य माना गया है एवं बाकी सभी को विशेषण ; परन्तु 'पद्मबन्धोः सुता' भी विशेषण ही है, विशेष्य नहीं। क्योंकि इस स्तोत्र में केवल सूर्यपुत्रीश्रीयमुनाजी (पद्मबन्धोः सुता) के रूप में ही श्रीयमुनाजी की स्तुति नहीं की जा रही है परन्तु नित्य आधिदैविकीस्वरूपा श्रीयमुनाजी की स्तुति की जा रही है; अतः जब हम श्रीयमुनाजी की आधिदैविकता का विचार करते हैं तो फिर 'पद्मबन्धोः सुता' पद भी श्रीयमुनाजी का विशेषण ही है देखें इसी श्लोक के आरंभ में श्रीयमुनाजी के आविर्भावप्रकार की व्याख्या। इसलिये श्रीयमुनाजी के लिये कहे गये 'कलिन्दगिरिमस्तके' से लेकर 'पद्मबन्धोः सुता' यहाँ तक के पाँचों विशेषण (यानि 'पतदमन्दपूरोज्ज्वला','विलासगमनोल्लसत्प्रकटगण्डशैलोन्नता', 'सघोषगतिदन्तुरा', 'समधिरूढदोलोत्तमा' , 'मुकुन्दरतिवर्धिनी') भगवान में रति बढ़ाने में ही उपयोगी सिद्ध होते हैं अतः इस श्लोक द्वारा श्रीयमुनाजी में द्वितीय ऐश्वर्य है, यह बात प्रभुचरणों ने कही। और इसी व्याख्यान से आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक इन दोनों स्वरूपों वाली श्रीयमुनाजी में भी उपरोक्त ऐश्वर्य विद्यमान हैं- यह बताया गया ॥2॥

अतः परं रतिवर्द्धकत्वस्य दृढीकरणाय रतिजनका धर्मा अग्रिमे उच्यन्त इत्याशयेन तमवतारयन्ति ततो भुवीत्यादि । भुवनपावनीति श्रीयमुनाविशेषणम् । "सप्तद्वीपान् सप्तराशींश्च वारामाराद्भित्वा प्राङ्मुखी पावयन्ती । यास्येऽस्ताद्रेरुद्गमाद्रिं विहर्त्तुं खेलन्तीव स्वाश्रिताघापनुत्त्यै' इति तत्रैव यमं प्रति श्रीयमुनावाक्यात् । अनेकस्वनैरित्यस्योपलक्षकत्ववारणायाऽऽहुः शुकादीति । प्रियापदं प्रियसखीबोधकमित्याशयेनाऽऽहुर्यत्रेत्यादि । चाकचक्यवत्सिकतेति चाकचक्यवत्यो याः सिकता इत्यर्थः ।

इसके पश्चात् श्रीयमुनाजी में भगवान के प्रति रति बढ़ाने वाले धर्म को दृढ़तया स्थापित करने के लिये श्रीयमुनाजी में विद्यमान भगवद्रति को उत्पन्न करने वाले धर्मों को अग्रिमश्लोक में कहा जा रहा है, जिसकी प्रभुचरण **ततो भुवि** (*भूतल पर पधारने के पश्चात् अब श्रीयमुनाजी के धर्मों को आचार्यचरण* ***भुवम्*** *इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं*)इत्यादि शब्दों से व्याख्या कर रहे हैं। 'भुवनपावनीम्' यह श्रीयमुनाजी का विशेषण है क्योंकि "सप्तद्वीपान्" इस वाक्य में श्रीयमुनाजी ने यम को यही कहा है। **अनेकस्वनैः** पद से जल की सामान्य ध्वनि या सामान्य शब्द नहीं कहे जा रहे हैं अपितु जब श्रीयमुनाजी पधार रही हैं तब शुक-मयूर-हंस इत्यादि पक्षी ही चहक रहे हैं- यह बात बताने के लिये आपश्री ने **शुक आदि** कह कर इस पद का मूलतात्पर्य बताया है। आगे आपश्री लिखते हैं- मूलश्लोक में कहा **प्रियाभिरिव** शब्द श्रीयमुनाजी की प्रिय सखियों का बोध कराने के लिये प्रयुक्त किया गया है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये आपश्री ने **यत्र यथोचितं** इत्यादि वाक्य लिखे हैं। तात्पर्य यह कि जब श्रीयमुनाजी भूमि पर पधारीं तब उनकी प्रिय सखियाँ भी उनके संग हैं। **चाकचक्यवत्सिकता** का अर्थ है- चमकीली बालू।

विशेषणेनेत्येकवचनेनेतरयोः स्नेहबोधकत्वं द्योतितम् । तथा चेतराभ्यां स्नेहो बोध्यतेऽनेन त्ववस्थाविशेषकृतोऽतिशय इत्यर्थः । तेन यदि भगवति स्नेहो न स्यान्मूलधाम विहाय भगवद्विचारितभुवनपावनात्मककार्यार्थं भुवं नेयात् । आगत्य च लीलार्थं ससामग्रीका न स्यात् । यदि तदतिशयो न स्यात्तादृक्तटवती न स्यादिति तर्का एतैर्बोधिताः । तावता रतिवर्द्धकत्वमनुमानेन दृढीकृतम् ।

आगे की पंक्तियों में श्रीपुरुषोत्तमचरण इस श्लोक में श्रीयमुनाजी को दिये गये तीन विशेषणों की चर्चा कर रहे हैं; यानि (1) भुवं भुवनपावनीम् (2) प्रियाभिरिव सेविताम् (3) तरंगभुजकंकणप्रकटमुक्तिकावालुकानितम्बतटसुन्दरीम् । आपश्री कहते हैं कि,. इनमें से प्रथम दो विशेषणों से श्रीयमुनाजी को भगवान में स्नेह है, यह द्योतित होता है परन्तु तीसरे विशेषण से श्रीयमुनाजी को भगवान के प्रति अतिशय स्नेह है, यह द्योतित होता है। आपश्री कहते हैं कि इसी कारण प्रभुचरणों ने तीसरे विशेषण के लिये 'भगवति स्नेहातिशयो विशेषणेनोक्तः' कहा जिसका अर्थ है- 'तरंगभुजकंकणप्रकटमुक्तिकावालुकानितम्बतटसुन्दरीम्' इस विशेषण द्वारा श्रीयमुनाजी को भगवान के प्रति अतिशय स्नेह है, यह बताया गया है। प्रभुचरणों ने **विशेषणेनोक्तः** इस वाक्य में एकवचन का प्रयोग किया है, जिसके द्वारा आपश्री यह बताना चाह रहे हैं कि, पूर्व के (1) भुवं भुवनपावनीम् (2) प्रियाभिरिव सेविताम् इन दो विशेषणों से तो श्रीयमुनाजी को भगवान के प्रति स्नेह है, यह द्योतित होता है परन्तु तीसरे यानि (3) तरंगभुजकंकणप्रकटमुक्तिकावालुकानितम्बतटसुन्दरीम् इस विशेषण द्वारा श्रीयमुनाजी की एक विशेष अवस्था बतायी गयी है, जिससे उनका भगवान में अतिशय स्नेह है- यह बात ज्ञात होती है । यदि श्रीयमुनाजी को भगवान से स्नेह न होता तो पहले विशेषणानुसार वे अपने मूलधाम को छोड़ कर भगवान द्वारा विचारा हुआ भुवन को पावन करने का कार्य करने भूतल पर क्यों पधारतीं ? और दूसरे विशेषणानुसार भूतल पर पधार कर भगवल्लीला के लिये उनकी प्रिय सखियों का जुगाड़ क्यों करतीं ? और तीसरे विशेषणानुसार यदि श्रीयमुनाजी को भगवान से अतिशयस्नेह न होता तो वे कंकण आदि आभूषणों में मोतीरूप बालू को धारण करके ऐसी तटवती न हुई होतीं !!! इत्यादि तर्कों का बोध श्रीप्रभुचरणों ने कराया है। उपर्युक्त सभी कारणों से प्रभुचरणों ने श्रीयमुनाजी में भगवान के प्रति रति बढ़ाने वाली सामर्थ्य अनुमानप्रमाण द्वारा दृढ़ की है।

किञ्चैतेनाऽऽधिदैविक्या भगवदवतारोत्तरमवतरणं तादृग्लीलादावेव च तदाविर्भाव इत्यपि ज्ञापितम् । तेन "मघोनि वर्षत्यसकृद्यमानुजे"त्यत्र व्याख्यातदोषगुणयोर्न विरोधः ।

और, इन्हीं सब व्याख्यानों से श्रीयमुनाजी की आधिदैविकता भी बता दी गयी है कि, भगवान के अवतार लेने के पश्चात् श्रीयमुनाजी भी भूतल पर अवतरित हुईं और भगवान की रसपूर्णलीला में ही उनका प्रादुर्भाव हुआ। चूँकि श्रीयमुनाजी का आधिभौतिकस्वरूप भी है अतः "जब वसुदेवजी भगवान को लेकर यमुनाजी के तट पर पहुँचे तो देखा कि श्रीयमुनाजी का प्रवाह गहरा और तेज हो गया था और सैंकड़ों भयानक भँवर हो गये थे(श्री0भा- 10/3/50)" इस वाक्य से श्रीयमुनाजी के गुणदोषों में परस्पर विरोध नहीं समझना चाहिए क्योंकि उक्त श्लोक के समय श्रीयमुनाजी का जलरूप आधिभौतिकस्वरूप प्रकट हुआ है।

नमत कृष्णतुर्यप्रियामिति न व्याख्यातम् । नमनतात्पर्यस्य पूर्वमुक्तत्वेनोपदेशमात्रस्य स्फुटत्वात् । "कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजल" इत्यत्र कालिन्दीयमुनयोर्भेदस्य श्रीभागवते मूल एव स्फुटत्वेन तयोराधिदैविकाधिभौतिकभावस्य तत्सुबोधिन्यां सोपपत्तिकं निरस्तत्वेन च श्रीरुक्मिण्यादित्रयसापेक्षस्य तुरीयत्वस्याऽशक्यवचनतया सात्त्विकादित्रयसापेक्षस्य गुणातीतात्मकस्य तस्य स्फुटत्वात् ।

प्रभुचरणों ने 'नमत कृष्णतुर्यप्रियाम्' पदों की व्याख्या नहीं की है क्योंकि श्रीयमुनाजी को नमन मात्र ही कर पाने का तात्पर्य तो आपश्री पूर्व में बता ही चुके हैं और यहाँ भी उसी बात को दोहराया गया है, जिसके कारण इस पद का अर्थ तो स्पष्ट ही है। और जहाँ तक 'तुर्यप्रियाम्' पद का अर्थ है, तो वह तो "भगवान कृष्ण और अर्जुन श्रीयमुनातट पर आये एवं उनका जल पिया। वहाँ उन्होंने देखा कि एक परमसुन्दरी तपस्या कर रही है। अर्जुन ने उसे उसका परिचय पूछा तो उसने कहा- मेरा नाम 'कालिन्दी' है और मेरे पिता सूंर्य ने मेरे लिये यमुनाजल में एक महल बनवा दिया है और मैं यमुनाजल में ही रहती हूँ(श्री0भा- 10/58/22)" इस वाक्यान्तर्गत कालिन्दी एवं श्रीयमुनाजी ये दोनों अलग-अलग हैं, यह बात मूल श्रीभागवत में ही स्पष्ट कर दी गयी है एवं इसी प्रकार इस श्लोक की सुबोधिनी में भी इन दोनों का क्रमशः आधिदैविक एवं आधिभौतिक भाव के द्वारा भी भेद बता कर दोनों को एक मानने की बात आचार्यचरणों ने युक्तिपूर्वक निरस्त कर दी है(देखें सुबो-10/58/22); साथ ही साथ यहाँ कही जाने वाली श्रीयमुनाजी द्वारकालीला सामयिक श्रीरुक्मिणि आदि तीन पटरानियों के पश्चात् प्रभु की चतुर्थप्रिया हैं- ऐसा कहना संभव नहीं है परन्तु वे प्रभु की सात्त्विक-राजस-तामस इन तीन प्रकार की प्रियाओं के पश्चात् चतुर्थ गुणातीत(निर्गुण) प्रिया हैं, यह स्पष्टतया ज्ञात होता है।

न च महिषीष्वनन्तर्भावे प्रियात्वस्यैवाऽसिद्ध्या तुर्यप्रियात्वस्य सुतरामसिद्धिरिति शङ्कयम्, यमुनामाहात्म्ये यमुनाभिषेकाध्याये पूर्वं भगवत्कृतमाश्लेषमुक्त्वा "यमुनाऽप्यच्युतेनैवं सुसंस्कृत्याऽथ शिक्षिता । शंखाम्बुनाऽभिषिच्यैनां त्वत्तो नाऽन्याऽस्ति पावनी"त्यादिकं चोक्त्वा "अपि ब्रह्महण: पापमपनेष्यसि सेविता, सप्तरात्रात्तु सान्निध्यं न ते त्यक्ष्यामि कर्हिचिदि"ति भगवता सर्वदा स्वसान्निध्यरूपवरदानान्तैरर्थैः प्रियात्वस्य सिद्धावुक्तरीत्या तुर्यप्रियात्वस्य सुखेनैव सिद्धिरिति । साम्प्रदायिकास्तु केचन मुख्यस्वामिन्यग्निकुमारश्रुतिरूपसापेऽक्षत्वेनाऽऽहुः । केचन मुख्यतत्तत्सङ्घमुख्यसापेक्षत्वेनाऽऽहुः । ताभ्यामपि मदुक्तिर्न विरुध्यते । अत्र भुवं समधिगतामिति विशेषणेन कर्मभूमिगतपापात्मकप्रतिबन्धनिवृत्तिसूचनाच्छेषाभ्यां विशेषणाभ्यां सखीभिराभरणैश्च भूषितत्वबोधनेन भगवत्सान्निध्यसूचनाद्विवक्षितशुद्धिसम्पादकत्वरूपं तृतीयमैश्वर्यं दृढीकतम् ।।३।।

कोई ऐसी शंका न करे कि, "द्वारकालीला वाली प्रभु की आठ महिषियों के ही अन्तर्गत चौथी श्रीयमुनाजी को नहीं मानेंगे तो श्रीयमुनाजी प्रभु की प्रिया नहीं मानीं जा सकेंगी, और जब वे प्रिया ही नहीं मानी जा सकेंगी तो उन्हें चर्तुर्थप्रिया मानना तो उल्टे दूर की बात है"। नहीं,...... ऐसी शंका मत करिये क्योंकि यमुनामाहात्म्य में यमुनाभिषेकाध्याय में पहले भगवान द्वारा श्रीयमुनाजी को आलिंगित किये जाने की बात कह कर "यमुनाऽप्यच्युतेनैवं" इत्यादि वाक्य कह कर "अपि ब्रह्मणः" इत्यादि वाक्यों के अनुसार भगवान ने श्रीयमुनाजी को सर्वदा अपनी सन्निधि में रहने का वर दिया है एवं उन्हें अपनी प्रिया सिद्ध किया है अतः इस प्रकार श्रीयमुनाजी चतुर्थप्रिया हैं- यह बात सुखपूर्वक सिद्ध हो जाती है। कुछ पुष्टिमार्गानुगामी ऐसा मानते हैं कि, प्रभु के चार यूथों में अर्थात् (1) मुख्यस्वामिनियों का यूथ (2) अग्निकुमारिकाओं का यूथ (3) श्रुतिरूपागोपिकाओं का यूथ एवं (4) श्रीयमुनाजी वाला यूथ; यों इनमें से श्रीयमुनाजी को वे प्रभु की चौथे यूथ वाली चतुर्थप्रिया मानते हैं। कुछ ऐसा मानते हैं कि ऊपर कहे चारों प्रकारों के संघ हैं और

उनके संघों में से चौथे संघ की श्रीयमुनाजी यूथेश्वरी हैं। इन दोनों दृष्टिकोण से भी यदि देखें, तो भी मैंने जो कहा, उसमें विरोध नहीं आता। चूँकि 'भुवं समधिगताम्' इस विशेषण द्वारा यह बताया गया है कि श्रीयमुनाजी कर्मभूमि (भूतल) में होने वाले पापरूपी प्रतिबन्धकों का निवारण करती हैं एवं शेष बचे (1) प्रियाभिरिव सेविताम् (2) तरंगभुजकंकणप्रकटमुक्तिकावालुकानितम्बतटसुन्दरीम् इन दो विशेषणों से यह बताया गया है कि, श्रीयमुनाजी अपनी सखियों के संग आभरणों से भूषित हैं अतः भगवान की सन्निधि/निकटता में हैं (चूँकि इस दूसरे विशेषण में श्रीयमुनाजी को श्रृंगार किये हुए वर्णित किया गया है और नायिका ऐसे श्रृंगार से अपने आप को तभी सजाती है जब वह अपने प्रियतम के पास होती है इसलिये इससे ज्ञात होता है कि वे भगवान के निकट हैं), इसलिये भगवत्सन्निधि प्राप्त करने में जिस प्रकार की शुद्धि चाहिए, वैसी शुद्धि का संपादन करने वाला उनका तीसरा ऐश्वर्य प्रभुचरणों ने इस श्लोक में दृढ किया है ॥3॥

अत:परं तुर्यत्वबोधितगुणातीतत्वसमर्थनाय भुवनपावनीत्वनिष्कषार्य च तुरीय: श्लोक इति ज्ञापयन्तस्तमवतारयन्ति **भगवदित्यादि** । साम्प्रदायिकोक्ततुर्यत्वपक्षस्त्वष्टमे स्फुटीभविष्यति । तथा **विशेषणैरिति** । विशेष्यसहितै: षड्भि स्तैरित्यर्थ: । समानधर्मवत्त्वमत्र न समानसंख्यामात्रबोधितमपि तु पदार्थसाम्येनाऽपीत्याशयेनाऽऽहु: **प्रभावित्यादि** । तथा च विभक्तिरेव विपरिणीयते न त्वर्थो भेद्यत इत्यर्थ: । **निपातरूप** इति, अव्युत्पन्न इत्यर्थ: । यद्यपि कृदन्ते "हन्तेर्घत्वश्चे"त्यनेन हन्ते: कर्तरि घनाघनशब्दो व्युत्पादितस्तथापि मेघे वाच्ये यौगिकोऽर्थो न विवक्षित इति तथोक्तम् ।

इसके पश्चात् चतुर्थप्रिया से बोधित होने वाले श्रीयमुनाजी के गुणातीत/निर्गुण स्वरूप को बताने के लिये एवं श्रीयमुनाजी भुवन को पावन करने वाली हैं, इसका भी निष्कर्ष निकालने के लिये यह चौथा श्लोक है- यह बताते हुए चौथे श्लोक की विवृति श्रीप्रभुचरण **भगवत्** (*अब इस श्लोक में आचार्यचरण श्रीयमुनाजी में भी भगवान के समान ही षड्गुणधर्म बताने के लिये उन सभी विशेषणों को* ***अनन्त*** *इत्यादि छह विशेषणों से कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं। अन्य पुष्टिमार्गीय जिस प्रकार से श्रीयमुनाजी को चतुर्थप्रिया कहते/मानते हैं, वो बात तो आगे के आठवें श्लोक में स्पष्ट हो जायेगी। प्रभुचरणों के **तथा विशेषणैः** (*अनन्त इत्यादि छह विशेषणों*) इत्यादि शब्दों का अर्थ है- 'अनन्तगुणभूषितैः' से लेकर 'कृपाजलधिसंश्रिते' तक के छह विशेषणों द्वारा आपश्री श्रीयमुनाजी में भी भगवान के समान ही षड्गुणधर्म होने बता रहे हैं। श्रीयमुनाजी एवं भगवान में समानधर्म हैं, यह बात केवल विशेषणों की संख्या समान होने के आधार पर ही नहीं जा रही है अपितु दोनों में पदार्थ की भी समानता है- यह कहने के आशय से आपश्री ने **प्रभौ** (*यदि ये सभी विशेषण सप्तम्यंत मान लिये जाएँ तो प्रभु के लिये भी माने जा सकते हैं और भगवान की प्रिया श्रीयमुनाजी के लिये मानें तो श्रीयमुनाजी के लिये संबोधन भी माने जा सकते हैं*) इत्यादि वाक्य कहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि, दोनों प्रकार से अर्थ करने में केवल विभक्ति का ही अर्थ बदल रहा है, उनका वास्तविक अर्थ नहीं, वास्तविक पदार्थ तो दोनों में समान ही है- यह अर्थ है। प्रभुचरणों ने 'घनाघन' शब्द को निपातरूप कहा है क्योंकि यह अव्युत्पन्न शब्द है अर्थात् इसकी व्युत्पत्ति नहीं होगी। यद्यपि कृदन्त प्रकरण में "सि0कौ0-वार्तिक 3/1/134)" इस वार्तिक द्वारा 'घनाघन' शब्द का अर्थ मारने के अर्थ में किया गया है परन्तु यहाँ यह मेघ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतः उक्त शब्द का यौगिक-अर्थ यहाँ बताये मेघ के संदर्भ में उचित नहीं बैठ पायेगा, इसलिये प्रभुचरणों ने इसे निपात कहा है।

तादृशी इति वेति । भगवति श्यामवर्णस्य "श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्य". इति श्रुतिसिद्धत्वात्तदर्थनिश्चायके 'अथवा शून्यवद्गाढमि'ति तत्त्वदीपश्लोके स्वरूपाभिन्नत्वेनोपपादनाद्भगवत्पक्षे घनाघननिभपदस्य विशेष्यत्वे स्फुटेऽपि तत्प्रियापक्षे तन्न स्फुटमिति तत्रापि 'ततश्च कृष्णोपवने', 'कृष्णाया हस्ततरले'त्यादिश्रीभागवतवाक्ये कृष्णापदस्य नामत्वेन बोधनादस्य तत्स्मारकत्वेन तथात्वं बोध्यमित्याशयेनोक्तं **विशुद्धेत्यादि** । अत्र पद्मनाभादिपद इव गड्वादित्वात्समास: । प्रभुपक्षे तटपदं लाक्षणिकमित्याशयेनाऽऽहु**र्निकटे वा यस्येति** । नैकट्यं च 'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिरि'तिवाल्योक्तान्नित्यसन्निधानात् ।

आपश्री ने 'घनाघन' को मेघश्याम(काला बादल) कहा है, जिसके लिये आपश्री दूसरा अर्थ करके आगे **तादृशी वा** कह रहे हैं, जिसका तात्पर्य है- जहाँ तक भगवान के श्यामवर्ण होने की बात है, तो वह तो "श्यामाच्छबलं

प्रपद्ये(छान्दो0-8/13/1)" इस श्रुति द्वारा निश्चित ही है एवं आचार्यचरणों ने भी ब्रह्म के लिये तत्त्वदीपनिबन्ध में "अथवा शून्यवद्गाढं(शा0प्र0-75)" ये कह कर श्यामवर्ण और भगवत्स्वरूप को अभिन्न बता दिया है अतः भगवान के अर्थ में तो 'घनाघन' शब्द उचित बैठ भी जायेगा परन्तु भगवान की प्रिया श्रीयमुनाजी का वर्ण श्याम होने की बात तो कहीं कही नहीं गयी है अतः श्रीयमुनाजी के अर्थ में उचित नहीं बैठ पायेगा, तथापि श्रीभागवत के "गोपियों के संग जलविहार करने के पश्चात् भगवान कृष्णा/यमुना तट के उपवन में पधारे(श्री0भा- 10/33/25)" , "कृष्णा/यमुनाजी ने स्वयं अपनी लहरों के हाथों भगवान की लीला के लिये सुकोमल वालुका का रंगमंच बना रखा था(श्री0भा-10/32/12)" इत्यादि वाक्यों में श्रीयमुनाजी को 'कृष्णा' नाम से कहा गया है अतः कृष्ण में विद्यमान श्यांमवर्णसहित सभी धर्मों का स्मरण श्रीयमुनाजी द्वारा हो जाता है और इस प्रकार श्रीयमुनाजी के श्यामवर्ण होने की बात सिद्ध हो जाती है। दोनों की आपस में समानता है, इसी आशय से प्रभुचरणों ने आगे **विशुद्धा** (*श्रीयमुनाजी को 'विशुद्धमथुरातटे' कहने का अर्थ है- विशुद्धमथुरा नगरी जिसके तट पर बसी हुई है, ऐसी श्रीयमुनाजी*) इत्यादि वाक्य भी कहे हैं। 'विशुद्धमथुरातटे' शब्द में 'पद्मनाभ' आदि पदों की भाँति गड्वादिसमास है, इसलिये इसे श्रीयमुनाजी के अर्थ में प्रयुक्त किया जा सकेगा। परन्तु यदि इसे प्रभु के अर्थ में प्रयुक्त करना हो तो 'तट' वाला अर्थ प्रभु के संदर्भ में उचित नहीं बैठ पायेगा अतः 'तट' शब्द का लाक्षणिक अर्थ करना पड़ेगा और तब ही वह प्रभु के अर्थ में उचित बैठ पायेगा ; इसलिये प्रभुचरणों ने इसका दूसरा अर्थ किया= "निकटे वा यस्य"। यहाँ **तट** शब्द का अर्थ होगा 'निकट'। अतः 'विशुद्धमथुरातटे' का अर्थ होगा- विशुद्धमथुरा **निकट** है जिसके, अर्थात् 'प्रभुश्रीकृष्ण'। 'विशुद्धमथुरातटे' यानि श्रीकृष्ण। ऐसा अर्थ इसलिये क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण सदा मथुरा के निकट रहते हैं, यह बात तो "मथुरानगरी में भगवान श्रीहरि सर्वदा विराजमान रहते हैं(श्री0भा- 10/1/28)" इस वाक्य द्वारा भी सिद्ध है।

निरवधीति, जलधिपदविवरणम् । 'न वै कामस्याऽन्तोऽस्ति न समुद्रस्ये'ति श्रुतेः । अनया फक्किकया प्रभुपक्षे कृपाजलधिरिव कृपाजलधि तेन संश्रितस्तस्मिन्नित्युपमितसमासोत्तरं 'कर्त्तृकरणे कृता बहुलमि'ति गतिपूर्वकसमासो बोधितः । तत्प्रियापक्षे समासबोधनपूर्वकमस्य तात्पर्य्यमाहुरन्येत्यादि । इदमपि 'विशत्योघेन साऽऽदित्यमि'त्ति पूर्ववाक्य एव सिद्धम् । इति भावः सूचित इति । एतेन पूर्वश्लोकोक्तं भुवनपावनीत्वमेतावत्पर्यन्तं न तु पापनिवृत्तिमात्रेण चरितार्थमिति बोधितम् ।

इसके आगे श्रीपुरुषोत्तमचरण 'कृपाजलधिसंश्रित' शब्द भगवान का वाचक है और किस प्रकार से है- यह बता रहे हैं। **निरवधि** का अर्थ है- जिसकी कोई अवधि न हो अर्थात् जलधि/समुद्र। जैसा कि "काम समुद्र के जैसा ही है। न काम का कोई अन्त है और न ही समुद्र का(तैत्ति0 आ- 2/2/5/6)" इस श्रुति में भी कहा गया है। यदि इस फक्किका को प्रभु के अर्थ में लें, तो इसका अर्थ होगा- मानों यदि कृपा का कोई सागर हो, तो प्रभु उस कृपासागर समान हैं; उस कृपासागर से जो संश्रित/युक्त हैं, ऐसे भगवान को कहेंगे- 'कृपाजलधिसंश्रित'। इस प्रकार उपमितसमास करने के पश्चात् "कर्त्तृकरणे कृता बहुलं(पा0अष्टा-2/1/32;ल0सि0कौ0-तत्पुरुषसमास-5)" इस सूत्रानुसार 'विशुद्धमथुरातटे' में गतिपूर्वकसमास समझनी चाहिए। और 'कृपाजलधिसंश्रिते' को श्रीयमुनाजी के संदर्भ में लेकर समास करने का क्या तात्पर्य निकलेगा, यह आपश्री **अन्य** (*अन्य नदियाँ तो लौकिक सागर से मिलती हैं परन्तु श्रीयमुनाजी तो कृपासागर श्रीव्रजेश से जा मिली हैं*) इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। श्रीयमुनाजी का भगवान में मिल जाना तो "सूर्यमण्डल से निकल कर पूरा चक्कर लगा कर श्रीयमुनाजी प्रवाहपूर्वक पुनः आदित्य/सूर्य के अन्तर्वर्ति नारायण में समा जाती हैं" इस पूर्व में आये वाक्य द्वारा ही सिद्ध है। **इति भावः सूचितः** (*परन्तु श्रीयमुनाजी तो कृपासागर श्रीव्रजेश से जा मिली हैं। इससे यह भाव सूचित होता है कि श्रीयमुनाजी के संग से भगवान का संग प्राप्त हो जाता है।*) इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि, पूर्वश्लोक में जो श्रीयमुनाजी को भुवन को पावन करने वाली बताया गया था, उसका अर्थ जीव को भगवान का संग प्राप्त करा देने तक है, न कि केवल जीव के पापों की निवृत्ति मात्र ही कराने तक सीमित है- यह बोध कराया है।

एवं च हे षड्विशेषणविशिष्टे घनाघननिभे तादृशे सदा घनाघननिभे मम मनस्सुखं भावय उत्पादयेति मूलान्वयः । मधुन्धुस्तस्याऽभवत्सुतफ इत्यादौ भुव उत्पत्त्यर्थस्य प्रसिद्धत्वात् । यद्वा । सुखं यथा स्यात्तथा मम मनो भावय प्रापयेत्यर्थः । 'भू

प्राप्तौ' । क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वाभावान्नाऽऽत्मनेपदम् । मनसः सुखं स्वाभीष्टरीतिकं भगवत्प्राप्त्येति तथा तां संपाद्य तदुत्पादयेति । आदित आप्राप्ति यथा सुखं भवति तथा अनायासेन मनः प्रापयेति वा प्रार्थना ।

इस प्रकार मूलश्लोक का अन्वय यों होगा- हे षड्गुणों से विशिष्ट घनाघननिभे श्रीयमुने ! घनाघनसमान श्रीकृष्ण, में **मम मनस्सुखं भावय** यानि मेरे मन के सुख को उत्पन्न कराइये। पूर्व की रेखांकित पंक्ति में श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने 'भावय' शब्द का अर्थ 'उत्पन्न कराइये' यों उत्पन्न कराने के अर्थ में लिया है, ऐसा अर्थ क्यों किया गया इसके विषय में श्रीपुरुषोत्तमचरण आगे के वाक्य में स्पष्टता कर रहे हैं। 'भावय' शब्द में 'भू' धातु है और इसका अर्थ हमने उत्पत्ति/उत्पन्न के अर्थ में इसलिये किया है क्योंकि ऐसा प्रयोग "धुन्धुस्तस्याऽभवत्सुत" इत्यादि श्लोकों में भी प्रसिद्ध है। अथवा तो, 'मन मनस्सुखं भावय' का दूसरा अर्थ यों भी कर लें- मुझे जिस प्रकार से सुख हो पाये, वैसे ढंग से मेरे मन को प्राप्त करायें। यह अर्थ "भू व्याप्तौ [वैसे धातुपाठावली के अनुसार "भू प्राप्तौ(1844)' यों पाठ मिलता है। देखा जाय तो यही पाठ उचित भी लगता है क्योंकि "भू व्याप्तौ" पाठानुसार तर्कसंगत अर्थ नहीं बैठता- अनुवादक] इस धातु-अर्थ के अनुसार किया जा सकेगा। इस श्लोक में क्रिया का फल कर्ता(यानि श्रीयमुनाजी)को न मिलकर अन्य(आचार्यचरण)को प्राप्त हो रहा है; अर्थात् श्रीयमुनाजी आचार्यचरणों को सुख प्राप्त करायेंगी ; इसलिये यहाँ आत्मनेपद की क्रिया न देकर 'भावय' यों परस्मैपद की क्रिया का प्रयोग है । आचार्यचरणों का इससे तात्पर्य यह है कि, मन को सुख तो तभी प्राप्त होगा, जब मन की इच्छानुसार भगवत्प्राप्ति होगी अतः श्रीयमुनाजी से प्रार्थना है कि, मनोवांछित रीति का संपादन करके सुख उत्पन्न कराएँ । अथवा तो आचार्यचरण यों प्रार्थना कर रहे हैं कि, आरंभ से लेकर जब तक भगवत्प्राप्ति न हो जाय, तब तक जिस प्रकार से मेरे मन को सरलता से सुख हो पाये, वैसे सुख प्राप्त कराएँ।

अत्राऽऽद्येन विशेषणेन गुणेषु संख्याकालापरिच्छेदबोधनादतिसामर्थ्यरूपमैश्वर्यं बोधितम् । द्वितीयेन "सवनशस्तदुपधार्यसुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगा" इत्याद्युक्तदेवजेतृत्वरूपं वीर्यम् । तृतीयं तु विशेष्यमेव । तुरीयेण दातृत्वाद्यशः । पञ्चमेन ज्ञानम् । स्वसन्निधानादेव ज्ञानकार्यस्य विशुद्धत्वस्य मथुरायामाविर्भावात् । षष्ठेन श्रीः । 'चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्यैकपदं वपुर्दधदि'ति तदावरणेनैव तत्प्रकाशात् ।

इस श्लोक में 'अनन्तगुणभूषिते' इस प्रथमविशेषण द्वारा श्रीयमुनाजी में असंख्य और असीमित गुण कहे गये हैं अतः इस विशेषण द्वारा श्रीयमुनाजी का अतिसामर्थ्य वाला 'ऐश्वर्य' गुण बोध कराया गया है। दूसरे विशेषण यानि 'शिवविरञ्चिदेवस्तुते' द्वारा श्रीयमुनाजी में "हे यशोदाजी तुम्हारे कुँवर जब अधरों पर धर कर वेणु बजाते हैं, तब ब्रह्मा, शंकर और इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता भी उसके सुरों एवं राग को पहचान नहीं पाते और मोहित होकर उसमें तन्मय हो जाते हैं(श्री0भा- 10/35/15)" इस श्लोकानुसार देवताओं को भी जीतने वाला 'वीर्य' गुण बताया गया है। तीसरा 'घनाघननिभे' तो विशेषण नहीं है अपितु विशेष्य ही है(यानि श्रीपुरुषोत्तमचरणों का मानना यह है कि इस श्लोक में कहे जाने वाले सभी विशेषण 'घनाघननिभे' के ही विशेषण हैं। ध्यातव्य है कि अन्य टीकाकारों ने इस श्लोक में 'कृपाजलधिसंश्रिते को विशेष्य माना है एवं अन्य सभी को इसका विशेषण। किन्तु श्रीपुरुषोत्तमचरण 'घनाघननिभे' को विशेष्य मानते हैं और अन्य सभी पदों को उसका विशेषण।) चौथे यानि 'ध्रुवपराशराभीष्टदे' इस विशेषण द्वारा श्रीयमुनाजी मनोवांछित वस्तु देती होने के कारण उनमें 'यश' गुण होना बताया गया है। पांचवें यानि 'विशुद्धमथुरातटे' विशेषण द्वारा 'ज्ञान' गुण बताया गया है ; क्योंकि 'ज्ञान' का काम है विशुद्ध बनाना और श्रीयमुनाजी की सन्निधि के कारण मथुरानगरी विशुद्ध बनी अतः श्रीयमुनाजी में 'ज्ञान' गुण होना सिद्ध होता है। छठे यानि 'सकलगोपगोपीवृते' विशेषण द्वारा श्रीयमुनाजी में 'श्री' गुण बताया गया है ; क्योंकि "सर्वशक्तिमान भगवान यमुनाजी की रेती पर गोपियों की ओढ़नी पर बैठ गये। सहस्र-सहस्र गोपिकाओं के बीच में पूजित होकर भगवान बड़े ही शोभायमान हो रहे थे(श्री0भा- 10/32/14)" इस श्लोकानुसार जब भगवान गोपिकाओं सहित श्रीयमुनाजी की रेती विराजे, तब प्रकाशित हुए यानि उनकी श्री/शोभा हुई। यद्यपि ये सारे के सारे विशेषण भगवान एवं श्रीयमुनाजी दोनों में प्रयुक्त होते हैं तथापि श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने यह विशेषण भगवान में कैसे प्रयुक्त होगा उसका एक उदाहरण उक्त भागवतश्लोक द्वारा दे दिया है।

सकलपदेनाऽनीर्ष्याद्योतनाद्विवक्षितमपि गुणातीतत्वं स्फोरितम् । सप्तमेन वैराग्यम् । विरक्त एव हि कृपालुर्भवति, न तु रक्तः, रागस्य गर्द्धात्मकत्वात् । 'नाऽहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विने'ति भक्तान् विना स्वस्मिन्नपि वैराग्यबोधनाच्च । तत्संश्रितत्वेन श्रीयमुनाया अपि तथात्वाच्च । अत्र भगवत्समानधर्मवत्त्वाज्जीवस्याऽनायासेन भगवत्सम्बन्धसम्पादकत्वं तुरीयमैश्वर्यं स्फुटमेव । एवं चतुर्भिः श्लोकैः स्वरूपं गुणाश्चोक्ताः ।।४।।

और 'सकल' (समस्त गोपिकाओं के संग में) पद के द्वारा यह ज्ञात होता है कि, श्रीयमुनाजी में अन्य गोपियों के प्रति ईर्ष्या का भाव नहीं है, अतः जो गुणातीतता श्रीयमुनाजी में बतानी है, वह भी इस पद के द्वारा आपश्री ने यहाँ स्पष्ट कर दी है। सातवें यानि 'कृपाजलधिसंश्रिते' विशेषण द्वारा श्रीयमुनाजी में 'वैराग्य' गुण होना बताया गया है; क्योंकि जो विरक्त होता है, वही कृपालु होता है, रक्त/आसक्त नहीं; क्योंकि राग हमेशा सामने वाले से कुछ न कुछ अभिलाषा/अपेक्षा अवश्य रखता है परन्तु श्रीयमुनाजी को तो कुछ अपेक्षा ही नहीं है और वे कृपाजलधि हैं अतः उनमें 'वैराग्य' गुण होना बताया गया। उदाहरण के रूप में जैसे भगवान ने अपनी विरक्तता "हे दुर्वासाजी ! अपने भक्तों का एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। उन्हें छोड़कर न मैं अपने आपको चाहता हूँ और न ही लक्ष्मीजी को(श्री0भा0 9/4/64)" इस वाक्य में कही है। चूँकि श्रीयमुनाजी ऐसे भगवान के संश्रित/आश्रित हैं अतः वे भी भगवान की ही भाँति विरक्त हैं। कारण कि श्रीयमुनाजी भगवान के समान धर्म वाली हैं अतः जीव को बिना प्रयास के भगवत्सम्बन्ध कराने वाला उनका चतुर्थ ऐश्वर्य तो यहाँ स्पष्टतया ज्ञात होता है। इस प्रकार यहाँ तक के चार श्लोकों द्वारा श्रीयमुनाजी का स्वरूप एवं गुण कह दिये गये ॥4॥

अतः परं पूर्वोक्तस्य सर्वस्याऽसत्समारोपणत्ववारणाय गुणानामानन्त्याद्विशेषो वागविषय इति तत्सत्ता दिङ्मात्रेणोच्यत इति बोधयितुमग्रिमः श्लोक इत्याशयेन तमवतारयन्त्यथेत्यादि । अत एव प्रक्रमान्तरबोधकपदोक्तिः । मिलनत इति । सञ्ज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाद्गुणाभावः । तथाऽभवदिति । प्रियम्भावुका अभवत् । 'भुवः खिष्णुच् खुकञावि'त्यनेनाऽऽढ्यादिभ्यः परस्य भूधातोश्च्व्यर्थे खुकञि प्रियम्भावुकशब्दसिद्धिः । तथाचाऽप्रिया प्रिया सम्पन्नेत्यर्थः । अप्रियत्वं चरणक्षालनजलत्वाद्भूतभौतिकत्वाभ्यां च । तेनेत्याद्युक्तगुणवत्त्वं तु चरणस्यैव माहात्म्यमतो न चोद्यावसरः ।

अब इसके पश्चात् पूर्व में कही सभी बातों को को कोई असत् समझता हो तो उसका निवारण करने के लिये प्रभुचरण यह कह रहे हैं कि, चूँकि श्रीयमुनाजी के गुण तो अनन्त हैं अतः वे वाणी से कहने संभव भी नहीं हैं, इसलिये उन्हें केवल संकेत द्वारा कह दिया गया- इस बात को बताने के लिये आपश्री अग्रिमश्लोक का आरंभ **अथ** (*अब, भगवदीयों के भी उत्कर्ष को बढ़ाने वाली जो श्रीयमुनाजी हैं, स्वयं उनके उत्कर्ष को कहने कौन समर्थ है ?-यह बात आचार्यचरणों ने* ***यथा*** *इत्यादि पद्यों से कही है।*) इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। अतएव यहाँ से प्रकरण बदल रहा है, यह आपश्री के **अथ** शब्द से सूचित होता है। अब हम **मिलनतः** शब्द के बारे में कह रहे हैं। वैसे देखा जाय तो साधु शब्द 'मेलनतः' है परन्तु यदि श्रीप्रभुचरणों ने 'मिलनतः' शब्द लिखा है, तो वह "सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः(सि0कौ0/परिभाषा-94)' इस नियमानुसार असाधुप्रयोग नहीं है। **तथाऽभवत्** (*गंगा ने भी जब हे श्रीयमुनाजी! आपसे समागम किया, आपसे मिलीं, तब हरि की प्यारी बनीं*) शब्द का अर्थ है- श्रीगंगाजी हरि की प्रियम्भावुका हुईं। 'प्रियम्भावुका' शब्द में "कर्तरि भुवः खिष्णुच् खुकञौ(पा0अष्टा0-3/2/57) सूत्रानुसार 'भू' धातु में 'खिष्णुच्' एवं 'खुकञ्' ये दो प्रत्यय होते हैं; यहाँ 'भू' धातु में 'च्वई' प्रत्यय के अर्थ में "खुकञ्' प्रत्यय हुआ है, जिससे "प्रियम्भावुका" शब्द बना है। 'च्वई' प्रत्यय वहाँ प्रयुक्त होता है, जहाँ यह बताना हो कि, जो वस्तु पहले जैसी नहीं थी परन्तु अब वैसी हो गयी। तात्पर्य यह कि आचार्यचरणों ने श्रीगंगाजी के लिये जो 'प्रियम्भावुका' शब्द का प्रयोग किया है, उसके द्वारा आपश्री यह बताना चाह रहे हैं कि, यद्यपि पहले श्रीगंगाजी हरि की प्रिया नहीं थीं, परन्तु जब उनका समागम श्रीयमुनाजी से हुआ, **तब ही** वे हरि की प्रियम्भावुका बनीं- यह 'खुकञ्' प्रत्यय प्रयुक्त करने का अर्थ है। श्रीगंगाजी पहले अप्रिया इसलिये थीं क्योंकि वे भगवान के चरणप्रक्षालन जल से निकली हैं, जलरूप होने के कारण पंचमहाभूतसम्बन्धी हैं और भौतिक हैं इसलिये भगवान को श्रीगंगाजी से प्रीति नहीं हो सकती थी (इस पंक्ति के अनुवाद से पूर्णसन्तुष्टि नहीं हुई है। इसका कुछ अन्य अर्थ होना चाहिए- अनुवादक)। फिर प्रश्न यह उठता है कि यदि हरि को श्रीगंगाजी से प्रीति नहीं हो सकती थी, तो प्रभुचरणों ने **तेन** इत्यादि शब्दों द्वारा श्रीगंगाजी की भक्तिमार्गीय गुणवत्ता क्यों कही ? तो समझिए कि श्रीगंगाजी की जो कुछ भी गुणवत्ता है, वह भगवान के चरणारविन्द से

निकली होने के कारण है, स्वयं उनके अपने माहात्म्य के कारण नहीं, अतः चरणारविन्द से निकली होने के कारण गंगाजी को भक्तिमार्गीय तो बनना ही था, इसलिये उक्त शंका के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है।

सेवतामित्यनुदात्तेत्वलक्षणस्याऽऽत्मनेपदस्याऽनित्यत्वेन शतृप्रत्ययः । अत एव 'त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तराया' इत्याद्यार्षप्रयोगः । यद्वा । क्विबन्तो नामधातुप्रयोगः । सेवेवाऽऽचरताम् । सेवा यथा प्रसादिका तथा स्तोत्रपाठादिना प्रसादयतामित्यर्थः ।

यों तो **सेवताम्** पद के स्थान पर शानच् प्रत्यययुक्त 'सेवमानानाम्' शब्द होना चाहिए था, परन्तु, चूँकि अनुदात्तेत्वलक्षण आत्मनेपद अनित्य होता है, अर्थात् सर्वत्र लागू होना अनिवार्य नहीं होता, अतः शानच् प्रत्यय न करके शतृ-प्रत्यय करके 'सेवताम्' शब्द बना लिया गया है। अतएव "त्वां सेवतां सुरकृता(श्री0भा-11/10/10)" इस वाक्यानुसार ठीक इसी प्रकार के प्रयोग प्राचीन शास्त्रों में भी होते देखे गये हैं। अथवा, फिर भी यदि कोई शतृ-प्रत्यय करने को ही उचित मानता हो एवं शानच्-प्रत्यय को नहीं, तो इन प्रत्ययों का अर्थ न लेकर 'सेवताम्' पद को क्विबन्त मानकर नामधातुप्रयोग मान लें। अर्थात् तब 'सेवताम्' पद का अर्थ हुआ- सेवा की तरह आचरण करने वाले। यों अर्थ करने से तात्पर्य यह हुआ कि- जिस प्रकार सेवा से सेव्य प्रसन्न होता है, उसी प्रकार श्रीगंगाजी की स्तुतिपाठ करने वालों पर भी श्रीगंगाजी प्रसन्न होती हैं।

ननु पूर्वार्द्धोक्तेऽर्थे किं मानमित्याकाङ्क्षायां तद्वदन्त एवोत्तरार्द्धं विवृण्वन्ति पूर्वमित्यादि । अन्यसङ्गतिजनितमिति । कुटिलाजलावरणजलशिवजटादिसङ्गतिजनितम् । वामनपुराणे उमातो ज्येष्ठा हिमवत्सुता ब्रह्मशापेन नदी भूत्वा सत्यलोके प्रवहन्ती आर्षे रामायणे गङ्गापदेन निर्दिष्टा । पञ्चमस्कन्धे "साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपदाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाहविवरेणाऽन्तः प्रविष्टाया बाह्यजलधारे"त्यादिनैका गङ्गोक्ता । पुराणान्तरे गोदामाहात्म्ये विवाहसप्तपदीसामयिकपार्वतीदर्शनजातरेतःपातलज्जया बहिर्निर्गतस्य ब्रह्मणः पापापनुत्तये शिवेन पृथिवीसारतः कमण्डलुं निर्माय तत्र सकलजलसारमादाय तस्मै दत्तं तत्त्रिविक्रमचरणक्षालनेन गङ्गात्वमापन्नं भगीरथगौतमाभ्यां शिवजटाजूटाद्धाराभेदेनाऽऽनीतम् । एतदेव "या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रपादाब्जरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री"ति प्रथमस्कन्ध उक्तम् ।

किन्तु किसी पूर्वपक्षी को शंका यह होती है कि, ऊपर जो ये अर्थ किया गया कि, श्रीयमुनाजी से समागम होने के पश्चात् ही गंगाजी हरि की प्रिय बनीं हैं एवं सकलसिद्धियों को देने वाली बनी हैं- इस बात में क्या प्रमाण है ? यह आकांक्षा होने पर इसका समाधान कहते हुए प्रभुचरण इस श्लोक के उत्तरार्ध का विवेचन **पूर्वम्**(*इस अष्टक के पूर्व भी गंगा नदी का अन्य नदी के संग मिलकर उसका उत्कर्ष कह कर तत्पश्चात् भगवान के संग मिल कर उसका उत्कर्ष होना पढ़ा गया है, जैसा कि 'सा राजन् दर्शनात्' इत्यादि श्लोकों में बताया गया है*) इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इस वाक्य में **अन्यसंगतिजनितमुत्कर्षमुक्त्वा भगवत्संगतिजनित उत्कर्षः** इत्यादि शब्दों का अर्थ है- गंगाजी का संगम कुटिलाजलावरणजलशिवजटाजूट आदि से हुआ है(इस पंक्ति का अर्थ ज्ञात नहीं हुआ, सो यथावत् लिखकर छोड़ दिया गया है। यदि कोई महानुभाव उचित अर्थ कर सकतें हों तो कृपया सूचित करें-अनुवादक)। तात्पर्य यह कि वामनपुराण में वर्णित है कि उमा(पार्वतीजी) से बड़ी जो हिमालय की पुत्री थीं, वह ब्रह्माजी के शाप के कारण नदी हो गयीं और सत्यलोक में बहती थीं, जिसका वर्णन वाल्मीकि रामायण में 'गंगाजी' के नाम से आता है। पंचमस्कन्ध में "हे राजन्! जब राजा बलि की यज्ञशाला में साक्षात् यज्ञमूर्ति भगवानविष्णु ने त्रिलोकी को नापने के लिये अपना चरण फैलाया था, तब उनके अँगूठे के नख से ब्रह्माण्डकटाह के ऊपर का भाग फट गया और उस छिद्र में होकर ब्रह्माण्ड के बाहर जो जलधारा आयी, वह भगवान के चरणकमल को धोने से उसमें लगी हुई केसर मिलने के कारण लाल हो गयी। उस निर्मल धारा का स्पर्श होते ही संसार के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं परन्तु वह स्वयं तो निर्मल ही बनी रहती है(श्री0भा- 5/17/1)" इस श्लोक द्वारा जिस जलधारा का वर्णन आता है, वह भी गंगा के नाम से कही गयी है। अन्य दूसरे पुराण के गोदामाहात्म्य में वर्णन आता है कि, जब ब्रह्माजी शिव-पार्वती के विवाह में सप्तपदी कराने आये थे, तब पार्वतीजी के सौन्दर्य को देखकर वे इतने आकर्षित हुए कि उनका वीर्यस्खलन हो गया। तब ब्रह्माजी लज्जित होकर वहाँ से बाहर चले गये। भगवान शिव ने उन्हें सान्त्वना देते हुए उनके पाप को धोने के लिये पृथ्वी के सार से एक कमंडलु का निर्माण किया और उसमें समस्त नदियों का जल

भरकर उनको दिया। ब्रह्माजी ने अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये उस कमंडलु के जल से वामनजी के चरण धोये। उस चरणप्रक्षालन से जो जलधारा निकली, वही गंगा नदी बनी एवं कालांतर में भगवान शिव के जटाजूट से एक धारा भगीरथ के लिए और एक धारा गौतमऋषि के लिये निकली, और इन दोनों के द्वारा गंगा पृथ्वी पर लायी गई। गंगा का भगवान के संग मिलकर उनका उत्कर्ष/माहात्म्य "गंगाजी का जल भगवान के श्रीकृष्ण के चरणकमल का वह पराग लेकर प्रवाहित होता है, जो तुलसी की गंध से मिश्रित है। यही कारण है कि वे समस्त लोकों को पावन करती हैं(श्री0भा- 1/19/6)" इस प्रथमस्कंध के वाक्य में भी कहा गया है।

तिसृणामेकीभावेन पातेऽपि "विष्णोः पदाच्छिशुमाराद्ध्रुवाच्च सोमात्सूर्यान्मेरुरूपाच्च विष्णोः । समागता शिवमूर्ध्नो हिमाद्रिमि"ति महाभारतेऽवतरणक्रम उक्तः । एवमग्रे तत्तत्क्षेत्रसम्बन्धे तत्तत्पुराणेषु तत्तत्कृत उत्कर्षश्चेति तथा । आदिपदेन "सितासिते सरिते यत्र सङ्गते तत्राऽऽप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति । ये वै तन्वां विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्त"इति श्रुतिरन्यच्च सङ्गृहीतम् । तेन श्रीयमुनासङ्गमात्सेवकसकलसिद्धिदातृत्वं स्पष्टमेवेति बोधितम् । भगवत्प्रियम्भावुकत्वं तु समागम एव माहात्म्याधिक्यबोधनाद्भगवत्प्रियत्व एव च तथाभावात् । अन्यथा चर्मण्वत्यादिनद्यन्तरस्याऽपि तथात्वापत्तेः । अतस्तदेतैरेव वाक्यैः सिद्ध्यतीति तत्र विशेषतः प्रमाणान्तरं नोपन्यस्तम् ।

ये तीनों ही गंगा हैं तथापि महाभारत में "विष्णु के चरण से निकल कर गंगा शिशुमारचक्र में आयी, वहाँ से ध्रुवलोक में गयी, वहाँ से चन्द्रमा में और चन्द्रमा से सूर्य में, और सूर्य से मेरुपर्वत पर, मेरुपर्वत से शिव के मस्तक पर आयी और शिवमस्तक से हिमालय पर आयी" इस वाक्य द्वारा गंगाजी का पृथ्वी पर अवतरित होने का क्रम बताया गया है। इसी प्रकार आगे उन-उन क्षेत्रों से गंगाजी का संबन्ध होने पर, उन-उन पुराणों में जिन-जिन से गंगाजी की संगति हुई है, उन-उन सभी के कारण गंगाजी के उत्कर्ष/माहात्म्य का वर्णन आता है। **आदि** पद से गंगाजी का अन्यों से संग होने के उदाहरणों में "सितासिते सरिते" इस श्रुति का भी समावेश कर लेना चाहिये। इस श्रुतिवाक्य द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि, श्रीयमुना से संग होने के पश्चात् ही गंगाजी अपने सेवकों को सकलसिद्धियों को देने वाली बनीं- यह बोधित होता है। परन्तु गंगाजी भगवान की भी प्रिय बनीं, यह तो उनका श्रीयमुनाजी से समागम होने के पश्चात् ही हुआ। अन्यथा...... यदि गंगाजी को श्रीयमुनाजी के बिना ही स्वतन्त्ररूप से फल देने वाली मान लेंगे तो फिर चर्मणवती आदि अन्य नदियों में भी ऐसा माहात्म्य होना मान लेना पड़ेगा क्योंकि ये नदियाँ भी गंगाजी के समान ही पुण्य देने वाली मानी गयीं हैं अतः फिर उनमें भी गंगाजी जैसा माहात्म्य होना मान लेने की आपत्ति आयेगी !! चूँकि उपर्युक्त समस्त वाक्यों द्वारा ही गंगाजी का ऐसा माहात्म्य स्वतः सिद्ध हो जाता है इसलिये प्रभुचरणों ने इस बात को सिद्ध करने के लिये अन्य कोई विशेष प्रमाण नहीं दिये।

यद्वा । "आक्केस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्वि"त्यधिकारस्थितेन "लषपते"ति सूत्रेण भुव उकञ् । तथा च मुररिपोः प्रियं यथा स्यात्तथा भावुका भवनसाधुकारिणी । भगवत्सेवायोग्यशरीरोत्पत्तिसाधिकेत्यर्थः ।

अथवा, 'प्रियम्भावुका' का एक और अर्थ कर लें। इसे एक पद न मान कर 'प्रियं भावुका' यों दो पद मान लें। जब ऐसा पदच्छेद करेंगे, तब 'प्रियं' पद तो क्रियाविशेषण बन जायेगा और जब केवल 'भावुका' शब्द की सिद्धि करेंगे और इसमें "आक्केस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु(पा0अष्टा- 3/2/134; ल0सि0कौ0- पूर्वकृदन्त प्रकरण-53,सि0कौ0-3114) इस अधिकार से 'लषपत(पा0अष्टा0-3/2/154)' इस सूत्रानुसार 'भू' धातु को 'उकञ्' प्रत्यय हो जायेगा; किन्तु तब थोड़ा अर्थ परिवर्तित हो जायेगा, और 'प्रियं भावुका' का अर्थ होगा- मुररिपु को जिस प्रकार से प्रिय लगे, वैसे कार्य करने वाली यानि भगवान प्रसन्न हों, श्रीगंगाजी वैसे कार्य को करने वाली बन गयीं। यानि श्रीगंगाजी भगवत्सेवायोग्य शरीर उत्पन्न कराने में साधिका हैं।

कमलजेति । लक्ष्म्याः कमलजात्वं विष्णुपुराणे "पुनश्च पद्मादुद्भूता आदित्योऽभूद्यदा हरिरि"ति लक्ष्म्यवतारकथने । "नमस्ते सर्वभूतानां जननीमब्जसम्भवामि"तीन्द्रस्तुतौ च स्फुटम् । अतिप्रियत्वे प्रमाणं कार्यलिङ्गकानुमानमेवेति मूलाशयमुद्घाटयन्ति भक्तेत्यादि, कलिं द्यतीति । अत्र "तत्पुरुषे कृति बहुलमि"ति बहुलग्रहणाद् द्वितीयाया अलुक् । एतेन लक्ष्म्यंशास्तदाविष्टाश्च सापत्न्येनेर्ष्यावत्यो भवन्ति, भवती तु तासां तदपाकरोतीति गुणातीतत्वं प्रियत्वबीजभूतं कार्यद्वारा निश्चायितम् । कलिन्दयेति

भावप्रधानो निर्देशः । तथाचाऽनेन रूपेण मे मनसि सदा स्थीयतामिति तदावेशेन स्वस्य भगवत्प्रियत्वफलिका द्वितीया प्रार्थना । पूर्वश्लोकोक्तसम्बुद्धिभिश्चारितार्थ्यान्न पुनस्तदुक्तिः । अत्र भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वरूपं पञ्चममैश्वर्यं स्फुटमेव ।।५।।

अब **कमलजा**(श्रीलक्ष्मीजी) (*हे श्रीयमुनाजी ! तुम्हारे जैसी की समानता क्या कोई कर सकती है ? कोई नहीं कर सकती । यदि कोई कर सकता है, तो श्रीलक्ष्मीजी कर सकती हैं*) इत्यादि शब्दों का अर्थ करते हैं। श्रीलक्ष्मीजी कमलजा क्यों हैं ? तो इसका प्रमाण विष्णुपुराण के "हे मैत्रेय ! जब श्रीहरि आदित्यरूप हुए, तो वे कमल से फिर उत्पन्न हुईं और पद्मजा कहलायीं(वि0पु- 1/9/143)" इस वाक्यान्तर्गत श्रीलक्ष्मीजी के अवतार का प्रसंग कहने में एवं "सम्पूर्ण लोकों की जननी, विकसित कमल के सदृश नेत्रों वाली, भगवान विष्णु के वक्षःस्थल में विराजमान कमलोद्भवा श्रीलक्ष्मीदेवी को मैं नमस्कार करता हूँ(वि0पु-1/9/117)" इस श्लोकान्तर्गत इन्द्र द्वारा की गयी श्रीलक्ष्मीजी की स्तुति में स्पष्ट किया गया है। और श्रीलक्ष्मीजी की तुलना में श्रीयमुनाजी भगवान को अतिप्रिय क्यों हैं, इसका प्रमाण तो श्रीयमुनाजी द्वारा किये गये कार्यों का अनुमान लगाने से ही पता चल जाता है, उसी मूल आशय को श्रीप्रभुचरण **भक्त** से लेकर **कलिं द्यति** (*श्रीयमुनाजी भक्तों का उद्धार करती हैं, यह आचार्यचरण* ***हरिप्रियकलिन्दया*** *शब्द से कह रहे हैं। अर्थ यह कि- श्रीयमुनाजी हरि के प्रियजनों के कलि(दोष)को दूर करती हैं*) तक के शब्दों से उद्घाटित कर रहे हैं। 'हरिप्रियकलिन्दया' शब्द में "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इस सूत्र द्वारा बहुलग्रहण करने के कारण द्वितीयाविभक्ति का अलुक् हुआ है। यानि श्रीयमुनाजी को 'हरिप्रियकलिन्दया' कहने का अर्थ यह हुआ कि- श्रीलक्ष्मीजी की अंशभूता एवं श्रीलक्ष्मीजी का आवेश जितनी गोपिकाओं में है, वे सभी गोपिकाएँ श्रीलक्ष्मीजी की सपत्नी होने के कारण श्रीलक्ष्मीजी से ईर्ष्या करती हैं, किन्तु हे श्रीयमुनाजी ! आप तो उन गोपिकाओं के भी ईर्ष्या आदि दोषों को दूर करती हैं अतः श्रीयमुनाजी के भगवान का प्रिय होने का बीजभूत कारण उनकी गुणातीतता तो उनके इस कार्य द्वारा ही उनमें होनी निश्चित हो जाती है। 'कलिन्दया' शब्द में भावप्रधान निर्देश है। इसका तात्पर्य यह होगा कि- हे श्रीयमुनाजी ! आप अपने कलि/दोष मिटाने वाले गुण वाले स्वरूप से मेरे मन में विराजें। इससे आचार्यचरणों के मन का भाव यह है कि- हे श्रीयमुनाजी ! ऐसे कालिन्दीस्वरूप से आप मेरे मन में सदा विराजेंगी, तो आपके आवेश के कारण मैं भी भगवान का प्रिय बन जाऊँगा- यह दूसरी प्रार्थना भी आपश्री कर रहे हैं। अब कारण कि यही प्रार्थना श्रीमदाचार्यचरण पूर्वश्लोक(4)में दिये गये संबोधनों द्वारा श्रीयमुनाजी से पहले ही कर चुके हैं अतः आपश्री ने उसी प्रार्थना को यहाँ फिर से शब्दों में नहीं दोहराया, अपितु केवल 'हरिप्रियकलिन्दया मनसि में सदा स्थीयताम्(मेरे मन में आप सदा विराजें)' इतना कह कर छोड़ दिया। इस श्लोक में श्रीयमुनाजी का भगवान के प्रियजनों के दोषों को दूर करने वाला पांचवां ऐश्वर्य स्पष्ट ही ज्ञात होता है ॥5॥

एवं निरस्तसाम्यत्वबोधनेनाऽधिकवर्णनाशक्तिं समर्थयित्वा 'नमामी'त्यादौ नमनस्याऽग्रे 'नमते'त्युपदेशे कैमुतिकेन हेतुतोक्त्याऽपि चारितार्थ्यान्न पूर्वोक्त आचार्याशय इति शङ्कां वारयितुं भगवत्कृपाङ्कुरं विना श्रीयमुनानमनमपि कोऽपि कर्तुं न शक्तः कुतस्तरां नमनातिरिक्तमित्याशयमग्रिमे स्वयमेव प्रकाशयन्तीति नाऽस्मदुक्तं विरुद्धमित्याशयेनाऽग्रिममवतारयन्त्येतादृश्यामित्यादि । एतादृश्यामिति वैषयिकाधिकरणसप्तमी । दुर्लभमिति । भगवत्कृपाङ्कुरं विना तत्र तादृक्श्रद्धाया एवाऽनुदयात्तथेत्यर्थः ।

इस प्रकार यहाँ तक श्रीयमुनाजी की समानता करने में कोई भी समर्थ नहीं है- यह बताने के द्वारा श्रीप्रभुचरण इससे अधिक श्रीयमुनाजी का वर्णन करने की शक्ति किसी में नहीं है- इस बात को अपना समर्थन देते हुए आगे यह भी बता रहे हैं कि, यद्यपि आपश्री स्तोत्र के प्रारंभ में 'नमामि' पद से श्रीयमुनाजी को केवल नमन कर पाना ही संभव है अन्य कुछ भी नहीं - इस बात का तात्पर्य 'नमत कृष्णतुर्यप्रियाम्(3)इस श्लोक की व्याख्या में बता चुके हैं अतः इसका अर्थ तो वहीं चरितार्थ हो जाता है, तथापि यदि कोई यह शंका करे कि, नहीं......... श्रीमदाचार्यचरणों का तात्पर्य श्रीयमुनाजी को केवल नमन करने मात्र में ही नहीं हो सकता, तो श्रीप्रभुचरण इस शंका का निवारण करने के लिये आगे फिर यह कहना चाह रहे हैं कि, भगवत्कृपांकुर के बिना तो कोई श्रीयमुनाजी को नमन भी नहीं कर सकता, फिर नमन के अतिरिक्त कुछ अन्य सेवा करने की बात तो दूर रही; अपने इस आशय को आपश्री अग्रिमश्लोक की विवृति में स्वयं ही प्रकाशित कर रहे हैं एवं यह कहना चाह रहे हैं कि- हमारे कहे में कुछ भी विरुद्ध नहीं है। इस बात को आपश्री **एतादृश्याम्** (*आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- हे श्रीयमुनाजी ! आपके समान भगवान की प्रिया को तो नमन के अतिरिक्त अन्य*

कुछ भी कहने में हम असमर्थ हैं) इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं। 'एतादृश्याम्' शब्द में वैषयिक एवं अधिकरणसप्तमी का प्रयोग है। प्रभुचरण आगे, श्रीयमुनाजी को नमन करना भी दुर्लभ है, ऐसा इसलिये कह रहे हैं क्योंकि भगवत्कृपांकुर के बिना तो किसी में श्रीयमुनाजी के प्रति ऐसी श्रद्धा ही उपज नहीं सकती- यह अर्थ है। चूँकि प्रभुचरणों ने यहाँ श्रीमदाचार्यचरणों का यह तात्पर्य सिद्ध किया है कि, श्रीयमुनाजी का स्वरूप और माहात्म्य इतना अद्भुत है कि, उनको नमन या प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य उनकी कुछ भी सेवा करने में कोई समर्थ नहीं है, अतः यदि कोई पूर्वपक्षी इस भाव को न मानते हुए इसे श्रीयमुनाजी के प्रति आचार्यचरणों की प्रार्थना न मानता हो तो श्रीपुरुषोत्तमचरण आगे प्रभुचरणों का अभिप्राय बता कर पहले उस शंका को उपस्थापित कर रहे हैं एवं पश्चात् उसका निराकरण भी कर रहे हैं।

ननु प्रार्थनाव्यतिरिक्तार्थान्तरेऽपि तथा प्रयोगान्नेदं गमकमित्यत आहुरद्भुतत्वमेवेत्यादि । अन्यथा चरित्रस्याऽद्भुतत्वं नोपपादयेयुः । इदमपि तत्रैवोक्तम् । "गण्डूषमात्रमप्यम्बु पीत्वा भवति सोमपाः । सप्तकृत्वश्च सप्तैव सोमसंस्थाः समाप्नुयादि"ति । "विनिग्राह्यास्त्वया भ्रातर्ये नराः पापकारिणः । तानहं तारयिष्यामि प्राप्स्यामि च सुरालयमि"ति । तथा च यस्या ईदृशं चरित्रं तस्या उत्कर्षज्ञानं न भगवत्कृपाङ्कुरं विना, तदभावे तदभावान्न नमनमपीत्यतिदुर्लभत्वात्तदर्थमपि कृपाऽपेक्षितेति प्रार्थनैऽवार्थ इति भावः ।

किन्तु यदि यहाँ कोई ये शंका करे कि 'अस्तु' शब्द का प्रयोग प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी तो होता है, फिर इसे आचार्यचरणों की श्रीयमुनाजी के प्रति प्रार्थना करने का ही प्रमाण क्यों माना जाय ? तो प्रभुचरण **अद्भुतमेव** (*आगे के 'न जातु यमयातना...... गोपिकाः' इस श्लोक में आपश्री ने श्रीयमुनाजी की अद्भुतता बता दी है)* इत्यादि शब्दों से इसका निराकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, यदि श्रीयमुनाजी का स्वरूप इतना ही सरल होता, तो आचार्यचरण श्रीयमुनाजी के अद्भुतचरित्र का वर्णन ही क्यों करते ! श्रीयमुनाजी का अद्भुतचरित्र भी "गण्डूषमात्रमपि" , "विनिग्राह्यास्त्वया" इत्यादि पुराणवाक्यों में ही कह दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि, जिस श्रीयमुनाजी का ऐसा चरित्र हो, उसके उत्कर्ष/महिमा का ज्ञान हो पाना भगवत्कृपांकुर के बिना तो संभव नहीं बन सकता ; और यदि भगवत्कृपा नहीं होगी तो श्रीयमुनाजी के अद्भुतचरित्र का ज्ञान भी नहीं होगा और यदि अद्भुतचरित्र का ज्ञान नहीं होगा तो श्रीयमुनाजी को नमन कर पाना भी दुर्लभ बन जायेगा, इसलिये श्रीयमुनाजी को नमन करने के लिये भी भगवत्कृपा की अपेक्षा है, और इसीलिये आचार्यचरण का भाव प्रार्थना करने का ही है।

मूले पयःपाने युष्मदनुरोधेन यातनाभावेऽपि स्वस्याऽधिकृतत्वादल्पदण्डं तु दास्यत्येवेत्यत आहुर्यमोऽपीत्यादि । उस्तर्के । इदमपि तत्रैव, "यमुने कृपया पापानवश्यं तारयिष्यसि । मयि त्वया दया कार्या निर्दये निगृहीतरी"ति यमेनोक्तम् । "एवमस्तु मदम्भोभिः स्नात्वा त्वामादरान्नराः । दशभिश्च चतुर्भिश्च तर्पयिष्यन्ति नामभिः । तेन हिंसापरोऽपि त्वं घृतकल्पो भविष्यसि । निरातङ्का भविष्यन्ति भवतो येऽपि पापिन" इति यमुनावाक्यैरेव सिद्धम् । उपपत्तिमात्रं परं तर्क्यत इत्यर्थः ।

मूलश्लोक में जो "हे श्रीयमुनाजी आपका पयःपान करने के कारण जीव को यमयातना नहीं होगी" यह कहा गया है, तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, चलो श्रीयमुनाजी के कारण यमराज उसे यातना न भी दे, परन्तु अंततोगत्वा यमराज को दंड देने का ही तो अधिकारी बनाया गया है अतः वह उसे अल्प मात्रा में तो दण्ड देगा ही ! इस प्रश्न का स्पष्टीकरण आचार्यचरण **यमोऽपि** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इस श्लोक में प्रयुक्त हुआ 'उ' शब्द 'विचार' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यानि, इसका तात्पर्य यह हुआ कि, यमराज तो श्रीयमुनाजी के पुत्रों को दण्ड देने का विचार भी नहीं कर सकता, दण्ड देने की बात तो दूर रही। यमराज श्रीयमुनाजी के पुत्रों को दण्ड देने की सोच भी नहीं सकता- यह बात तो यमराज के श्रीयमुनाजी के प्रति कहे "यमुने कृपया" इस यमवाक्य द्वारा, एवं उसके प्रत्युत्तर में श्रीयमुनाजी के यमराज को कहे "एवमस्तु मदम्भोभिः" इस वाक्य द्वारा ही सिद्ध हो जाती है। यहाँ तो आचार्यचरणों ने यमयातना न होने में केवल पयःपान की उपपत्ति(तर्क)मात्र ही बतायी है,यानि केवल तर्क देकर ही बतायी है परन्तु श्रीयमुनापुत्रों को यमयातना न होने का प्रमाण तो उपर्युक्त शास्त्रवाक्यों में पहले से ही बता दिया जा चुका है- यह अर्थ है।

यथा गोपिका इति । प्रियत्वे उदाहरणम् । अन्यथा बहुषु भक्तेषु सत्स्वप्येकादशे तास्वेवैकतानत्वेन प्रियत्वं न वदेदतस्तथेत्यर्थः । प्रियभवने दृष्टान्तश्चाऽयम् । सेवनस्य हेतोस्तुल्यत्वात् । तेन ब्रह्मत्वेन सेवने "रसो यः परमाधार"इति तथा सेवकस्य प्रियत्वं युक्तमेव । अतः प्रतिबन्धकनिवृत्तिरर्थादेव सिद्ध्यतीति भावः । एतावदन्तं व्याख्यानं प्रभूणाम् । अग्रे तदाज्ञप्तश्रीगोकुलनाथानाम् । अत्राऽपि स्वसेवनाद्गोपिकावद्भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वरूपं षष्ठमैश्वर्यं स्पष्टम् ।।६।।

आचार्यचरणों ने **यथा गोपिकाः** (*हे श्रीयमुनाजी! आपकी सेवा करने से जीव भगवान का ऐसा प्रिय बन जाता है, जैसे गोपिकाएँ भगवान को प्रिय थीं*) इत्यादि शब्दों से भगवान को जो सबसे अधिक प्रिय गोपिकाएँ हैं, उनका उदाहरण दिया है। भगवान को सबसे अधिक प्रिय गोपिकाएँ ही हैं। यदि ये सत्य न होता, तो भगवान के तो अनेकों भक्त हैं, तथापि एकादशस्कन्ध में उन्होंने केवल गोपिकाओं को ही सबसे अधिक प्रिय और उन्हें भगवान में एकनिष्ठ न बताया होता- यह अर्थ है। इसलिये आचार्यचरणों ने भी श्रीयमुनाजी की कृपा से जीव भगवान का किस प्रकार का प्रिय बनेंगे, इसे समझाने में गोपिकाओं का उदाहरण दिया। और श्रीयमुनाजी की सेवा करने से जीव भगवान का कितना प्रिय बनेगा, यह बताने में आचार्यचरणों ने गोपिकाओं का ही उदाहरण इसलिये दिया क्योंकि गोपिकाओं ने भी श्रीयमुनाजी की सेवा भगवान का प्रिय बनने के लिये ही की थी, उसी तरह यदि जीव भी श्रीयमुनाजी की सेवा करेगा, तो वह भी गोपिकाओं की भाँति भगवान का प्रिय बनेगा- यह अर्थ है। इसलिये, जो श्रीयमुनाजी को ब्रह्मरूप-भगवान मानकर उनकी सेवा करता है, उस सेवक का "रसो यः परमाधारः" इस वाक्यानुसार भगवान का प्रिय बनना तो उचित ही है। अतः प्रिय बनने से उसके प्रतिबन्धों की निवृत्ति होनी तो अपने आप ही सिद्ध हो गयी क्योंकि जो भगवान का ऐसा प्रिय बन गया हो, उसे प्रतिबन्ध आने का अब अवकाश ही कहाँ रहा ?- यह भाव है। यहाँ तक का व्याख्यान प्रभुचरणों ने किया है, इसके पश्चात् का व्याख्यान प्रभुचरणों से आज्ञाप्राप्त श्रीगोकुलनाथचरणों का है। इस श्लोक में भी अपनी सेवा के द्वारा गोपिकाओं की भाँति जीव को भगवान का प्रिय बना देने वाला श्रीयमुनाजी का छठा ऐश्वर्य स्पष्ट किया गया है ॥6॥

तत्र च, एवमनेन स्वरूपसामर्थ्यं निश्चाययित्वा प्रियत्वोपयोगि यदभिप्रेतं तत्प्रार्थयितुमग्रिमः श्लोक इत्याशयेन तमवतारयन्त्यावश्यकेत्यादि, आवश्यकदैहिकधर्मपदेन तीरवासात्मकं सेवनं पानं चेत्युभयमपि सङ्गृह्यते । पूर्वत्र सेवनपानयोः फलस्योपपादितत्वेऽपि व्याख्यानाभावादत्राऽनुवादः । तथाच तीरवासात्मकत्वत्सेवनत्वज्जलपानरूपावश्यकदैहिकधर्मेऽपि त्वत्सम्बन्धे यत्र मुक्त्यधिकभक्तिप्राप्तिस्तत्र का आशङ्का यमयातनाभाव इत्याशयेन पूर्वं प्रार्थनमाहुरित्यर्थः ।

इस प्रकार पूर्वश्लोक में श्रीयमुनाजी के स्वरूप की सामर्थ्य निश्चयपूर्वक बता कर, अब भगवान का प्रिय बनने में जो उपयोगी वस्तुएँ अभिप्रेत हैं, उनकी प्रार्थना करने के लिये **अग्रिमश्लोक** है- यह बताने के लिये श्रीगोकुलनाथचरण उसकी व्याख्या **आवश्यक** इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं। आपश्री ने जो **आवश्यकदैहिकधर्म** पद लिखा है, उन आवश्यक धर्मों के अंतर्गत श्रीयमुनाजी के तीर पर निवास करते हुए उनकी सेवा करनी एवं श्रीयमुनापान करना ये दोनों धर्म भी समझ लेने चाहिए। यद्यपि पूर्व में श्रीयमुनाजी के सेवन एवं पान का फल बता दिया गया है परन्तु उसका व्याख्यान नहीं किया गया था अतः आपश्री ने यहाँ उक्त पद से उसी बात को फिर से कह दिया है। इस पंक्ति का पूरा अर्थ यह हुआ कि- हे श्रीयमुनाजी ! आपके तीर पर निवास करते हुए आपकी सेवा एवं आपका जलपान करने जैसे आवश्यक दैहिकधर्मों को करता हुआ ही सही परन्तु इस प्रकार भी यदि आपका सम्बन्ध हो जाने पर उसे मुक्ति से भी बढ़कर भक्ति मिल जाती हो, वहाँ उसे यमयातना नहीं होगी, इस बात में क्या आशंका रह जाती है- यह कहने के आशय से आचार्यचरण पूर्व में की गयी श्रीयमुनाजी के सान्निध्य की प्रार्थना ही इस श्लोक में कर रहे हैं।

तद्व्याकुर्वन्ति तवेत्यादि । तव आधिदैविक्याः सन्निधौ भौतिकीमध्ये संन्निधाने तनोर्नवत्वं सिद्धिरूपलीलोपयोगिनूतनदेहसम्पत्तिरस्तु । अत्र तनुनवत्वं नैतच्छरीरेऽतिशयाधानमात्रपर्यवसायि, किन्तु, पूर्वशरीरनिवृत्तिपूर्वकाभीष्टदेहान्तरप्राप्तिपर्यन्तमित्याशयं स्फुटीकुर्वन्ति एतेनेत्यादि । एतेन नवत्वस्य नूतनदेहसम्पत्तिपर्यन्तत्वकथनेन पूर्वशरीरनिवृत्तिः सूचिता, अर्थबलादेव बोधितेत्यर्थः । इदमिति । पूर्वोक्तमुभयम् ।

उसी प्रार्थना की व्याख्या श्रीगोकुलनाथचरण **तव** (*आचार्यचरणों का तात्पर्य यह कि- हे श्रीयमुनाजी ! आपकी सन्निधि में मुझे तनु का नवत्व प्राप्त हो अर्थात् लीलोपयोगी नूतनदेहरूप सम्पत्ति प्राप्त हो*) इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इस पंक्ति का तात्पर्य यह है कि, हे आधिदैविकी श्रीयमुनाजी ! आपके भौतिक जलस्वरूप की सन्निधि में भी हमें तनु की नूतनता अर्थात् लीलोपयोगी नूतनदेह की सम्पत्तिरूप सिद्धि प्राप्त हो। तात्पर्य यह कि भले ही श्रीयमुनाजी की सन्निधि जलरूप में प्राप्त होती हो तथापि उनके भौतिकरूप में भी उनका आधिदैविक स्वरूप तो छुपा ही हुआ है अतः जलरूपा श्रीयमुनाजी भी तनु की नूतनता प्रदान करें, यह भाव है। यहाँ 'तनुनवत्व' का अर्थ केवल इस शरीर में अतिशय नूतनता आ जाने मात्र तक ही सीमित नहीं है, किन्तु, इसका तात्पर्य पूर्वशरीर की निवृति होकर मनोवांछित एक अन्य देह की प्राप्ति होने तक है- इस आशय को श्रीगोकुलनाथचरण **एतेन** (*इस कथन से सूचित होता है कि, श्रीयमुनाजी जब ऐसी कृपा करती हैं तब पूर्वदेह की निवृत्ति हो जाती है और नूतनदेह प्राप्त होती है*) इत्यादि शब्दों से स्पष्ट किये दे रहे हैं। **एतेन** वाले वाक्य में श्रीगोकुलनाथचरणों ने **'नवत्व'** का अर्थ नूतनदेहसम्पत्ति प्राप्त होने तक के अर्थ में कहा है, जिस कथन से आपश्री ने पूर्वशरीर की निवृति हो जानी सूचित की है ; अतः नये शरीर की प्राप्ति होनी तो इस कथन में कहे अर्थ से ही आपश्री ने बोधित कर दी है- यह अर्थ है। आपश्री के **इदम्** (पूर्वदेह की निवृत्ति हो जानी नूतनदेह प्राप्त होनी- यह भी श्रीयमुनाजी की ही कृपा से प्राप्त होता है अन्यथा नहीं) वाले वाक्य का अर्थ- पूर्वदेह निवृत्ति होनी एवं भगवल्लीलोपयोगी नूतनदेह प्राप्त होनी, ये दो मुद्दे हैं ; .... तात्पर्य यह कि ये दोनों बातें भी तभी संभव बन सकती हैं, जब श्रीयमुनाजी कृपा करें।

ननु किमिति द्वयं प्रार्थ्यते एतस्य शरीरस्यैव कुतो नवत्वं न प्रार्थ्यत इत्यत आहुरेतावतेत्यादि । शरीरस्य य परिवर्त्तः पूर्वधर्मनिवृत्तिपूर्विका धर्मान्तरवत्ता, तन्मात्रेणैव मुररिपौ दोषनिवर्त्तके भगवति रतिर्दुर्लभतमा न भवति, तथापि लीला तु दुर्लभतमा भवत्येव । अतो न प्रार्थ्यत इत्यर्थः । तदेतत्स्फुटीकुर्वन्ति कदाचिदित्यादि उक्तमित्यन्तम् । श्रीहरिरायास्तु लीलोपयोगिदेहप्राप्तिं परमभक्तिप्राप्तिमात्रसाध्यां मन्वानाः पूर्वदेहनिवृत्तिं मृद्घटपाकदृष्टान्तेनैतद्देहेऽतिशयाधानमात्रपर्यवसितामङ्गीकुर्वन्ति । तदपि पूर्वकक्षाविश्रान्तमिति न विरोधः ।

किन्तु किसी को एक शंका यह होती है कि, आचार्यचरण उपर्युक्त दो प्रार्थनाएँ क्यों कर रहे हैं, सीधे-सीधे इसी शरीर को ही नया बना देने की प्रार्थना क्यों नहीं करते ? तो इसका समाधान आपश्री **एतावता** (इस प्रकार के शरीरपरिवर्तन होने मात्र से ही मुररिपु-प्रभु में रति उत्पन्न होनी दुर्लभतमा नहीं रहती किन्तु तनुनवत्व होने के कारण सुलभ ही बन जाती है- यह अर्थ है) इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री के इस कथन से यह बात सूचित होती है कि, श्रीयमुनाजी की सन्निधि से शरीर का जो परिवर्तन होता है अर्थात् पूर्व के लौकिकधर्म दूर होकर नये अलौकिकधर्म आ जाते हैं, उससे तो मात्र इतना ही होता है कि मुररिपु यानि दोषनिवर्तक भगवान में रति/प्रेम होना दुर्लभतम नहीं रहता, परन्तु...... भगवान की लीलास्थली में प्रवेश पाना तो दुर्लभतम बना ही रहता है, और वह तो नूतन अलौकिकदेह प्राप्त होने के पश्चात् ही संभव बन सकता है अतः आचार्यचरण नूतनदेह प्राप्त करने की प्रार्थना कर रहे हैं कि जिससे भगवल्लीला में प्रवेश मिल सके। इसी बात को आगे श्रीगोकुलनाथचरणों ने **कदाचित्** से लेकर **उक्तम्** तक के वाक्य में स्पष्ट किया है। श्रीहरिरायजी ने तो लीलोपयोगिदेह की प्राप्ति को मात्र परमभक्तिप्राप्त करने का साधन मानते हुए पूर्वदेहनिवृत्ति को मिट्टि का घड़ा पक जाने वाला दृष्टान्त देकर इसी देह में अतिशय नूतनता हो जाने वाला अर्थ माना है। वैसे, श्रीहरिरायजी का पक्ष भी मेरे कहे पक्ष से पहले की कक्षा वाला पक्ष है अतः मेरे और उनके मत में परस्पर विरोध नहीं आता।

मुकुन्दप्रिय इति तु न व्याख्यातम् । मोक्षदातृत्वस्य स्वाभाविकत्वेऽपि भवदनुरोधेनाऽलौकिकं देहं दास्यतीत्याशयस्य प्रियापदादेव स्फुटं स्फुरणात् । प्रियत्वं तु तत्रैव "विष्णुदयिते"ति नाम्नोक्तम् । अतःकारणादिति । यतो भवती प्रिया । तथाच तदवधि लालनारूपं तदनुकूलमिदं द्वितीयं प्रार्थितं देयमिति भावः । ननु तनुनवत्वरूपं फलमन्यथा सिद्धं गङ्गयाऽपि सम्भवादतस्तदर्थं तत्स्तुतिरेव कार्येत्याशङ्कायां तन्निरासाय श्लोकशेष इत्याशयेन तमवतारयन्ति गङ्गाया इत्यादि । इदमपि "सितासिते"इति मन्त्रोत्तरार्द्ध एव सिद्धम् । अस्याऽपि मन्त्रस्यक्त्वेन "गोप्यो गावः ऋचस्तस्ये"ति श्रुत्यन्तरे तासां गोपीत्वेन

पुष्टिस्थितत्वात्केवलगङ्गाया एव माहात्म्यस्य तत्राऽस्फुटत्वाच्च । अत्र पुष्टिस्थितपदेन तदुक्तिराधिदैविकसङ्ग्रहाय । व्रजस्थकृतस्य केवलगङ्गाकीर्त्तनस्य श्रीभागवते अदर्शनादिति ।

श्रीगोकुलनाथचरणों ने **मुकुन्दप्रिये** पद की व्याख्या नहीं की है, और वो इसलिये क्योंकि यद्यपि 'मुकुन्द' पद से भगवान द्वारा मोक्ष देने वाली बात तो स्वाभाविकरूप से स्वयं समझ में आने वाली बात तो है ही परन्तु श्रीयमुनाजी की कृपा से ही भगवान अलौकिकदेह देते हैं - यह आशय भी श्रीयमुनाजी को 'मुकुन्दप्रिया' कहा होने से अपने आप ही समझ में आ जाने वाली बात है अतः आपश्री ने 'मुकुन्दप्रिये' पद की व्याख्या करनी आवश्यक नहीं समझी। श्रीयमुनाजी भगवान की प्रिया हैं, यह बात तो "विष्णुदयिता" इस वाक्य द्वारा सिद्ध ही है। **अतःकारणात्** (*इस कारण जब तक इस आधुनिकशरीर की निवृति न हो जाये, और अलौकिक शरीर की प्राप्ति न हो जाय, तब तक हे श्रीयमुनाजी हम आपकी लालना/स्तुति करते रहें*) का अर्थ है- चूँकि आप भगवान की प्रिया हो और आपसे सम्बन्ध हो जाने से सभी दोष मिट जाते हैं इसलिये हम आपकी स्तुति/लालना करते हैं। अर्थात् ऊपर कहे कारणों से जब तक नूतनदेह की प्राप्ति न हो जाय, तब तक हे श्रीयमुनाजी ! हम जो आपके अनुकूल, आपको प्रसन्न करने वाली लालना/स्तुति करने की प्रार्थना कर रहे हैं, वह प्रदान करें- यह भाव है। किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, तनुनवत्वरूप फल तो दूसरे प्रकार से श्रीगंगाजी भी दे सकतीं हैं अतः तनुनवत्व प्राप्त करने के लिये श्रीगंगाजी की ही स्तुति क्यों न की जाय ? यह आशंका होने पर उसका निराकरण करने के लिये आपश्री श्लोक के दूसरे भाग की व्याख्या **गंगाया** (*हे श्रीयमुनाजी ! श्रीगंगाजी भी आपसे सम्बन्ध होने के पश्चात् ही फ़लसाधिका बनतीं हैं- यह कहने के लिये आचार्यचरण* ***सुरधुनी तव संगमात्*** *कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं। ऐसा इसलिये क्योंकि श्रीगंगाजी का श्रीयमुनाजी से सम्बन्ध होने के पश्चात् ही फलसाधिका बनने वाली बात भी "सितासिते" इस मन्त्र के उत्तरार्ध में ही सिद्ध हो चुकी है। क्योंकि यह मन्त्र भी एक ऋचा है, और "गोप्यो गावः" इस दूसरी श्रुति के अनुसार वे ऋचाएँ ही गोपी बनीं अतः गोपियाँ होने के नाते वे ऋचाएँ पुष्टिमार्गीय हैं, इसलिये उन ऋचाओं ने भी श्रीयमुनाजी के बिना केवल श्रीगंगाजी का माहात्म्य नहीं गाया। इसलिये 'पुष्टिस्थितैः' इस पद के द्वारा लीलास्थपुष्टिमार्गीयों को आधिदैविक समझना चाहिए क्योंकि श्रीभागवत में कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं आता, जहाँ व्रजभक्तगोपिकाओं ने श्रीयमुनाजी को छोड़कर केवल गंगाजी का कीर्तन किया हो।

आहुरिति। स्वपूर्वोक्तेऽर्थेऽभियुक्तसंमतिमाहुरित्यर्थः । व्याख्यानं तूत्तानार्थम् । इदं चाऽर्थादेव सिद्धम् । पुष्टिमार्गीयाणां भजनानन्दाभिलाषुकत्वेन तदुपयोगिन एव स्तुत्यत्वात् । लोकादपि तथा निश्चयात् ।

श्रीगोकुलनाथचरणों ने **आहुः** (*इससे आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, मर्यादामार्गीय तो केवल श्रीगंगाजी की ही स्तुति करते हैं क्योंकि हे श्रीयमुनाजी ! उन्हें आपके स्वरूप का ज्ञान नहीं है। किन्तु पुष्टिमार्गीय तो आपके स्वरूप को जानते हैं अतः पुष्टिस्थितजीव तो आपसे सम्बन्ध होने के कारण ही श्रीगंगाजी की स्तुति करते हैं*) इत्यादि शब्दों से आचार्यचरणों द्वारा 'पुष्टिस्थितैः' शब्द का प्रयोग करने का यह अर्थ बताया है कि- आचार्यचरणों के इस वाक्य से गोपिकाओं की भी संमति होनी सिद्ध होती है क्योंकि श्रीभागवत में भी ऐसा वर्णन नहीं आता, जहाँ व्रजगोपिकाओं ने श्रीयमुनाजी को छोड़कर केवल श्रीगंगाजी का कीर्तन किया हो अतः श्रीभागवत से भी यह बात प्रमाणित होती है। टीका में आए 'अभियुक्त' शब्द का अर्थ होता है- प्राचीन विद्वान्। किसी बात को किन्हीं प्राचीन विद्वानों ने यदि पूर्व में अपने किसी वाक्य में कहा हो, तो कहा जायेगा कि- यह बात अभियुक्तों द्वारा भी प्रमाणित है- यह अर्थ है। इस बात का व्याख्यान भी श्रीगोकुलनाथचरणों ने इसलिये किया है ताकि ये भाव और अधिक दृढतया समझ में आ सके, अन्यथा यह बात तो सीधे-सीधे ही समझ में आने वाली बात है। चूँकि पुष्टिमार्गीय भजनानन्द के अभिलाषी होते हैं और रसात्मकप्रभु का भजनानन्द प्राप्त करने में उपयोगिनी तो श्रीयमुनाजी ही हैं, श्रीगंगाजी नहीं अतः वे तो श्रीयमुनाजी की ही स्तुति करेंगे ! और यह बात तो लोक में भी निश्चित है कि, जो वस्तु जिसके पास होगी, उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये व्यक्ति उसी के ही पास तो जायेगा, अन्यत्र नहीं।

योजना तु – सुरधुनी भुवि कीर्तिता, परं तवैव सङ्गमात् । तत्र गमकं, पुष्टिस्थितैस्तु कदापि नेति । केवला न कीर्तितेत्यर्थ इति समीची भाति । तथाच सेवोपयोगिदेहसम्पादकत्वं गङ्गाया अस्ति, परं नाऽभीष्टसेवोपयोगिदेहसम्पादकत्वम् । तेन

नाऽन्यथा सिद्धिः । यदि तया सा स्यादभियुक्तैः साऽपि स्तूयेत । तदभावा"द्यया चरणपद्मजे"त्यर्द्धेनोक्तोऽर्थ उपपन्नतर इति भावः । अत्राऽपि तनुनवत्वरूपं सप्तममैश्वर्यं स्पष्टमेव ।।७।।

पूरे श्लोक की योजना इस प्रकार से है- सुरधुनी-गंगाजी की कीर्ति भूतल पर अवश्य गायी गयी है, परन्तु हे श्रीयमुनाजी ! आपसे संगम होने के कारण गायी गयी है। इसमें मुख्य बात यह है कि, पुष्टिमार्गीयों ने श्रीयमुनाजी को छोड़कर श्रीगंगाजी की कीर्ति तो कदापि नहीं गायी है- यह अर्थ है, और इस श्लोक की यही व्याख्या हमें ठीक लगती है। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रीगंगाजी में भगवान की सेवा में उपयोगी देह का संपादन करने वाली सामर्थ्य तो है, परन्तु, पुष्टिमार्गीयों को जिस प्रकार की देह चाहिए, वैसी देह का संपादन श्रीगंगाजी नहीं कर सकती। इसलिये श्रीयमुनाजी के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा प्रभु का भजनानन्द प्राप्त हो सके ऐसी देह की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। यदि गंगाजी ऐसी देह प्रदान कर सकती होतीं, तो पुष्टिमार्गीयों ने उनकी भी स्तुति की होती। चूँकि गंगाजी वैसी देह का संपादन नहीं कर सकतीं अतः आचार्यचरणों ने पहले श्रीयमुनाजी के लिये जो "यया चरणपद्मजा (*जिन श्रीयमुनाजी में समागम करने के करने के कारण चरणपद्मजा-गंगा मुरारी की प्रिय बन गयीं एवं उनकी(गंगाजी) की सेवा करने वालों को सकलसिद्धियाँ देने वाली बन गयीं, ऐसी श्रीयमुनाजी की समानता लक्ष्मीजी की भाँति कौन कर सकता है*?)" इस श्लोक से जो अर्थ कहा था, वही अर्थ ठीक है। इस श्लोक में भी तनुनवत्व का संपादन करने वाला श्रीयमुनाजी का सातवां ऐश्वर्य स्पष्ट ही है ॥7॥

नन्वस्तु गङ्गापेक्षया स्तुत्यत्वम् । सम्बन्धाधिक्यात्, न तु लक्ष्म्यपेक्षयाऽपि । तथा सति तनुनवत्वार्थं सैव स्तोतव्या । यत्पुनस्तया सदृशतामित्यर्द्धेनोक्तमतिप्रियत्वं तत्तु भक्तमानापनोदकेषु गुणातीतभक्तान्तरेष्वपि । कलिनिवारकत्वधर्मस्य साधारणत्वान्न तेनाऽनुमातुं शक्यमिति मानाभावान्नोपपन्नमित्याशंकायां, लक्ष्म्यपेक्षया जीवोपकारकत्वं गङ्गायां सुप्रसिद्धमिति । तत आधिक्ये लक्ष्म्यपेक्षयोपकाराधिक्यं कैमुतिकादेव सिद्ध्यतीति न लक्ष्म्यास्तदर्थं स्तोतव्यत्वमित्याशयेनाऽष्टमश्लोकमवतारयन्ति यत्रेत्यादि । उक्तार्थसूचनायाऽत्र सर्ववन्द्यपदम् ।

अब यहाँ किसी पूर्वपक्षी को श्रीयमुनाजी की ही स्तुति करने में शंका यह होती है कि, [[चलो भले ही श्रीगंगाजी की स्तुति करने की अपेक्षा श्रीयमुनाजी उनसे अधिक स्तुति करने योग्य हैं क्योंकि श्रीयमुनाजी का प्रभु से सम्बन्ध श्रीगंगाजी की तुलना में अधिक निकट है, परन्तु, यदि श्रीलक्ष्मीजी की तुलना में देखें तो श्रीगंगाजी श्रीलक्ष्मीजी से अधिक प्रभु के निकट नहीं है क्योंकि श्रीलक्ष्मीजी का तो सीधे प्रभु के वक्षस्थल पर ही निवास है। अब इससे अधिक प्रभु के निकट और कौन हो सकता है, इसलिये तनुनवत्व के लिये श्रीलक्ष्मीजी की ही स्तुति करनी चाहिए, श्रीयमुनाजी की नहीं। साथ ही साथ, जहाँ तक आचार्यचरणों ने श्रीयमुनाजी के लिये जो "आपकी समानता कौन कर सकता है?" एवं "आप प्रभु की प्रिया हैं क्योंकि आपमें भक्तों के मान आदि दोषों को दूर करने वाले गुण हैं" इत्यादि बातें कही हैं, वैसी विशेषता तो श्रीयमुनाजी के अतिरिक्त अन्य भक्तों में भी है। और, जहाँ तक श्रीयमुनाजी में भक्तों के दोषों को दूर करने वाली सामर्थ्य वाली बात कही गयी थी, तो वह तो एक साधारण गुण ही है, ऐसा कोई विशेष गुण नहीं है कि जिससे सभी को छोड़कर केवल श्रीयमुनाजी की ही स्तुति की जाय; अतः सभी को छोड़कर केवल श्रीयमुनाजी की ही स्तुति की जाय- इस बात का कोई प्रमाण नहीं है]] यदि किसी को ऐसी शंका होती हो तो, सबसे पहले तो यह बात समझनी चाहिए कि, जीवों का उद्धार करने में जितना अधिक श्रीगंगाजी का नाम सुप्रसिद्ध है, उतना श्रीलक्ष्मीजी का नहीं है। अब जहाँ श्रीयमुनाजी का माहात्म्य गंगाजी से भी अधिक सिद्ध हो चुका हो, वहाँ श्रीलक्ष्मीजी से अधिक सिद्ध होना तो अपने आप ही सिद्ध हो जाता है अतः तनुनवत्व प्राप्त करने के लिये श्रीलक्ष्मीजी की स्तुति नहीं अपितु श्रीयमुनाजी की ही स्तुति करनी चाहिए- इस आशय को कहने के लिये श्रीगोकुलनाथचरण आठवें श्लोक की व्याख्या **यत्र** (*हे श्रीयमुनाजी! जहाँ आपसे सम्बन्ध होने के कारण ही सभी के द्वारा वन्दित श्रीगंगाजी की स्तुति होती हो, वहाँ स्वयं आपकी स्तुति करने में कौन समर्थ है?*) इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं। ऊपर कहे अर्थ का ही सूचन करने के लिये आपश्री ने श्रीगंगाजी के लिये 'सर्ववन्द्य' पद कहा है, यानि सभी के द्वारा वन्दित गंगाजी से भी यदि श्रीयमुनाजी का माहात्म्य अधिक है, तो उनसे अतिरिक्त स्तुति करने को अब बचा ही कौन? यह अर्थ है।

अत: परं कार्येणाऽतिप्रियत्वसाधकोऽग्रिमग्रन्थ उक्तेऽर्थे हेतुत्वमपि भजत इत्याशयेन तमवतारयन्त्यशक्येत्यादि । अनुशब्दोक्तस्य पश्चात्त्वस्य सापेक्षत्वादवधिं बोधयितुं हरेर्यदन्वित्येवं प्रतीकं तद्व्याख्यानं चेति ज्ञेयम् । तेन न दोष: । शेषं स्फुटम् । एवं लक्ष्म्यपेक्षया गङ्गापेक्षया चाऽऽधिक्यं साधयित्वा तत्र हेतुमुत्तरार्द्धेन वदन्तीत्याशयेन तमवतारयन्ति व्याकुर्वन्ति च कालिन्द्यामित्यादि, इयमित्यादि च । सकलेत्यादि, इदमपि यमुनामाहात्म्ये "केलिसलिले"ति नाम्नि प्रसिद्धम् । केलि: सलिले यस्या इति तदर्थात् ।

इसके पश्चात् आगे के श्लोक में जब श्रीयमुनाजी के कार्यों के बारे में बताया जायेगा, तब श्रीयमुनाजी ही स्तुत्य क्यों हैं, इस बात का मूलकारण भी स्पष्ट हो जायेगा- इस आशय से श्रीगोकुलनाथचरण आगे की व्याख्या **अशक्य** (*श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी अशक्य क्यों है, इसका कारण आपश्री* ***कमलजासपत्नि*** *शब्द से कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं।

मूलश्लोकार्थ

हे कमलजा-श्रीलक्ष्मीजी की सपत्नी एवं प्रिया श्रीयमुनाजी ! आपकी स्तुति कौन कर सकता है। क्योंकि हरि के पश्चात् श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करने से मोक्षपर्यन्त ही सुख प्राप्त होता है परन्तु आपकी कथा तो इससे भी अधिक है क्योंकि समस्त गोपिकाओं का संगम होने के पश्चात् भगवान के श्रीअंग में प्रकट हुए स्मरश्रम बिन्दुओं से आपका संगम हुआ है ॥8॥

मूलश्लोक में 'अनु' शब्द है, जिसका अर्थ होता है- पश्चात् अर्थात् बाद में; परन्तु, यह शब्द सापेक्ष है क्योंकि प्रश्न होता है, किसके पश्चात् ? तो कहा गया कि "हरि के पश्चात् श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करने से"। किन्तु यहाँ अवधि भी बतानी आवश्यक है कि, श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करें तो कब तक, यानि किस अवधि तक सुख प्राप्त होता रहेगा ? तो आचार्यचरणों ने मूलश्लोक में कहा- मोक्ष प्राप्त होने तक सुख प्राप्त होगा। चूँकि श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करने से केवल मोक्ष प्राप्त होने तक ही सीमितसुख प्राप्त होगा, परन्तु श्रीयमुनाजी का संगम तो प्रभु के श्रमजल से हुआ है, इसलिये श्रीयमुनाजी की सेवा करने का माहात्म्य तो सभी से अधिक ही है, अतः हमारे कहे में दोष नहीं है। शेष व्याख्यान तो स्पष्ट ही है। इस प्रकार से श्रीयमुनाजी का माहात्म्य श्रीलक्ष्मीजी एवं श्रीगंगाजी की तुलना में अधिक है- इस बात को सिद्ध करके इसका हेतु आचार्यचरण श्लोक के दूसरे भाग में कह रहे हैं- इस आशय को कहने के लिये श्रीगोकुलनाथचरणों ने श्लोक के अग्रिमभाग का आरंभ एवं व्याख्यान **कालिन्द्याम्** (*अब श्रीलक्ष्मीजी की तुलना में कालिन्दी-श्रीयमुनाजी के उत्कर्ष को आचार्यचरण* ***तव कथा*** *इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं*) से लेकर **इयम्** इत्यादि तक के शब्दों से किया है। इसके आगे आपश्री ने **सकलगोपिकासंगमेन** से जो बात कही है, वह बात यमुनामाहात्म्य में श्रीयमुनाजी के "केलिसलिला" इस नाम द्वारा प्रसिद्ध है। इस नाम का अर्थ है- जिसके जल में भगवान ने केलि/क्रीड़ा की है, वह श्रीयमुनाजी हैं।

किञ्च । "ब्रह्मविद्यासुधावहा"इति नाम्न्यपि भगवतस्तरणलीलायां प्रवाहे गण्डूषपाताद् ब्रह्मविद्यारूपभगवन्मुखसुधां वहतीत्यपि स्फुटति । यद्यपि श्रमजलगण्डूषजलसम्बन्धो लीलासमय एव, तथापि श्रीयमुनाया: सप्तसागरान् भित्त्वा सूर्यमण्डलाद् रहट्टवत्पुन:पुनरत्राऽगमनेन इदानीमपि सोऽस्तीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । अत्रापि लीलासामयिकप्रभुश्रमजलकणसम्बन्धसम्पादकत्वरूपमष्टममैश्वर्यं स्पष्टमेव ।।८।।

और, श्रीयमुनाजी के "ब्रह्मविद्यासुधावहा" इस नामानुसार भी भगवान ने जब श्रीयमुनाजी में तरणलीला(तैराकी)की, तब भगवान ने श्रीयमुनाजी में गण्डूष (मुख में जल लेना) भी किया था अतः ब्रह्मविद्यारूप भगवान की मुखसुधा भी तब श्रीयमुनाजी में मिली, अतः श्रीयमुनाजी भगवान की मुखसुधा को लेकर प्रवाहित हो रहीं हैं- यह बात भी स्पष्ट होती है। यद्यपि भगवान के श्रमजल से एवं मुखजल से श्रीयमुनाजी का सम्बन्ध तो तब हुआ था, जब भगवान ने गोपिकाओं के संग लीला की थी, अतः किसी को शंका हो सकती है कि, आज के समय में श्रीयमुनाजी में वो वाला भगवत्सम्बन्धित जल नहीं है जो तब था; ऐसी शंका होती हो तथापि यहाँ यह समझना आवश्यक होगा कि श्रीयमुनाजी तो एक 'रहट्ट' की भाँति (खेतों में सिंचाई करने के लिये कुए के ऊपर एक गोलाकार चक्का लगा दिया जाता है जिसमें कई घड़े लगे होते हैं। इस चक्के को रस्सियों से बैल खींचते रहते हैं और उसमें लगा हुआ प्रत्येक घड़ा गोल चक्कर लगाता हुआ कुए में से जल भरकर खेत की क्यारियों में लगातार छोड़ता चला जाता है। इस गोलाकार चक्के को घटीयन्त्र या

रहट्ट या अरघट्ट कहा जाता है) सप्तसागरों का भेदन करती हुई सूर्यमण्डल में जाती हैं एवं वहाँ से उसी भगवत्सम्बन्धित जल को अपने में समेटे हुए पुनः पुनः उनका यहाँ भूतल पर आगमन होता है अतः श्रीयमुनाजी में भगवान के श्रीअंग से सम्बन्धित जल आज भी विद्यमान है, इसलिये हमारे कहे में कुछ भी अप्रामाणिकता नहीं है। इस श्लोक में भी प्रभु की लीला के समय उत्पन्न हुए श्रमजलकणों से जीव का सम्बन्ध कराने वाला श्रीयमुनाजी का आठवां ऐश्वर्य स्पष्ट ज्ञात हो जाता है ॥8॥

नवमश्लोकतद्विवरणं चोत्तानार्थम् । तत्राऽपि मुदा सदेति पदाभ्यां स्वस्याप्तत्वोक्त्या चाऽऽनन्दस्य प्रत्यहमविच्छेदस्य स्वस्मिन्विश्वासस्य च पाठाङ्गत्वं श्रीमदाचार्यैर्दर्शितमिति बोध्यम् ।।९।।

श्रीयमुनाष्टकविवृतिः प्रभुचरणकृपाबलेन विवृतेयम् ।
यदि ह्रस्वमतिजदोषादसदुक्तं तत् क्षमन्तां मे ।।१।।

इति श्रीमत्प्रभुचरणकृपाभिलाषुकतद्दासपुरुषोत्तमविरचिता श्रीयमुनाष्टकविवृतेर्विवृतिः समाप्ता ।

वैसे नौवां श्लोक एवं उसका विवरण तो श्रीयमुनाजी के उत्कर्ष को बताने के लिये हीं है। इसमें भी आचार्यचरणों ने '**तवाष्टकमिदं मुदा पठति**' एवं '**सदा**' इन दो पदों के द्वारा और अपने नाम का उल्लेख करने के द्वारा यह दर्शाया है कि, इस स्तोत्र का प्रतिदिन निरन्तर प्रसन्नतापूर्वक पाठ करना एवं आचार्यचरणों में विश्वास बनाये रखना, यह दोनों बातें इस स्तोत्र का पाठ करने के मुख्य अंग हैं अर्थात् तभी यह स्तोत्र फलीभूत होगा- यह जान लेना चाहिए ॥9॥

मैंने इस यमुनाष्टकम् की विवृति प्रभुचरणों के कृपाबल से की है।
मेरी अल्पमति के दोष के कारण यदि कुछ अनुचित कह दिया हो, तो आपश्री मुझे क्षमा करें ॥1॥

यह श्रीप्रभुचरणों की कृपा की अभिलाषा रखने वाले उनके दासानुदास 'पुरुषोत्तम' द्वारा विरचित श्रीयमुनाष्टकविवृति की विवृति समाप्त हुई।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीत्रिभङ्गीरायो जयति ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतं

श्रीयमुनाष्टकम् ।

* * *

मूलम् – नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा

गो. श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान्करुणारसपूरितान् ।
श्रीविट्ठलेशाँश्च विभून्निजेभ्यो बुद्धिदायकान् ।।१।।
श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां भक्तिसिद्धये ।
अकार्षुः षोडशग्रन्थान्स्वसिद्धान्तार्थबोधकान् ।।२।।
तद्व्याख्यानं कृतं पूर्वैः प्रभुभिश्च पृथक्क्वचित् ।
यमुनाष्टकमारभ्य सेवाफलमुदाहृताः ।।३।।
स्वगुरुन्मथुरानाथान् गङ्गां च स्वीयमातरम् ।
हेतुः षोडशग्रन्थानां टीकानां च मयोच्यते ।।४।।

गोस्वामिश्रीद्वारिकेशचरणविरचित टिप्पणी।

करुणारस से पूर्ण, निजजनों को बुद्धि देने वाले विभु श्रीवल्लभाचार्यचरण
एवं श्रीविट्ठलेशचरणों को नमन करके, ॥१॥
श्रीमदाचार्यचरणों ने जो स्वीयजनों में भक्तिसिद्ध कराने हेतु
अपने सिद्धान्तों के अर्थ का बोध कराने वाले षोडशग्रन्थ रचे हैं, ॥२॥
और जिनका व्याख्यान 'यमुनाष्टकम्' से लेकर 'सेवाफलम्' तक
पूर्वाचार्यों ने एवं किन्हीं किन्हीं पर प्रभुचरणों ने किया है, ॥३॥
तो अपने गुरु श्रीमथुरानाथजी एवं माता गंगा को भी नमन करके,
षोडशग्रन्थ एवं उनकी टीकाओं का हेतु मैं यहाँ कह रहा हूँ ॥४॥

तत्र गोस्वामिप्रभूणां कृतीनां गणना –

यमुनाष्टकसिद्धान्तमुक्तावल्योस्तथा पुनः ।
नवरत्ने प्रकाशश्च त्रयं स्वैः प्रभुभिः कृतम् ।।१।।
तट्टिप्पणं तु बहुभिर्वंशीयैर्बालकैः कृतम् ।
तत्कृपाबलमाश्रित्य तद्ग्रन्थान्विवृणोम्यहम् ।।२।।

अब गोस्वामिश्रीप्रभुचरण-श्रीगुसांईजी की कृतियों की गणना करते हैं------

यमुनाष्टकम्, सिद्धान्तमुक्तावली एवं नवरत्नप्रकाश
ये तीन टीकाएँ अपने प्रभुचरणों ने की हैं, ॥१॥
जिन पर कई वल्लभवंशज बालकों ने टिप्पणी भी की है, ।
उनके कृपाबल का आश्रय लेकर उन ग्रन्थों का विवरण मैं कर रहा हूँ ॥२॥

तत्र ग्रन्थक्रमः पूर्वमुच्यते –

यमुनाष्टकमादौ तु श्रीकृष्णास्यं हि निर्ममे ।
मुकुन्दरतिसिद्ध्यर्थं दुरितक्षयपूर्वतः ।।३।।
स्वभावविजयार्थं च मुरस्यारेश्च तुष्टये ।
(जीवैस्तु नमनाधिक्यं नैव कर्त्तुं हि शक्यते ।
नमनादतिरिक्तं तु कर्त्तुं जीवैर्न शक्यते ।।४।।
कृष्णस्य निरपेक्षत्वादिति स्वान्ते विचार्य हि ।
अधिकारस्य सिद्ध्यर्थं यमुनाष्टकमुज्जगौ ।।५।।

अब सबसे पहले षोडशग्रन्थों का क्रम कह रहा हूँ---------

श्रीकृष्ण के मुखारविन्दस्वरूप-श्रीआचार्यचरणों ने सबसे पहले 'यमुनाष्टकम्' की रचना की,।
ताकि समस्त पाप दूर होकर मुकुन्द में रति सिद्ध हो जाये ॥३॥
और ताकि स्वभाव पर विजय पायी जा सके एवं मुरदैत्य के शत्रु श्रीकृष्ण भी प्रसन्न हो जाएँ,
नमन करने के अतिरिक्त तो जीव के लिये अन्य कुछ भी करना शक्य नहीं है,॥४॥
एवं 'कृष्ण तो निरपेक्ष हैं' यह अपने मन में विचार कर,
जीव में भगवत्प्राप्ति का अधिकार सिद्ध करने के लिये आचार्यचरणों ने यमुनाष्टकम् गाया ॥५॥

अग्रेऽधिकारसिद्धेस्तु कर्तव्यज्ञापनाय वै ।
सुपुरुषार्थसङ्क्षेपं बालबोधे न्यरूपयत् ।।६।।
पुरुषार्थपरिज्ञाने साध्यसाधनभावतः ।
सिद्धान्तमुक्तावल्यां तु सेवारूपं न्यदर्शयत् ।।७।।

और जब अधिकार सिद्ध हो जाय तो आगे जीव का कर्तव्य बताने के लिये,।
'बालबोधग्रन्थ' में समस्त पुरुषार्थों का संक्षेप में निरूपण किया ॥६॥
जब पुरुषार्थ सिद्ध करने के साध्य और साधन का ठीक प्रकार से ज्ञान हो गया, तब
आपश्री ने 'सिद्धान्तमुक्तावलीग्रन्थ' में भगवत्सेवा का स्वरूप दिखाया ॥७॥

तत्र –

सेवा च द्विविधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तर भेदतः ।
तन्निर्वाहाय सिद्धान्तरहस्यं प्रभुरुक्तवान् ।।८।।
तत्र बाह्यपदार्थानां शुद्धिरुक्ता समर्पणे ।
आन्तराणां तु शुद्ध्यर्थं नवरत्नं तथा पुनः ।।९।।
अन्तःकरणसम्बोधं प्रकटीकृतवान्स्वयम् ।
बाह्याभ्यन्तरयोः शुद्धिमेवमुत्पाद्य [illegible]प्रभुः ।।१०।।
तन्निर्वाहार्थं विवेकधैर्याश्रयमरीरचत् ।

सिद्धान्तमुक्तावलीग्रन्थ में ----

भगवत्सेवा बाह्य-आभ्यान्तर भेद से दो प्रकार की बतायी गयी है।
उन दोनों प्रकार की सेवा का निर्वाह करने के लिये श्रीमहाप्रभुजी ने 'सिद्धान्तरहस्यग्रन्थ' कहा ॥८॥
इस ग्रन्थ में आपश्री ने समर्पण करने के माध्यम से बाह्यपदार्थों की शुद्धि होनी कही है।
आन्तरिकशुद्धि के लिये आपश्री ने 'नवरत्नग्रन्थ' लिखा ॥९॥
इसके पश्चात् आपश्री ने स्वयं अपने अन्तःकरण को संबोधित करते हुए 'अन्तःकरणप्रबोधग्रन्थ' प्रकट किया।
यों बाह्याभ्यन्तर शुद्धियाँ बताकर मेरे श्रीमहाप्रभुजी ने, ॥१०॥
शुद्धियाँ बनी रहें तदर्थ 'विवेकधैर्याश्रयग्रन्थ' की रचना की।

तत्राश्रयश्चित्तदोषान्न स्थिरो भवतीति हि ।।११।।
विचार्य कृष्णाश्रयाख्यं ग्रन्थं सूक्ष्मं न्यरूपयत् ।

आश्रये तु स्थिरे सिद्धे स्वकीयार्थप्रसिद्धये ।।१२।।
चतु:श्लोकीं चकाराग्निरुद्दिश्य स्वमनः प्रति ।

अब चूँकि चित्तदोष के कारण भगवदाश्रय स्थिर नहीं रह पाता अतः,॥११॥
ऐसा विचार करके आपश्री ने 'कृष्णाश्रय' नामक सूक्ष्मग्रन्थ का निरूपण किया।
इसके पश्चात् जब भगवदाश्रय सिद्ध हो जाये, तब अपने स्वीयजनों को पुरुषार्थों की सिद्धि कराने के लिये, ॥१२॥
अग्निस्वरूप आचार्यचरणों ने अपने मन को उद्दिश्य करके 'चतुश्लोकीग्रन्थ' की रचना की।

ततो मार्गत्रयस्यापि बोधनार्थं कृपानिधिः ।।१३।।
पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थं गूढमचीकरत् ।
एवं भक्तिप्रकरणं महाकारुणिकस्ततः ।।१४।।
दृढीकृत्य प्रवृद्ध्यर्थमकरोद्भक्तिवर्द्धिनीम् ।

इसके पश्चात् कृपानिधि-श्रीमहाप्रभुजी ने तीनों मार्गों का बोध कराने के लिये, ॥१३॥
गूढ 'पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थ' की रचना की।
इस प्रकार से भक्तिप्रकरण को दृढ करने के पश्चात्
महाकारुणिक-श्रीमहाप्रभुजी ने भक्ति को प्रवृद्ध करने हेतु 'भक्तिवर्धिनीग्रन्थ' की रचना की ॥१४॥

एवं भक्तिं वर्धयित्वा जलभेदमिषेण तु ।।१५।।
भक्तानां लक्षणं प्राह सर्ववादिनिरासकृत् ।
पद्यानि च तदर्थं हि प्रोवाच निखिलेष्टदः ।।१६।।
उक्तश्च भक्तिवर्द्धिन्यां त्यागो भक्तिविवर्द्धनः ।
अतस्तस्य विवेकार्थं संन्यासे निर्णयं जगौ ।।१७।।

इस प्रकार भक्ति का वर्धन करके जल के भेद बताने के बहाने से, ॥१५॥
सर्ववादनिरासकर्ता-श्रीमहाप्रभुजी ने 'जलभेद' नामक ग्रन्थ में भक्तों के लक्षण कहे,।
और उसी के लिये निखिलेष्टद-श्रीमहाप्रभुजी ने 'पञ्चपद्यानिग्रन्थ' भी कहा ॥१६॥
भक्ति का विशेषरूप से वर्धन करने वाले श्रीमहाप्रभुजी ने 'भक्तिवर्धिनी' में त्याग के विषय में भी कहा है।
अतः उस त्याग का स्वरूप क्या है, यह बताने के लिये आपश्री ने 'संन्यासनिर्णयग्रन्थ' की रचना की ॥१७॥

भावसिद्धौ भावनैव साधनं त्वपरं न हि ।
निरोधलक्षणे भावं व्रजस्थानामतश्चकौ ।।१८।।
इत्थं पञ्चदशग्रन्थैर्भावं संसाध्य कारणम् ।
उद्वेगप्रतिबन्धानां साधनैर्वारणैः सह ।।१९।।
फलं स कथयाँश्चक्रे सेवाफलनिरूपणम् ।
तस्याप्यतिदुरूहत्वाद्विवृतिं चाकरोद्विभुः ।।२०।।

भगवान में भाव सिद्ध करने के लिये तो भावना ही साधन है, अन्य साधन कदापि नहीं,।
अतः 'निरोधलक्षणग्रन्थ' में आपश्री ने व्रजवासियों का भाव बताया है ॥१८॥
इस प्रकार से पंद्रह ग्रन्थों में भाव को भगवत्प्राप्ति में मूलकारण सिद्ध करके,
उद्वेगप्रतिबन्ध उत्पन्न होने में क्या साधन होते हैं एवं उन साधनों का निवारण कैसे होगा ? ॥१९॥
साथ ही साथ फल भी कैसे प्राप्त होगा ? यह बताने के लिये आपश्री ने 'सेवाफलग्रन्थ' का निरूपण किया।
चूँकि सेवाफलग्रन्थ को समझना भी दुरूह है अतः श्रीमहाप्रभुजी ने इसकी विवृति भी लिखी ॥२०॥

एवं षोडशभिर्ग्रन्थैः पुरुषोत्तमसेवनम् ।
प्रतिपाद्य फलत्वेन चक्रे जीवोद्धृतिं विभुः ।।२१।।
अवतारदशायां तु उद्धृती रूपदर्शनात् ।

इह नामात्मकैर्ग्रन्थैः स्वदासानां सदोद्धृतिः ।।२२।।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन दैवैः कर्तव्यमेव हि ।
सेवनं श्रीव्रजेशस्य तद्ग्रन्थानां च पाठनम् ।।२३।।

इस प्रकार षोडशग्रन्थों के द्वारा पुरुषोत्तम की सेवा का प्रतिपादन करके,।
उस सेवा को जीव का उद्धार होने में फलरूप बता कर आपश्री ने जीवों का उद्धार किया ॥२१॥
आचार्यचरणों ने अपनी अवतारदशा में तो स्वयं अपने रूप द्वारा उद्धार किया,।
और आपश्री की अनवतारदशा में इन नामात्मक षोडशग्रन्थों द्वारा निजजनों का उद्धार होता है ॥२२॥
इसलिये सभी प्रयत्न करके दैवीजीवों का कर्तव्य यही है कि,।
श्रीव्रजेश की सेवा करें एवं श्रीमहाप्रभुजी के ग्रन्थों का पाठ करें ॥ २३ ॥

इति सिद्धं तथापीह लोके जीवा बहिर्मुखाः ।
कृता भगवदाज्ञप्तै रुद्रांशैर्ब्राह्मणैस्ततः ।।२४।।
तेषां साम्मुख्यसिद्ध्यर्थमर्थज्ञानमपेक्षितम् ।
तदर्थं ग्रन्थटीकास्तु प्रभुप्रभृतिभिः कृताः ।।२५।।
तासां मतं समालोक्य सर्वकर्तृकृपाबलात् ।
मयापि क्रियते ह्येषा सुगमान्वयबोधिनी ।।२६।।

यद्यपि जीवों का उद्धार होना तो सिद्ध ही है तथापि इस लोक में,।
भगवान से आज्ञा प्राप्त किये हुए रुद्र-शंकर के अंशरूपी ब्राह्मणों ने जीवों को सेवामार्ग से बहिर्मुख बना दिया है ॥२४॥
अतः वे जीव भगवत्सन्मुख हो पायें इसलिये इन ग्रन्थों के अर्थ का ज्ञान होना भी आवश्यक है ।
इसी कारण प्रभुचरण इत्यादि महानुभावों ने इन ग्रन्थों की टीकाएँ भी लिखी हैं ॥२५॥
उन सभी टीकाओं के मत का व्यवस्थित अवलोकन करके उन सभी टीकाकारों के कृपाबल से,।
मैं भी इस 'यमुनाष्टकग्रन्थ' का सुगमता से बोध कराने वाली टीका लिख रहा हूँ ॥२६॥

श्रीमदाचार्यचरणान्नमस्कृत्य पुनःपुनः ।
गोपीनाथाँश्च सुखदान् सप्तसूनुयुतान्प्रभून् ।।२७।।
श्रीदामोदरसञ्ज्ञं तत्पुत्रं विट्ठलरायकम् ।
श्रीवल्लभं गिरिधरं तत्सूनुं विट्ठलेश्वरम् ।।२८।।
द्वारिकेशं गिरिधरं मथुरानाथसञ्ज्ञकम् ।
हरिरायनरश्रेष्ठौ स्मृत्वा तट्टिप्पणीकृतौ ।।२९।।
यमुनाष्टकटीकायाष्टिप्पणं विलिखाम्यहम् ।
तत्र बुद्धिं प्रयच्छन्तु श्रीमदाचार्यवंशजाः ।।३०।।

श्रीमदाचार्यचरणों को पुनः पुनः नमन करके,।
श्रीगोपीनाथजी, सुखदाता श्रीप्रभुचरणों को उनके सप्तात्मजों सहित नमन करके, ॥२७॥
'श्रीदामोदरजी' नामक एवं उनके पुत्र 'श्रीविट्ठलरायजी' को।
एवं 'श्रीवल्लभ', 'श्रीगिरिधर' एवं उनके पुत्र श्रीविट्ठलेश्वर को, ॥२८॥
'श्रीद्वारिकेश', 'श्रीगिरिधर', श्रीमथुरानाथजी को एवं,।
यमुनाष्टकम् पर टिप्पणी करने वाले श्रीहरिरायजी एवं पुरुषोत्तमजी का स्मरण करके ॥२९॥
श्रीयमुनाष्टकटीका की टिप्पणी मैं लिख रहा हूँ।
मेरे इस लेखन में ऊपर कहे सभी श्रीमदाचार्यवंशज मुझे बुद्धि प्रदान करें ॥३०॥

अथ श्रीमदाचार्यनन्दनाः श्रीयमुनाष्टकं व्याचिख्यासवः श्रीमदाचार्यश्रीयमुनाश्रीगोर्द्धनधराणां स्वरूपैक्यस्य बोधं कुर्वन्तस्तत्कृपां प्रार्थयन्ति विश्वेति । विशन्ति लयसमये भगवतीति विश्वे, दैवजीवास्तेषामुद्धारो ब्रह्मसम्बन्धकारणात्, संसारान्विमुच्य स्वस्वरूपानन्ददानम् (इति) । तदर्थमेव एवकारोत्रान्ययोगव्यवच्छेदकः । वृन्दावनं प्रियं येषां ते च ते आविर्भूताश्च तथोक्ताः ।

यद्वा । लीलार्थमाविर्भूतं यद्वृन्दावनं तत्प्रियं येषां ते पितृचरणा मयि विट्ठले ज्ञानशून्यानुग्राहके सदा कृपां कुर्वन्तु । एतेन निजाचार्यस्वरूपनिरूपणस्वस्वरूपनिरूपणश्रीयमुनास्वरूपनिरूपणश्रीगोवर्द्धनधरस्वरूपनिरूपणपूर्वकं कृपाबलं सम्प्रार्थ्य प्रथमश्लोकमवतारयन्ति विविधेति ।

अब श्रीयमुनाष्टकम् की व्याख्या करने की इच्छा करने वाले श्रीमदाचार्यनन्दन-श्रीगुसांईजी अपनी व्याख्या में श्रीमदाचार्यचरण, श्रीयमुनाजी एवं श्रीगोवर्धनधर इन तीनों का स्वरूप एक ही है- यह बताते हुए इनकी कृपा प्राप्त करने हेतु **विश्व** इत्यादि शब्दों से प्रार्थना कर रहे हैं। जो प्रलय के समय भगवान में प्रविष्ट हो जाते हैं, उन्हें 'विश्व' कहा जाता है अर्थात् 'विश्व' का अर्थ हुआ- 'दैवीजीव'। इन दैवीजीवों का उद्धार ब्रह्मसम्बन्ध के द्वारा होता है, जिस उद्धार का तात्पर्य है- इनका संसार छुड़वा कर इन्हें स्वरूपानन्द का दान देना। श्रीमदाचार्यचरण केवल इसी कारण आविर्भूत हुए हैं अतः प्रभुचरणों ने 'विश्वोद्धारार्थमेव(विश्वोद्धारार्थम्+एव)' यों कह कर 'एव' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य है कि, अन्य किसी भी प्रयोजन के लिये नहीं अपितु केवल दैवीजीवों के उद्धार के लिये ही आचार्यचरण आविर्भूत हुए हैं। 'वृन्दावनप्रियाः' का अर्थ है- वृन्दावन जिनको प्रिय है, ऐसे आविर्भूत हुए आचार्यचरण। अथवा प्रभुचरण यों कहना चाह रहे हैं कि- भगवान की लीला प्रकट करने के लिये जो वृन्दावन आविर्भूत हुआ, वह वृन्दावन प्रिय जिनको है ऐसे मेरे पितृचरण, ज्ञानशून्य पर अनुग्रह करने वाले मुझ विट्ठल पर सदा कृपा करें। इस मंगलाचरण के द्वारा निजाचार्यस्वरूप, स्वयं अपना स्वरूप, श्रीयमुनाजी का स्वरूप एवं श्रीगोवर्धनधर के स्वरूप का निरूपण करके उन सभी का कृपाबल प्राप्त होने की प्रार्थना करके श्रीप्रभुचरण प्रथमश्लोक का आरंभ **विविध** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

(यमु उपरमे । यमयति जीवान्भगवत्समीपे रमयति) अनेका या लीलास्तासां उपयोगिनीं समीपसम्बन्धसम्पादनकर्त्रीम् । अत एव कालिन्दीम्, कलेर्दोषस्य खण्डनकर्त्रीम्, श्रीयमुनां स्तोतुकामा इति स्तुतेरपि प्रह्वत्वे शब्दे च प्रह्वत्वं कायिकी नतिः जयजयशब्दोच्चारपूर्विका । इच्छाविषयत्वं तत्कृपाधीनत्वात् श्रीभिर्युक्तस्य गोकुलस्य स्वामिनि जीवैस्तदंशत्वात्तदधीनैः गमनाभावान्नमनाधिकार इतिन्यायेन नमनमेवादौ, अग्रे तु नमनेन दैन्याविष्कृतौ प्रभुकृपया विशेषाधिकारे सम्पन्ने स्तुतिप्रार्थने अपि कर्तुं शक्ये भविष्यतः । एवकारेणाग्रे करणीयायाः 'मम मनः सुखं भावये'ति 'तनुनवत्वमस्त्वि'त्यादिरूपप्रार्थनाया अस्फूर्तिः सूचिता ।

'यमुना' का अर्थ समझें। 'यमु' धातु उपरम अर्थ में है, जिसका अर्थ होता है- 'समीप ले जाकर रमण कराना', यानि कि समीप ले जाकर जो रमण कराये, उसे 'यमुना' कहते हैं। तात्पर्य यह कि, श्रीयमुनाजी जीवों को भगवान के समीप ले जाकर उन्हें भगवान के संग रमण कराती हैं। भावार्थ यह है कि, भगवान की जो अनेक लीलाएँ हैं, उनमें श्रीयमुनाजी उपयोगिनी हैं अर्थात् जीवों को भगवान का समीप से सम्बन्ध करवाने वाली हैं। इसी कारण वे 'कालिन्दी' हैं यानि कि जीवों के दोषों को मिटाने वाली हैं- ऐसी श्रीयमुनाजी की स्तुति करने की इच्छा करने वाले श्रीमदाचार्यचरणों के लिये प्रभुचरणों ने 'स्तोतुकामा' शब्द लिखा है। स्तुति का अर्थ भी 'प्रह्वत्व (काया से नमन करना)' एवं 'शब्द (वाणी से नमन करना)' दोनों होता है। जिनका अर्थ है- आचार्यचरण वाणी से तो नमन कर ही रहे हैं परन्तु साथ ही साथ कायिकी नमन भी कर रहे हैं, जिसका अर्थ है- आपश्री 'नमामि' पद से जयजयकार करते हुए साष्टांग नमन भी कर रहे हैं- ऐसा श्रीप्रभुचरणों का आशय है। नमन भी इसलिये क्योंकि श्रीमदाचार्यचरणों के मन में जो इच्छा है, वह पूर्ण होनी तो श्रीयमुनाजी की कृपा के अधीन है। **श्रीगोकुलेशे** का अर्थ है- श्री से युक्त गोकुल के स्वामी, ऐसे श्रीगोकुलेश के जीव अंश हैं अतः उनके अधीन होने के कारण जीवों की गति उन तक हो नहीं सकती, सो उन्हें केवल नमन करने का ही अधिकार प्राप्त है इसलिये आरंभ में आपश्री ने श्रीगोकुलेश को नमन करना ही बताया। किन्तु आगे जब जीव में दीनता आ जायेगी और प्रभुकृपा से उसे विशेषाधिकार मिलेगा, तब तो स्तुति और प्रार्थना करनी भी संभव बन सकेगी- यह अर्थ है। चूँकि प्रभुचरणों ने अभी यहाँ 'आचार्यचरणों ने पहले नमन ही किया' यों कहा है, इससे पता चलता है कि आगे श्रीमदाचार्यचरणों ने जो श्रीयमुनाजी से 'मेरे मन को सुख मिले ऐसा करें' एवं 'मुझे तनु

की नूतनता प्राप्त हो' इत्यादि वाक्यों से जो प्रार्थना की है, उन प्रार्थनाओं की स्फूर्ति आपश्री को आरंभ में नहीं थी, किन्तु अष्टक की रचना करते करते आगे जाकर स्फुरित हुई है।

श्लोकसंख्याकारणमाहुः भगवतेति । 'रसो वै स' इति श्रुत्या स्वयं रसात्मा रमणार्थमाविर्भूतः । स्वस्य रसात्मत्वसिद्धयै सर्वात्मभाववद्भक्ताधीनो जातः । तथा सन् सर्वलीलोपयुक्तस्वामिन्यां श्रीयमुनायां स्वस्याष्टविधं पुष्टिमार्गीयमैश्वर्य्यं स्थापितवान् । तत्स्वरूपं श्रीहरिराया आहुः, सकलसिद्धिहेतुत्वम् १, भगवद्भाववर्द्धकत्वम् २, भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धकनिराकरणेन तदनुभवयोग्यताहेतुशुद्धिसम्पादकरूपं भुवनपावनीत्वम् ३, भगवत्समानधर्मवत्त्वेप्यनायासेन तत्सम्बन्धसम्पादकत्वम् ४, भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वम् ५, भगवदीयोत्कर्षाधायकत्वम् ६, भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वम् ७, तनुनवत्वसम्पादकत्वम् ८,

अब इस अष्टक की श्लोकसंख्या का तात्पर्य **भगवता** (*भगवान ने अष्टविध ऐश्वर्य कालिन्दी को दिये हैं- यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने इस स्तोत्र में आठ श्लोकों द्वारा श्रीयमुनाजी की स्तुति की है*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस पंक्ति का तात्पर्य यह है कि, 'निश्चितरूप से भगवान ही रस हैं(तैत्ति०उ- २/७/२)' इस श्रुति के अनुसार भगवान स्वयं रसस्वरूप होने के कारण रमण करने के लिये आविर्भूत हुए हैं। और अपने आप को रसस्वरूप सिद्ध करने के लिये भगवान रास के समय सर्वात्मभाववाले भक्तों के अधीन हो गये। अधीन होकर उन्होंने अपनी समस्त लीलाओं में उपयोगी श्रीयमुनाजी में अपने अष्टविध पुष्टिमार्गीय ऐश्वर्य स्थापित कर दिये। श्रीयमुनाजी के उसी अष्टविध-ऐश्वर्य वाले स्वरूप को श्रीहरिरायचरणों ने क्रमशः (१) वे सकलसिद्धि प्राप्त करने की हेतुरूपा हैं (२) वे भगवद्भाव को बढ़ाने वाली हैं (३) भगवत्सम्बन्ध में होने वाले प्रतिबन्धों का निराकरण करके भगवत्सम्बन्ध का अनुभव करने की योग्यता प्राप्त करने में हेतुरूप शुद्धि का सम्पादन करने वाली भुवन(दैवीजीवों)को पावन करने वाली हैं (४) उनमें भगवान के समान धर्म है अतः वे जीव को बिना प्रयास के भगवत्सम्बन्ध कराने वाली हैं (५) भगवान के प्रियजनों के दोषों का निवारण करने वाली हैं (६) भगवदीयों के उत्कर्ष को बढ़ाने वाली हैं (७) जीव को भगवान का प्रिय बनाने वाली हैं (८) तनु की नूतनता का सम्पादन करने वाली हैं। यहाँ यह निर्देश करना आवश्यक होगा कि, इन टीकाओं में श्रीयमुनाजी में विद्यमान ऐश्वर्यों की संख्या भी 8 हैं और सकलसिद्धियाँ भी 8 हैं, जो कि श्रीहरिरायचरणों ने अपनी टीका में गिनायी भी हैं। इसलिये भ्रमित होकर ऐश्वर्य और सकलसिद्धियाँ दोनों को एक ही नहीं समझ लेना चाहिए। अपितु यह ध्यान रखना चाहिए कि 8 सकलसिद्धियाँ मिल कर श्रीयमुनाजी पहला ऐश्वर्य बनेगा। इसके बाद दूसरा ऐश्वर्य और फिर क्रमशः तीसरा और चौथा।

सकलः कलासहितः पुरुषोत्तमः तस्य सिद्धिः वश्यत्वेनात्राप्तिः । इदं च लीलासृष्टिस्थेष्वेव ज्ञेयमिति सकलेति । विवृण्वन्ति साक्षादिति । आवरणानच्छन्नावलोकम्, तद्रसानुभवसर्वात्मभावादयः सकलसिद्धयो ज्ञेयाः । अत एव नमनं, आवरणानवच्छन्नभगवत्सेवनयोग्यदेहप्राप्तिरूपा १, तादृशस्य लीलादर्शनरूपा २, तस्यैव रसस्य स्वेन्द्रियविषयीभूतकरणरूपा ३, सर्वत्रभगवद्भावरूपा ४, आदिपदेन भगवदाविष्टदेहाप्तिः ५, परावृत्तचक्षुषान्तराविर्भूतलीलावलोकनसिद्धिः ६, भावात्मकस्वरूपेण तदात्मकतद्रसानुभवः ७, विरहसामयिकसर्वात्मभावसिद्धिः ८, इति श्रीहरिरायाः । अत इति, यतोष्टविधैश्वर्यवत्सकलसिद्धिहेतुभूतश्रीयमुनायाः प्राकट्यमलभ्यलाभः । अतो नमनं मुदा हर्षेण ।

'सकल' का अर्थ है- समस्त कलाओं सहित; यानि कि पुरुषोत्तम ; ऐसे सकलपुरुषोत्तम को अपने वश में कर लेना ही 'सकलसिद्धि' प्राप्त करने का अर्थ है। ये सकलसिद्धियाँ लीलासृष्टि के जीवों को ही प्राप्त होती है- यह समझना चाहिए। इन्हीं सकलसिद्धियों का प्रभुचरणों **ने साक्षात्** इत्यादि शब्दों से विवरण किया है और कहा है कि, आवरणरहित भगवान का अवलोकन, ऐसे भगवद्रस का अनुभव करना, सर्वात्मभाव प्राप्त होना आदि सकलसिद्धियाँ समझनी चाहिएँ। प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि- ऐसी सिद्धियाँ श्रीयमुनाजी की कृपा से प्राप्त होती हैं, इसी कारण आचार्यचरणों को श्रीयमुनाजी को नमन करने में आनन्द आ रहा है। इन अष्टसिद्धियों के विषय में श्रीहरिरायजी ने यों बताया है- (१) आवरणरहित भगवत्सेवा के योग्य देह प्राप्त होनी (२) ऐसे आवरणरहित भगवान की लीला के दर्शन होने (३) ऐसे लीलास्वरूप भगवान को अपनी इन्द्रियों का विषय बनाना (४) सर्वत्र भगवद्भाव रख पाना (५) 'आदि' पद के द्वारा भगवान आविष्ट हुए हों ऐसी देह की प्राप्त करनी (६) अपने चक्षुओं को भीतर की ओर परावृत्त करके अन्तःकरण में चलती भगवल्लीला का अवलोकन कर पाने की सिद्धि

(७) अपने(जीव के) भावात्मकस्वरूप द्वारा भावात्मक भगवान का अनुभव करना (८) भगवद्विरह के समय सर्वात्मभाव की सिद्धि पा लेनी, इत्यादि हैं। **अत एव नमनं मुदा** इत्यादि वाक्यों का अर्थ है- चूँकि अष्टविध ऐश्वर्यशालिनी श्रीयमुनाजी सकलसिद्धियाँ प्राप्त करने में कारणभूता हैं इसलिये श्रीयमुनाजी का प्राकट्य होना एक अलभ्य लाभ है ; अतः आचार्यचरण को उनको नमन करने में आनन्द भी आ रहा है।

मुरारिपदपङ्कजेति विवृण्वन्ति जलेति । जले दोषो मुर एव । मुरदैत्यसम्बन्धादेव षोडशसहस्रनायिकानां भगवत्प्राप्तौ प्रतिबन्धकम् । मुरनाशे तु भगवत्प्राप्तिरनायासेन । तत्सम्बन्धादेव जलं भगवत्प्राप्तौ प्रतिबन्धकं भवति । अत्र तु तन्नाशकस्य भगवतः पदपङ्कजसम्बन्धिनः सेवायोग्यदेहकरणतत्पराः श्रीरेणवोऽधिकाः सन्ति । तेन मूलेऽपि लीलोपयोगिनीत्वं सूचितम् । जलाधिक्ये तु क्रीडायां निमज्जनभयं मकरादिभयमपि भवेत् । अत एव दशमस्कन्धीयपञ्चदशाध्याये अगाधतोयह्रदिनीत्युक्तिः । तटस्थेति मूले तीरस्थानां नवानां वनानां प्रकटो यो मोदः गन्धः पुष्पाणि च तत्सहितेन जलेन । स्मारकत्वं जलस्य भ्रमरगीते 'सरिच्छैलवनोद्देशो गावो वेणुरवा इमे । पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत' । मोदः सत्त्वरूपः, पुष्पाणि रजोरूपाणि, काननानि तमोरूपाणि । तमोरूपमासुरभावः । रजःसत्त्वरूपं सुरभीति वृक्षाः पुष्पाणि हरिसमीपे अन्यद्वारा गच्छन्ति, मोदः स्वतः ।

अब प्रभुचरण **'मुरारिपदपंकज'** शब्द की व्याख्या **जल** इत्यादि शब्दों के द्वारा कर रहे हैं। जल में दोषरूप तो 'मुर' नामक दैत्य ही है। मुरदैत्य के कारण ही जल सोलह हजार नायिकाओं को भगवत्प्राप्ति होने में प्रतिबन्धक बना। और भगवान ने जब मुरदैत्य का वध कर दिया, तो उन्हें अनायास ही भगवत्प्राप्ति हो गयी। मुरदैत्य के कारण ही जल भगवत्प्राप्ति में प्रतिबन्धक बना था। दूसरी ओर, श्रीयमुनाजल में उस दैत्य के नाशक भगवान के पदपंकजसंबंधी और देह को भगवत्सेवायोग्य बनाने वाली श्रीचरणों की रेणु तो जल की अपेक्षा अधिक है। इसी कारण प्रभुचरणों की मूलटीका में आपश्री ने श्रीयमुनाजी को भगवल्लीला में उपयोगिनी बताया है। क्योंकि यदि क्रीड़ा में जल की अधिकता तो हो डूबने का एवं मगरमच्छ इत्यादि का भय बना रहता है और क्रीड़ा आनन्द से सम्पन्न नहीं हो सकती। इसी कारण दशमस्कन्ध के पच्चीसवें अध्याय में कालियनाग वाले प्रसंग में श्रीयमुनाजी को अगाधजल वाली नदी कहा गया है, जो कि मध्यभाग वाला जल है और जहाँ क्रीड़ा तो खैर नहीं हुई थी अपितु प्राणलेवा कालियनाग था। और यहाँ मूलश्लोक में **तटस्थ** यानि श्रीयमुनाजी के तीरस्थित जल की बात कही गयी है, जहाँ नये वनों से प्रकट हुई सुगंध एवं पुष्पसहित श्रीयमुनाजी का जल है। प्रभुचरणों ने श्रीयमुनाजी के जल को **स्मारकत्वं** यानि स्मरण कराने वाला कहा है, जिसका वर्णन भ्रमरगीत के 'गोपियों ने कहा- हे उद्धवजी ! यह वही नदी(श्रीयमुनाजी)है, जिसमें श्यामसुन्दर विहार करते थे, यह वही पर्वत हैं जिसके शिखर पर वे बांसुरी बजाया करते थे। और ये ही वे गौए हैं जिनको चराने वे जाया करते थे। हम जब-जब इन सबको देखती हैं, तो हमें श्यामसुन्दर का स्मरण हो आता है (श्री०भा-१०/४७/४९)' इस वाक्य में भी प्राप्त होता है। नवकानन में प्रकट मोद(सुगंध) सत्त्वरूप है, पुष्प रजोरूप हैं एवं कानन(वन) तमोरूप हैं। तमोरूप का अर्थ है- 'आसुरभाव'। सुगंध तो रजःसत्त्वरूप है(सुगंध को रजःसत्त्वरूप कहा गया है। यद्यपि श्रीद्वारिकेशचरणों ने उपर्युक्त सभी को सत्त्व-रज-तम क्यों कहा इसका कारण नहीं बताया है परन्तु सुगन्ध को जो रजःसत्त्वरूप कहा गया है, उसके लिये अनुवादक को ऐसा प्रतीत होता है कि, चूँकि स्वयं सुगंध तो सत्त्वरूप है और उसका आधार पुष्प रजोरूप है अतः सुगंध(मोद)को रजःसत्त्वरूप यों दोनों कहा गया। वैसे यह आपाततः प्रतीत होता अर्थ हैं, निश्चयात्मक नहीं-अनुवादक। क्योंकि वृक्ष और पुष्प स्वयं चल कर भगवान-हरि के समीप नहीं जा सकते अपितु किसी अन्य के द्वारा ले जाये जाते हैं परन्तु सुगंध तो स्वयं अपने आप हरि के समीप चली जाती है अतः सुगंध रजःसत्त्वरूप है। क्योंकि जो सात्त्विक होगा उसे भगवान के पास ले जाने के लिये किसी अन्य के प्रयास की या प्रेरित करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, वह तो स्वयं भगवान की ओर प्रेरित हो जायेगा, इसलिये श्रीद्वारिकेशचरण सुगंध(सुरभि) को सात्त्विक बता रहे हैं।

श्रीकृष्णो घनीभूतरसः । भक्तानां दर्शनार्त्तितापः सूर्यः । तत आवीर्भूतरसात्मा श्रीयमुना प्रादुर्बभूव । दार्ष्टान्तिके तु दैन्यभावमानभाववतीभिः सुतरां पूजितस्य, स्मरणं स्मरः, तज्जनकस्य शोभां पोष्यन्तीति वा ।

श्रीकृष्ण घनीभूत रसस्वरूप हैं भगवान को श्रुति में 'रसो वै सः' इत्यादि वाक्यों द्वारा रसस्वरूप कहा गया है। यहाँ भगवान को घनीभूत रसस्वरूप कहने का तात्पर्य यह है कि, जब रस घनीभूत हुआ, यानि एक स्थल पर इकट्ठा होकर ठोसरूप हुआ तो श्रीकृष्ण की आकृति बन गयी। चूँकि द्रव से तो कोई आकृति बन नहीं सकती अतः रस जब घनीभूत हुआ तब रसात्मक श्रीकृष्ण प्रकट हो गये- यह अर्थ है। भगवान के दर्शन के लिये भक्तों के मन में होने वाली आर्ति का तापात्मकस्वरूप सूर्य है और ऐसे तापात्मक सूर्य से रसात्मक-श्रीयमुनाजी आविर्भूत हुई हैं। जब ऐसे तापात्मक सूर्यरूपी भक्तों की आर्ति से ऊपर कहे घनीभूत रसात्मक प्रभु का स्वरूप पिघला तो वह पिघला हुआ द्रव श्रीयमुनाजी के रूप में प्रकट हो गया- यह बात श्रीद्वारिकेशचरण समझाना चाह रहे हैं। 'सुरासुरपूजितस्मरपितुः(सुर+असुर से से पूजित स्मरपिता श्रीकृष्ण)' पद में यदि दार्ष्टान्त लिया जाय तो 'सुर' का अर्थ है- 'दैन्यभाववाली गोपिकाएँ' एवं 'असुर' का अर्थ है- 'मानभाववाली गोपिकाएँ' ; स्मरपिता-श्रीकृष्ण इन दोनों से सुपूजित हैं- यह अर्थ है। 'स्मर' का अर्थ है- 'स्मरण'। यानि कुलमिला कर अर्थ यह हुआ कि, ऊपर कही दोनों प्रकार की गोपिकाओं के द्वारा सुपूजित और अपना स्मरण कराने वाले श्रीकृष्ण की शोभा को पोषित करने वाली, उसे बढ़ाने वाली श्रीयमुनाजी हैं, उनको आचार्यचरण नमन कर रहे हैं।

एतेनेति रेणुषु जलदोषनिवारकभगवत्सम्बन्धकथनेन, एतद्द्वयं दूरीकृतम् । स्फुरत्पदेन सूचितसेवायोग्यदेहसम्पादनोन्मुखत्वेन च, । जलेति, जलस्वरूपं तु द्वितीयश्लोकविवरणेन श्रीहरिरायैरुक्तम् । तथा हि, द्रवीभूतरसात्मैषा सर्वाङ्गीणश्रमाम्बुभिः, नारायणस्य हृदयाच्छुद्धसत्त्वस्वरूपतः, प्रादुरासीन्मूलरूपं पुष्टिलीलाप्रसिद्धये ।

एतेन::: अपास्तः इस वाक्य का अर्थ है- श्रीयमुनाजी की रेणु में भगवच्चरणारविन्द का सम्बन्ध हुआ बताया गया है, जो जलदोष का निवारक है अतः इससे जीव को अपने मन में होने वाले 'दोष का भय' एवं 'भगवत्प्राप्ति में विलम्ब होगा' ये दोनों संशय दूर कर दिये गये समझने चाहिएँ। मुरारि के पदपंकजों की रेणु **स्फुरित** हो रही है- इस कथन के द्वारा आचार्यचरणों ने यह भी सूचित किया है कि, भगवत्सेवायोग्य देह का सम्पादन करने में वह रेणु उन्मुख है। यानि तात्पर्य यह है कि, जिसको मुरारि के चरणकमलों की रेणु प्राप्त हुई, उसकी देह भगवत्सेवा के योग्य बन जायेगी। **जल::: स्मरपितृपदम्** इस पंक्ति में जल का विवरण तो खैर श्रीहरिरायजी ने द्वितीयश्लोक के विवरण के अपने पद्य में::

'श्रीयमुनाजी द्रवीभूत रसात्मा हैं क्योंकि भगवान के सर्वांगीण श्रमजल से मिली हुई हैं॥२॥
और, नारायण के हृदय से शुद्ध सत्त्वस्वरूपतः प्रकट होकर,
पुष्टिलीला के मूलरूप को प्रसिद्ध करने प्रादुर्भूत हुई हैं॥३॥':: इस प्रकार से कर दिया है।

एतादृशजलस्य दर्शने तल्लीलास्मरणं भावजननं च युक्तमेव । विशेषणत्रययुक्तां यमुनामहं मुदा नमामीतिसम्बन्धः । अस्मिञ्छ्लोके सकलसिद्धिहेतुत्वं प्रथममैश्वर्यं दर्शितम् ।।१।।

श्रीयमुनाजी के जल के ऐसे दर्शन होने पर तो भगवल्लीला का स्मरण हो आना एवं मन में भगवत्सम्बन्धी भावों का उदय हो जाना तो युक्त ही है। ऊपर कहे सभी पदों का आपस में सम्बन्ध यह है कि, श्रीमदाचार्यचरण यह कह रहे हैं कि- (१) सकलसिद्धिप्रदाता (२) जल की अपेक्षा भगवच्चरणारविन्द की रेणु की अधिकता वाली, एवं (३) स्मरपिता-श्रीकृष्ण की शोभा को धारण करने वाली; इन तीनों विशेषणों से युक्त श्रीयमुनाजी को मैं प्रसन्नता से नमन करता हूँ। सारांश यह समझिए कि इस श्लोक में आचार्यचरणों ने श्रीयमुनाजी में सकलसिद्धि प्रदान करने वाला प्रथम ऐश्वर्य दिखाया है॥१॥

अग्रिममवतारयन्ति । * आविर्भावेति । कृष्णावतारे यथा भगवत अलौकिकप्रकारेणाविर्भावः, तथा श्रीयमुनाया अपि । भगवान् वसुदेवगृहेऽवतीर्य नन्दगृहे समागत्य सर्वभक्तसंवलितो भूतः, तथा श्रीयमुनापि सूर्यमण्डलवर्तिनारायणहृदयानन्दमयादाविर्भूय कलिन्दोपरि पतिता कलिन्दनन्दना जाता, तेनात्रापि पितृद्वयम्, ततो व्रज आगत्य भक्तसंवलिता जाता । तत्रेति विलासेन गमने । तैरिति गण्डशैलैः । तादृशैरिति जलेन प्रक्षिप्तैः । अत्रायमाशयः, जलं यदा उच्चैः पतति तदा फेनाकारमाशुगामि च भवति । यत्रोच्चैः पतति तत्र ह्रदो भवति । तत एव पर्वतच्युता स्थूलोपलाश्च तिष्ठन्ति ।

---

* पद्मपुराणे हिमाचलशिखरे सञ्ज्ञितः कलिन्द इति सञ्ज्ञा ।

तदुपरि जलप्रवाहे सति या शोभा सैव विलासगतिः तथेति उन्नता । विषमेति, वैषम्यं च पर्वतसामीप्यात् ।

अब दूसरे ऐश्वर्य को प्रभुचरण दूसरे श्लोक में **आविर्भाव** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जैसे कृष्णावतार में भगवान का अलौकिकप्रकार से आविर्भाव हुआ था, वैसे ही श्रीयमुनाजी का भी अलौकिकप्रकार से आविर्भाव हुआ है। जैसे भगवान वसुदेवजी के घर में अवतरित होकर नन्दबावा के घर में आकर समस्त भक्तों से मिले, उसी प्रकार श्रीयमुनाजी भी सूर्यमण्डल के अन्तर्वर्ति श्रीनारायण के आनन्दमय हृदय से आविर्भूत होकर कलिन्दपर्वत पर गिर कर कलिन्दपुत्री बनीं ; इसलिये भगवान की भाँति श्रीयमुनाजी के भी दो पिता हैं, यह सिद्ध हुआ और कलिन्दपर्वत से निकल के व्रज में आकर वे भक्तों से मिलीं। **तत्र उल्लसन्तः शोभां प्राप्नुवन्तः, प्रवाहवेगेनोद्वैः क्षिप्ता, अत एव प्रकटाः सर्वेषां दृश्याः तैः तादृशैः तथा** इस प्रभुचरणों के वाक्य में **'तत्र'** का अर्थ है- विलासयुक्त गमन के कारण ; **तैः** अर्थात् गण्डशैलों के कारण, और **तादृशैः** का अर्थ है- जलप्रवाह के कारण नीचे गिरते हुए गण्डशैलों के कारण। इसका आशय यह है कि, जल जब ऊँचाई से नीचे गिरता है तब फ़ेनयुक्त होकर तीव्रगति ले लेता है। जिस स्थल पर गिरता है, वहाँ हृद(विशाल जलराशि)बन जाता है। उसी हृद में पर्वत से निकले हुए छोटे शिलाखण्ड भी इकट्ठे हो जाते हैं। अब उन शिलाखण्डों पर जल प्रवाहित होने पर जल की जो शोभा होती है, उसी शोभा को प्रभुचरण यहाँ श्रीयमुनाजी का विलासगतिपूर्वक गमन करना कह रहे हैं। **तथा** का अर्थ है- ऐसे प्रवाहयुक्त बहती हुई श्रीयमुनाजी **उन्नत** ऊँची दिखाई दे रही हैं। **विषम**भूमि का अर्थ है- पर्वत के समीप होने के कारण वह भूमि ऊँची-नीची है, जहाँ से श्रीयमुनाजी प्रवाहित हो रही हैं।

जयतीति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तनमैश्वर्यं, मुकुन्दरतिवर्द्धनं वीर्यं, समधिरूढदोलोत्तमा इतिश्रीः, सघोषगतिदन्तुरेति यशः, 'प्रकटगण्डशैलोन्नता' विलासगमनोल्लसदिति ज्ञानं, अमन्दपूरोज्ज्वलेति वैराग्यं ।

इसके पश्चात् श्रीद्वारिकेशचरणों ने यह बताया है कि, श्रीयमुनाजी को आगे जो संबोधन दिये गये हैं, उनमें श्रीयमुनाजी में विद्यमान छह धर्म क्रमशः बताये गये हैं। यद्यपि ये छह धर्म श्रीयमुनाजी में क्यों और कैसे हैं, इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया है इसलिए स्वमत्यनुसार जो कुछ भी विचारा जा सका, वह अर्थ लिख दिया है। यदि कोई महानुभाव अन्य किसी ढंग से अर्थ कर सकते हों तो कृपया सूचित करें, मैं उनका कृतज्ञ रहूँगा-अनुवादक। **जयति** का अर्थ है- श्रीयमुनाजी सर्वोत्कृष्ट हैं अतः इससे आचार्यचरणों ने श्रीयमुनाजी में 'ऐश्वर्य' धर्म होना बताया है। श्रीयमुनाजी में मुकुन्द में रति बढ़ाने की सामर्थ्य है अतः ये उनका 'वीर्य' धर्म है। श्रीयमुनाजी पधारती हुई यों प्रतीत होती हैं मानों वे किसी उत्तम दोले पर विराज कर पधार रहीं हों अतः ये उनका 'श्री' धर्म है (श्री का अर्थ है- शोभा। अतः श्रीयमुनाजी ऐसे पधारती हुई शोभायुक्त/श्रीयुक्त हो रही हैं- यह आशय हो सकता है)। श्रीयमुनाजी घोषसहित गति द्वारा दन्तुरा होकर अर्थात् विविधभावयुक्त होकर पधार रही हैं अतः ये उनका 'यश' धर्म है। 'प्रकटगण्डशैलोन्नता' एवं 'विलासगमनोल्लसत्' इन पदों से श्रीयमुनाजी में 'ज्ञान' धर्म होना सिद्ध होता है (इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि, श्रीयमुनाजी पर्वत के ऊँचे-नीचे शिलाखण्डों पर ऊपर नीचे बहती हुई पधार रही हैं, तो यों लगता है कि वे विलासयुक्त होकर पधार रही हैं। विलास इसलिये क्योंकि उन्हें भगवल्लीला का ज्ञान है और उसका अनुसंधान करती हुई आनन्दयुक्त होकर पधार रही हैं अतः उनमें 'ज्ञान' धर्म होना बताया जा रहा है)। 'अमन्दपूरोज्ज्वला' शब्द से उनमें 'वैराग्यधर्म' समझना चाहिए (वैराग्य का अर्थ है- अपने स्वभाव पर विजय पा लेना या अपने स्वभाव को परावर्तित कर पाना। यहाँ 'पतदमन्दपूरोज्ज्वला' शब्द से श्रीयमुनाजी में वैराग्यधर्म बताने का तात्पर्य यह हो सकता है कि, यद्यपि श्रीयमुनाजी के जल का रंग तो श्याम ही है परन्तु इतनी ऊँचाई से तीव्रगति से गिरने के कारण वे उज्जवल दिखाई देती हैं अर्थात् उन्होंने श्यामस्वभाव को परावर्तित करके उज्जवलता ले ली)।

घोष इति शब्दपक्षे । शब्दसहिता या गतिस्तया विविधभाववती प्रियाभिमुखं गच्छन्ती गायन्तीव । व्रजपक्षे घोषेण सहिताः सघोषाः । व्रजं विहायान्यत्र कदापि न गच्छन्ति, ते तथोक्ताः व्रजजनाः, गोविन्दश्च, तेषां रोधसि क्रीडार्थं पर्यटनेन विविधभाववती । समधिरूढेति, समधिरूढा दोलोत्तमा यया सा । सूक्ष्मशिलासु गमनशोभया दोलायामारूढा इति लक्ष्यते ।

'घोष' शब्द का अर्थ यदि शब्द/ध्वनि करें तो अर्थ होगा- श्रीयमुनाजी सघोष पधार रही हैं अर्थात् शब्द करती हुई, ध्वनि करती हुई पधार रही हैं ; जैसे कोई नायिका अपने मन में विविध प्रकार के भावों का विचार करती हुई गाती हुई अपने प्रिय से मिलने जाती है। और यदि घोष का अर्थ 'व्रज' करें तो 'सघोष' का अर्थ होगा- जो घोष/व्रज के सहित है, उसे सघोष कहेंगे ; जो व्रज छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते, ऐसे व्रजजनों को 'सघोष' कहा जा रहा है ; गोविन्द भी व्रज को छोड़ कर कहीं नहीं जाते अतः वे भी 'सघोष' हैं। गोविन्द अपने व्रजजनों के संग क्रीड़ा करने हेतु वहीं श्रीयमुनातट पर भक्तों के सहित विहरण करते हैं अतः उनकी लीलाओं के दर्शन करके श्रीयमुनाजी के मन में भी विभिन्न भाव उत्पन्न होते रहते हैं अतः आचार्यचरणों ने उन्हें 'सघोषगतिदन्तुरा' कहा जिसका अर्थ है- गोविन्द एवं व्रजजनों की क्रीड़ा को देखकर स्वयं भी विविधभावयुक्त होने वाली श्रीयमुनाजी। **समधिरूढ** इत्यादि शब्दों का अर्थ है- जो उत्तम दोले/पालकी पर विराजकर पधार रही हैं, ऐसी श्रीयमुनाजी।

यद्वा, असमधीतिपदच्छेदः । अत्रायमाशयः । तत इति पर्वतसामीप्यात् । साधारणपृथिव्यामागत्य मुकुं मोक्षं ददातीतिमुकुन्दस्तस्य रमणस्य वर्द्धिनी जाता । यत इति रसात्मकं कमलं तत्सखा सूर्यः, तस्य पुत्रीति हेतुगर्भं विशेषणम् । मूले जयतीति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । अयमेव सर्वोत्कर्षः यन्मोक्षदातुः रतिवर्द्धिनीयम् । अन्वयस्तु, या पूर्वं कलिन्दगिरिमस्तकेऽपतत् । सा पञ्चभिर्विशेषणैर्युक्ता पद्मबन्धोः सुता जयति । अस्मिन्पद्ये भाववर्द्धकत्वं द्वितीयमैश्वर्यं दर्शितम् । पूर्वश्लोके तु सकलसिद्धिहेतुत्वं स्फुटमेव ।।२।।

अथवा तो **असमधिरूढ** यों भी पदच्छेद कर सकते हैं। यों पूरे श्लोक का आशय इस प्रकार से होगा- **ततः** यानि पर्वत के समीप से ; उँचे- नीचे पर्वत से निकल कर साधारण भूमि पर आकर श्रीयमुनाजी मुकुन्द(मोक्षदाता-भगवान) के रमण को बढ़ाने वाली बन गयीं, इसलिये श्रीयमुनाजी को 'मुकुन्दरतिवर्धिनी' कहा गया। **यतः** क्योंकि कमल रसात्मक है और कमल का सखा सूर्य है और चूँकि श्रीयमुनाजी सूर्यपुत्री हैं अतः रसवर्धन करने का गुण क्रमशः श्रीयमुनाजी में भी आ गया है, इसलिये आचार्यचरणों ने श्रीयमुनाजी को 'पद्मबन्धोः सुता' कहा। मूलश्लोक में श्रीयमुनाजी के लिये 'जयति' शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ है- श्रीयमुनाजी सर्वोत्कृष्ट हैं। श्रीयमुनाजी की सर्वोत्कृष्टता तो इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि, जो भगवान-मुकुन्द मोक्ष देने वाले हैं, श्रीयमुनाजी उनकी भी रति को बढ़ाने वाली हैं। पूरे श्लोक का अन्वय यों होगा- जो श्रीयमुनाजी पहले कलिन्दपर्वत के मस्तक पर गिरीं, उन पाँच विशेषणों से युक्त पद्मबन्धु-सूर्य की सुता श्रीयमुनाजी की जय हो। भाववर्धन करती होने के कारण आचार्यचरणों ने यहाँ श्रीयमुनाजी का दूसरा ऐश्वर्य दिखाया है। पूर्वश्लोक में सकलसिद्धियाँ प्रदान करने वाला ऐश्वर्य तो हमने स्पष्ट देख ही लिया है। ॥२॥

अग्रिममवतारयन्ति ततो भुवीति, धर्मानिति । भगवान् रमणार्थमवतीर्णस्तदेयमपि तदुपयोगिन्यवतीर्णा । तत्र च श्रृङ्गाराविर्भावादयः अपेक्षिता धर्माः, तान् । प्रयोजनमितीति । श्रीयमुनाया भूमावागमनस्य प्रयोजनं भुवनस्य दैवीजीवशरीरस्य दुरितक्षयपूर्वकं भगवद्भावदानेन पावनकर्त्रीत्वं । (श्रीपुरुषोत्तमास्तु पाविनीमिति पेठुः) । स्नेहातिशय इति* अप्राकृताखिलभूषणभूषितकथनेनाप्राकृताखिलभूषणभूषितेन भगवता स्नेहातिशयो युक्त एव । समानशीलव्यसनेषु सख्यमिति नियमात् । भगवतोऽप्राकृतभूषणभूषितत्वं 'उद्दामकाञ्ची'त्यत्र स्फुटतरमस्ति ।

इसके पश्चात् के ऐश्वर्य को प्रभुचरण **ततो भुवि::धर्मान्**(*भूतल पर पधारने के पश्चात् अब श्रीयमुनाजी के धर्मों को आचार्यचरण भुवम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। भूतल पर पधारने के पश्चात् श्रीयमुनाजी के धर्म यह हैं कि, भगवान तो रमण करने के लिये ही अवतीर्ण हुए हैं, उसी प्रकार श्रीयमुनाजी भी भगवान के रमण में उपयोगिनी के रूप में अवतीर्ण हुई हैं ; और रमण में तो श्रृंगार आदि का आविर्भाव होना अपेक्षित है अतः उन श्रृंगाररस को प्रकट करने वाले श्रीयमुनाजी के धर्मों को प्रभुचरण **प्रयोजनम्**(*श्रीयमुनाजी के भूतल पर पधारने का प्रयोजन भूतल को पावन करना है*) इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।श्रीद्वारिकेशचरणों ने 'भुवन' शब्द का अर्थ 'दैवीजीवों का शरीर' किया है। श्रीयमुनाजी का भूमि पर

---

* तरङ्गादीनां भुजादित्वं हरिवंशे सूपपादितम् ।

पधारने का प्रयोजन 'भुवन' को पावन करना है अर्थात् दैवीजीवों के शरीर के पापों को नष्ट करके उन्हें भगवद्भाव का दान करके उन्हें पावन बना देना है। (वैसे श्रीपुरुषोत्तमजी ने 'पावनीं' के स्थान 'पाविनीं' पाठ माना है)। अब प्रभुचरणों के **स्नेहातिशय** (*आपश्री ने श्रीयमुनाजी को "कृष्णतुर्यप्रिया" कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि, भगवान के प्रति श्रीयमुनाजी को अतिशय स्नेह है*)इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। श्रीहरिरायजी ने इस श्लोक की टीका में श्रीयमुनाजी को 'अप्राकृत अखिलभूषण से भूषित' यों कहा है और भगवान भी अप्राकृत आभूषणों से भूषित हैं अतः ऐसी अप्राकृतभूषणों से भूषित श्रीयमुनाजी को अप्राकृत आभूषणों से भूषित भगवान में अतिशय स्नेह होना तो ठीक ही है क्योंकि जिन दो व्यक्तियों का आचरण और व्यवहार एक जैसा होता है उनमें परस्पर मित्रता तो होती ही है। भगवान अप्राकृत/अलौकिक आभूषणों से भूषित हैं, यह बात तो "भगवान जब कारागृह में प्रकट हुए तो वसुदेवजी ने देखा कि, उनके कण्ठ में कौस्तुभमणि झिलमिला रही है। बहुमूल्य वैदूर्यमणि के किरीट और कुण्डल की कान्ति से सुंदर घुँघराले बाल सूर्य की किरणों के समान चमक रहे हैं। कमर में चमचमाती करधनी की लड़ियाँ लटक रही हैं। बाँहों में बाजूबंद एवं कलाईयों में कंकण शोभायमान हो रहे हैं(श्री०भा- १०/३/१०)" इस श्लोक में भी स्पष्टतया बतायी गयी है।

मूले कृष्णतुर्य्यप्रियामिति । व्रजे भगवद्भोग्याश्चतस्रः स्वामिन्यो मुख्याः । श्रीराधिकायूथस्थास्तामस्यः । श्रीचन्द्रावलीयूथस्था राजस्यः । कुमारिकायूथस्थाः सात्विक्याः । श्रीयमुनायूथस्था गुणातीताः तुर्याः । तासु इयं तुर्य्यातस्तथाकथनमिति । "कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले" इति वाक्येनास्याः कालिन्दीभिन्नत्वेपि प्रियात्वमुपपन्नम् । शुको वाचिकीसेवां करोति । मयूरः कायिकीं, हंसो मानसीं, आदिपदेन पारावतकोकिलसारसचक्रवाकेदातूहादयो गृहीताः । अन्वयस्तु, भुवनपाविनीं, भुवमधिगतां, प्रियाभिरिव स्थितैः अनेकस्वनैः शुकमयूरहंसादिभिः सेवितां, तरङ्गभुजकङ्कणप्रकटमुक्तिकावालुकानितम्बतटसुन्दरीम्, कृष्णतुर्यप्रियाम्, यूयं नमत, इति दैवीजीवान्प्रति विधिः । अत्र भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धकनिराकरणेन तदनुभवयोग्यताहेतुशुद्धिसम्पादकरूपं भुवनपावनीत्त्वं तृतीयमैश्वर्यं दर्शितम् ।।३।।

अब हम मूलग्रन्थ में कहे **कृष्णतुर्यप्रियाम्** शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। **व्रज में भगवद्भोग्या** चार स्वामिनियाँ मुख्य हैं। श्रीराधिकाजी के यूथ वाली स्वामिनियाँ तामसी हैं। श्रीचन्द्रावलीजी **के यूथ वाली स्वामिनियाँ** राजसी हैं। कुमारिकाओं के यूथ वाली स्वामिनियाँ सात्विकी हैं। और चौथी श्रीयमुनाजी **के यूथ वाली** स्वामिनियाँ गुणातीत(निर्गुण) हैं। इन चारों में श्रीयमुनाजी चौथी प्रिया हैं अतः आचार्यचरणों ने इन्हें 'कृष्णतुर्यप्रिया' कहा है। वैसे तो "भगवान कृष्ण और अर्जुन श्रीयमुनातट पर आये एवं उनका **जल पिया**। वहाँ उन्होंने देखा कि एक परमसुन्दरी तपस्या कर रही है। अर्जुन ने उसे उसका परिचय पूछा तो उसने कहा- मेरा नाम 'कालिन्दी' है और मेरे पिता सूर्य ने मेरे लिये यमुनाजल में एक महल बनवा दिया है और मैं यमुनाजल में ही रहती हूँ(श्री०भा-१०/५८/२२)' इस वाक्यानुसार श्रीयमुनाजी यद्यपि कालिन्दी से भिन्न हैं ही, तथापि ऊपर किये गये विश्लेषण के अनुसार श्रीयमुनाजी को चतुर्थप्रिया कहना अयुक्त नहीं है। **शुकमयूरहंसादिभिः** पद में वर्णित पक्षियों में से शुक श्रीयमुनाजी की वाचिकीसेवा कर रहा है। मयूर कायिकीसेवा कर रहा है एवं हंस मानसीसेवा कर रहा है। **आदि** पद से कबूतर, कोकिल, सारस, चकवा, दात्यू आदि भी समझ लेने चाहिए। पूरे श्लोक का अन्वय इस प्रकार से है- भुवनपाविनी, भूतल पर पधार कर एक प्रिया की भाँति शुक-मयूर-हंस आदि अनेक पक्षियों के स्वरों से सेवित, तरंगरूपी भुजाओं के कंगनों में मोतीरूपा बालुका धारण की हुई एवं तटरूपी नितम्बवाली सुन्दरी, कृष्ण की चौथी प्रिया श्रीयमुनाजी को आप सभी नमन करें- ऐसा श्रीमदाचार्यचरण दैवीजीवों को आदेश कर रहे हैं। श्रीयमुनाजी का भगवत्सम्बन्ध में होने वाले प्रतिबन्धकों का निराकरण करने के द्वारा भगवान का अनुभव प्राप्त करने की योग्यता हेतु आवश्यक शुद्धिसंपादनरूप भुवनपावन करने वाला तीसरा ऐश्वर्य आचार्यचरणों ने इस श्लोक में दिखाया है ॥३॥

अग्रिममवतारयन्ति भगवत्समानधर्मत्वमिति । यथा भगवानैश्वर्यादिभिः षड्भिर्गुणैः सहितः स्वयं धर्मी, तथेयमपीति सप्तभिर्विशेषणैः स्तुवन्ति । मूले अनन्तेति । अत्र पक्षद्वयमाहुः प्रभौ सप्तम्यन्तानि विशेषणानि श्रीयमुनायां सम्बुद्ध्यन्तानि । सम्बुद्धिरूपाणीति । आद्य पक्षे अनन्ता अपारा येऽलौकिका गुणास्तैर्भूषितेऽलङ्कृते । द्वितीये अनन्तस्य भगवतो

भक्तमनोरथपूरकादयो गुणास्तैर्भूषिते । एतेन विशेषणेन 'गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते' इति वाक्याद्गुणानां पूज्यत्वात्, 'ईश्वरः पूज्यते लोकैर्मूढैरपि यदा कदा । निरुपाधिकमैश्वर्यं वर्णयन्ति मनीषिण' इति वाक्योक्तमैश्वर्य्यं निरूपितम् । **शिवविरञ्चिदेवस्तुते** इति विशेषणेन 'वीर्यं देवेषु तत्रापि स्त्रीषु तत्रापि कामतः । सान्निध्ये पुरुषाणां च मूर्छा तेन ततो महत्' इत्यत्रोक्तं वीर्यमुभयत्र निरूपितम् ।

अब इसके पश्चात् अगले चौथे ऐश्वर्य को प्रभुचरण **भगवत्समानधर्मत्वम्** पद द्वारा कह रहे हैं। भगवान के समान धर्म होने का तात्पर्य यह है कि, जैसे भगवान ऐश्वर्य-वीर्य इत्यादि छह गुणों के सहित स्वयं सातवें धर्मिस्वरूप हैं, उसी प्रकार श्रीयमुनाजी भी हैं अतः आचार्यचरण इस श्लोक में श्रीयमुनाजी की सात विशेषणों द्वारा मूलग्रन्थ में **अनन्तगुण** इत्यादि पदों से क्रमशः स्तुति कर रहे हैं। श्रीप्रभुचरण यों आज्ञा कर रहे हैं कि - **अनन्तगुणः**: से लेकर **कृपाजलधिसंश्रिते** तक के सात विशेषणों के दो अर्थ हो सकते हैं; या तो इन्हें सप्तमी मान कर प्रभु के विशेषण मान लिये जाएँ अथवा तो संबोधन मान कर श्रीयमुनाजी का संबोधन मान लें। यदि पहला यानि प्रभु के विशेषण वाला अर्थ लें, तो पूरे श्लोक का यों अर्थ होगा- अनन्त/अपार अलौकिकगुणों से भूषित/अलंकृत भगवान में मेरे मन को सुख कैसे मिले, इसका विचार हे श्रीयमुनाजी ! आप विचार करें। और यदि दूसरा यानि श्रीयमुनाजी का संबोधन वाला अर्थ करें तो अर्थ होगा- अनन्त-भगवान के भक्तमनोरथ पूर्ण करने जैसे जो गुण हैं, उन गुणों से हे श्रीयमुनाजी ! आप भूषित हैं। आचार्यचरणों ने इस विशेषण के द्वारा 'सर्वत्र गुणों का ही आदर होता है(चाणक्य नीति16/7)' इस वाक्यानुसार गुण ही पूजनीय होते होने के कारण एवं 'ईश्वरः पूज्यते(सु0 10/18/10;का0-19)' इस वाक्य में कहा 'ऐश्वर्य' धर्म श्रीयमुनाजी में निरूपित कर दिया है। दूसरा विशेषण **'शिवविरञ्चिदेवस्तुते'** है, जिसके द्वारा 'वीर्यं देवेषु (सु-10/18/10;का0-२0)' इस श्लोक में बताया गया 'वीर्य' धर्म प्रभु एवं श्रीयमुनाजी दोनों में निरूपित कर दिया गया है।

घनाघनेति विशेषणेन उभयत्रापि स्वरूपसौन्दर्यं सर्वविस्मारकं विश्वजीवनत्वादिकं च निरूपितम् । तेन 'यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणात् । स्वधर्मं योजयेत्तेषु तदा भवति नान्यथा' इत्यत्रोक्तं यशो निरूपितम् । **ध्रुवपराशराभीष्टदे** अनेन स्वसेवकानामभीष्टदानेन मश्रियो हि परमाकाष्ठासेवकास्तादृशा यदी'तिपद्योक्ता श्रीर्निरूपितोभयत्र । **विशुद्धा मथुरेति** मथुराया विशुद्धत्वं तु 'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः' इति भगवत्सान्निध्यात् । तत्रापि श्रीयमुनातटसत्त्वेन लीलास्थानत्वम् । तेन 'ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात्स्वभावविजयो यदी'त्यत्रोक्तं ज्ञानं निरूपितम् ।

'घनाघननिभे' इस तीसरे विशेषण के द्वारा प्रभु एवं श्रीयमुनाजी दोनों में स्वरूपसौंदर्य, सभी का विस्मरण करा देने वाले स्वरूप का, विश्व को जीवन देने वाले स्वरूप इत्यादि का निरूपण किया गया है अतः इस विशेषण द्वारा 'यशो यदि विमूढानां(सु-10/18/10;का0-२1)' इस पद्य में कहा गया 'यश' धर्म दोनों में आचार्यचरणों ने निरूपित किया है। **ध्रुवपराशराभीष्टदे** इस पद के द्वारा चूँकि श्रीयमुनाजी अपने सेवकों को उनका अभीष्ट प्रदान करती हैं अतः 'श्रियो हि परमा(सु0 10/18/10;का0-२४)' इस पद्य में कहे 'श्री' धर्म का निरूपण भगवान एवं श्रीयमुनाजी दोनों में आचार्यचरणों ने किया गया है। मथुरानगरी को **विशुद्धमथुरा** इसलिये कहा गया क्योंकि मथुरा की विशुद्धता तो 'मथुरानगरी में भगवान श्रीहरि सर्वदा विराजमान रहते हैं(श्री०भा-१०/१/२८)' इस वाक्यानुसार सिद्ध होती है क्योंकि मथुरानगरी को भगवान का सान्निध्य प्राप्त है। उसमें भी मथुरानगरी श्रीयमुनाजी के तट पर बसी हुई है अतः वह भगवान की लीलास्थली भी है। इससे 'ज्ञानोत्कर्षस्तदैव(सु-10/18/10;का0-२४)' इस श्लोक में कहा 'ज्ञान' धर्म श्रीयमुनाजी में निरूपित कर दिया गया है।

सकलेतीतिविशेषणेन गोपाश्च गोप्यश्च सततं गृहादिकं त्यक्त्वा एतत्तट एव तिष्ठन्ति, पूर्वं तत्रैवानन्दस्यानुभूतत्वात् । यद्वा, सकलगोपगोपीभिरन्तस्थैर्वृता आवृता । यद्वा, सकलगोपगोपीभिर्वृता भगवतो याचिता सम्भक्ता वा । सा च भक्तानां सर्वात्मभावदानेन मानादिदोषनिवारकत्वेन च प्रभोः प्रीतिवर्द्धिनी, तेन महरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनात् । उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदाफ इत्यत्रोक्तं वैराग्यं निरूपितम् ।

सकलगोपगोपीवृते इस विशेषण द्वारा आचार्यचरणों ने श्रीयमुनाजी का यह भाव द्योतित किया है कि, गोप एवं गोपिकाएँ अपने घर आदि को छोड़कर सतत श्रीयमुनाजी के तट पर ही रहा करते हैं क्योंकि पूर्व में उन्होंने श्रीयमुनाजी के तट पर ही भगवदानन्द का अनुभव किया था। अतः **सकलगोपगोपीवृते** का अर्थ है- सकल गोप-गोपियों ने जिसको घेर रखा है, वह श्रीयमुनाजी हैं। अथवा एक अर्थ ये भी हो सकता है कि- सकल गोप-गोपियों ने जिनको माँग लिया अर्थात् भगवान से जिनको पाने की याचना की है, वे श्रीयमुनाजी हैं। और चूँकि श्रीयमुनाजी उन व्रजभक्तों को सर्वात्मभाव का दान देकर उनके मान आदि दोषों की निवारक हैं एवं प्रभु की प्रीति व्रजभक्तों के प्रति बढ़ाने वाली हैं अतः इस श्लोकान्तर्गत श्रीयमुनाजी में 'हरेश्चरणयोः प्रीतिः::हरिर्यदा (सु-10/18/10;का0-25)' इस वाक्यानुसार 'वैराग्य' धर्म होना निरूपित किया गया है।

एवं षड्भिर्विशेषणैर्धर्मान्निरूप्य धर्मिस्वरूपं निरूपयन्ति कृपाजलधिसंश्रितेति । यद्यपि भगवतः सर्वे धर्मा नित्याः, तथापि कार्ये प्रकटा भवन्ति । करुणा तु नित्यमेव प्रकटा । तेन तज्जलधिरूपो भगवान् । अस्मिन् सम्यङ्मुख्यस्वामिनीवत् श्रिता मिलिता तेन, षड्गुणैश्वर्य्ययुक्तभगवति मिलिता यास्ते सर्वेपि गुणा द्योतिताः । एतेन धर्मिरूपत्वमस्या निरूपितम् । प्रभुपक्षे चत्वारि तु स्फुटानि एव । विशुद्धा मथुरा तटे निकटे यस्य, तत्र निरन्तरं सान्निध्यात् । सकलेति स्फुटम् । कृपेति कृपा एव जलधिः, तेन संश्रितो मिलितः, अपारकृपायुक्त इति भावः । यथा समुद्रगामिन्यां नद्यां पतितं तृणादिकं स्वत एव समुद्रे प्रपतति, तथा अपारकरुणायुते कृष्णे मिलितायां यमुनायामाश्रिता अपि एतद्वेगेनैव तत्र गमिष्यन्तीति भावः ।

इस प्रकार से छह विशेषणों द्वारा छह धर्मों का निरूपण करके अब आचार्यचरण श्रीयमुनाजी का धर्मिस्वरूप **कृपाजलधिसंश्रिते** पद से निरूपित कर रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि भगवान में विद्यमान सभी धर्म नित्य विद्यमान रहते हैं परन्तु जब जिनका कार्य हो, तभी वे धर्म प्रकट हुआ करते हैं। किन्तु करुणा एकमात्र ऐसा धर्म है जो भगवान में नित्यरूप से प्रकट रहती है। इसलिये भगवान करुणा के सागर कहे जाते हैं। ऐसे करुणाशील भगवान में श्रीयमुनाजी मुख्यस्वामिनी की भाँति मिल चुकी हैं, इसलिये षड्गुणैश्वर्ययुक्त भगवान में मिल चुकी हैं अतः भगवान में विद्यमान सभी गुण उनमें भी कह दिये गये हैं; और इस तरह से श्रीयमुनाजी का धर्मिस्वरूप निरूपित कर दिया गया है। वैसे ऊपर कहे छहों विशेषणों में से चार विशेषण तो स्पष्टतया सरलतापूर्वक प्रभु के लिये प्रयुक्त हो जाते हैं किन्तु 'विशुद्धमथुरातटे' और 'कृपाजलधिसंश्रिते' इन दो विशेषणों को प्रभु के अर्थ में कैसे प्रयुक्त करेंगे, आगे इसका विचार करते हैं। 'विशुद्धमथुरातटे' को भगवान का विशेषण मानने के लिये 'तट' शब्द का अर्थ 'निकट' करना पड़ेगा और तब अर्थ होगा- विशुद्ध मथुरानगरी निकट बसी है जिनके, यानि कि 'भगवान'; क्योंकि मथुरा को निरन्तर भगवान का सान्निध्य प्राप्त है। 'सकलगोपगोपीवृते' विशेषण तो खैर दोनों में सरलतापूर्वक प्रयुक्त हो जाता है। अब 'कृपाजलधिसंश्रिते' को भगवान का विशेषण मानने के लिये यों अर्थ करें- कृपाजलधि=कृपारूप सागर ; ऐसे कृपारूप सागर से संश्रित/मिले हुए जो हैं वह, यानि 'कृपासागर भगवान'। जिस प्रकार समुद्र में जा मिलने वाली नदी में गिरा हुआ तिनका आदि स्वयं ही समुद्र में पहुँच जाता है, ठीक उसी प्रकार अपारकरुणाशील कृष्ण में मिली हुई श्रीयमुनाजी का आश्रय लेने वाला भी श्रीयमुनाजी के वेग के संग ही करुणासागर भगवान से मिल जाता है- यह भाव है।

ममेति । प्रभुपक्षे सम्बोधनान्तं श्रीयमुने इत्यध्याहृत्य योजनीयम् । एतादृग्धर्मवति हरौ मम मनः सुखं यथा स्यात्तथोपायं कुरु । श्रीयमुनापक्षे भो एतादृग्धर्मवति ! मम मनसि यत्सुखं तत्त्वं भावय स्वमनस्यानय । त्वया मनस्यानीते मम सुखानुभवो भविष्यति नत्वन्यथा । भगवताष्टविधैश्वर्यस्य त्वयि स्थापितत्वात् । अस्मिन् पद्ये भगवत्समानधर्मवत्त्वेपि अनायासेन भगवत्सम्बन्धसम्पादकत्वं चतुर्थमैश्वर्यं प्रदर्शितम् । अन्वयस्तु पक्षद्वयेप्युक्त एव ।।४।।

मूलश्लोक में कहे **मम** पद को प्रभुविशेषण के अर्थ में योजित करना हो तो श्रीयमुनाजी का अध्याहार करके योजित करें अर्थात्- "हे श्रीयमुनाजी ! ऐसे करुणाशील धर्म वाले भगवान में मेरा मन लगा कर **मेरे मन** को जिस प्रकार से सुख प्राप्त हो, वैसा उपाय करें" यों अर्थ करें। और यदि श्रीयमुनाजी के लिये अर्थ करना हो तो- हे ऐसे धर्मों वाली श्रीयमुनाजी ! **मेरे मन** को जिस प्रकार से सुख हो, ऐसा करने का आप विचार करें।

क्योंकि जब आप अपने मन में इसे लायेंगी, तब ही मुझे सुख प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं क्योंकि भगवान ने अपने अष्टविध ऐश्वर्य तो आपको दे रखे हैं। इस पद्य में श्रीयमुनाजी भगवान के समान धर्मवाली होते हुए भी बिना प्रयास के जीव को भगवत्सम्बन्ध करा देती हैं- ये श्रीयमुनाजी का चौथा ऐश्वर्य प्रदर्शित किया गया। पूरे पद्य का अन्वय तो प्रभु एवं श्रीयमुनाजी दोनों ही पक्षों में कैसे योजित होगा, यह हम पूर्व में बता ही चुके हैं ॥४॥

अथेत्यर्थान्तरारम्भे । चतुर्भिः पद्यैरुत्कर्षवर्णनद्वारा संस्तुत्य चतुर्भिरुत्कर्षवर्णनस्याशक्यत्वं निरूपयन्तः संस्तुवन्ति ययेति । भगवदीयानामिति बहुवचनेन लक्ष्मीगङ्गासरस्वतीतुलस्यो ज्ञेयाः । तत्र लक्ष्मीः पद्मजा, गङ्गा चरणपद्मजा, तथा तुलस्यपि, सरस्वती मुखपद्मजा "स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलास्यत" इति वाक्यतः । भगवदीयाः सर्वत उत्कृष्टाः, महाराजसेवकवत्, तेष्वप्युत्कर्ष एतयाऽऽधीयते । सर्वासामुत्कर्षः श्रीयमुनाकृतः । अत एतदुत्कर्षवर्णनस्याशक्यत्वं युक्तमेव । तेनेति चरणपद्मजात्वेन, 'कारणगुणाः कार्यगुणानां समारम्भका' इति न्यायाद्भगवच्चरणतुल्यगुणवत्यपि ।

अथ शब्द बताता है कि, अब यहाँ से नया प्रकरण आरंभ हो रहा है। इससे प्रभुचरणों का अभिप्राय यह है कि, अब तक के चार श्लोकों में श्रीयमुनाजी का उत्कर्ष बता कर आचार्यचरणों ने श्रीयमुनाजी की संस्तुति की और अब आगे के चार श्लोकों में 'श्रीयमुनाजी के उत्कर्ष का तो वर्णन करना भी शक्य नहीं है' यों कह कर **यया** इत्यादि शब्दों से संस्तुति कर रहे हैं।

प्रभुचरणों ने **भगवदीयानाम्** यों बहुवचन का प्रयोग किया है अतः भगवदीयों में श्रीलक्ष्मीजी, श्रीगंगाजी, श्रीसरस्वती और तुलसीजी ये चार समझने चाहिए। इनमें से श्रीलक्ष्मीजी कमल से प्रकटी हैं, श्रीगंगाजी भगवान के चरणकमल से प्रकटी हैं, उसी प्रकार तुलसीजी का भी निवास भगवान के चरणकमलों में ही है, और 'जिन्होंने ज्ञान की अधिष्ठात्री सरस्वतीदेवी को प्रेरित किया और वे अपने अंगों सहित वेद के रूप में उनके मुख से निकलीं, वे भगवान मुझ पर कृपा करें (श्री०भा-2/4/22)' इस वाक्यानुसार सरस्वती भगवान के मुखकमल से प्रकट हुई हैं। भगवदीय सभी से उत्कृष्ट होते हैं, जैसे कि किसी महाराज के सेवक ; प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि, इन भगवदीयों का भी उत्कर्ष अंततोगत्वा श्रीयमुनाजी के कारण ही है। इन सभी का उत्कर्ष/महिमा श्रीयमुनाजी द्वारा ही है। इसलिए जो इन सर्वोत्कृष्ट भगवदीयों के भी उत्कर्ष को बढ़ा रही हैं, स्वयं उनके उत्कर्ष का वर्णन करना अशक्य होना तो ठीक ही है- यह भाव है। **तेन** का अर्थ है- चरणपद्मजा होने के कारण श्रीगंगाजी भक्तिमार्गीया हैं क्योंकि 'कार्य जिसके द्वारा संपन्न हुआ होता है, उस कारण के गुण भी कार्य में आ जाते हैं' इस न्यायवाक्यानुसार भगवान के चरण भक्तिरूप हैं और उनके चरणकमल से प्रकट हुई होने के कारण स्वयं श्रीलक्ष्मीजी में भी भगवान के चरण के समान भक्ति के गुण आ गये और वे भक्तिमार्गीय हो गयीं- यह भाव है।

तथाभवदिति, प्रियत्वं भावयन्त्यभवत् । सेवतामिति त्वया मिलितायाः सेवनं कुर्वताम् । तथेति । पूर्वोक्तसकलसिद्धिदा अभवत् । सह कलाभिर्वर्तते सकलः पुरुषोत्तमस्तस्य सिद्धिः प्राप्तिस्तस्या दात्री मूले सेवतामित्यत्र चक्षिङोङित्करणादनुदात्तत्वप्रयुक्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वाच्छतृप्रत्ययो बोध्यः । पूर्वमिति पुराणेषु । अन्येति सरस्वतीसमागमनज उत्कर्षः । अत्र केचित्कमलजासपत्नीव यदिति प्रिये इति वा पठन्ति, तत्र मूलं मृग्यम् ।

तथाऽभवत् का अर्थ है- हे श्रीयमुनाजी ! आपसे संगम होने के कारण श्रीगंगाजी हरि को प्रिय लगे ऐसा कार्य करने वाली बन गयीं (यानि प्रभु की सेवा करने वाले जीवों की सृष्टि करने वाली बन गयीं)। **सेवताम्** (*जिन श्रीयमुनाजी से समागम करने के कारण चरणपद्मजा-गंगा मुरारी की प्रिय बन गयीं एवं उनकी(गंगाजी की)**सेवा करने वालों को** सकलसिद्धियाँ देने वाली बन गयीं*) इत्यादि शब्दों का अर्थ है- हे श्रीयमुनाजी ! आपसे मिलने के कारण श्रीगंगाजी अपनी सेवा करने वालों को **तथा** यानि सकलसिद्धियों को देने वाली बन गयीं। जो कला सहित हो उसे 'सकल' कहते हैं, सभी कलाओं के सहित तो केवल पुरुषोत्तम हैं अतः 'सकल' का अर्थ है- 'पुरुषोत्तमभगवान' ; यानि 'श्रीगंगाजी सकलसिद्धि देने वाली बन गयीं' का अर्थ हुआ- श्रीगंगाजी पुरुषोत्तम की सिद्धि या प्राप्ति कराने वाली बन गयीं। यद्यपि 'सेवताम्' शब्द न होकर 'सेवमानानाम्' शब्द

होना चाहिए था क्योंकि 'सेवृ' आत्मनेपद की धातु है और इसमें शानच् प्रत्यय होना चाहिए शतृ प्रत्यय नहीं परन्तु चक्षिङो ङित् सूत्र द्वारा 'सेवताम्' शब्द बना लिया गया है। **पूर्वम्** (*इसके पूर्व भी गंगा नदी का अन्य नदी के संग मिलकर उसका उत्कर्ष कह कर तत्पश्चात् भगवान के संग मिल कर भी उसका उत्कर्ष होना पढ़ा गया है, जैसा कि 'सा राजन् दर्शनादेव' इत्यादि श्लोकों में बताया गया है*) का अर्थ है- पुराणों में गंगा का ऐसा उत्कर्ष कहा गया है। **अन्यसंगति** (*इसके पूर्व भी गंगा नदी का अन्य नदियों के संग मिलकर उसका उत्कर्ष कहा गया है*) शब्द से प्रभुचरणों का तात्पर्य है- सरस्वती नदी के संग मिलने के कारण श्रीगंगाजी का उत्कर्ष कहा गया है (उदाहरणतया इलाहाबाद में त्रिवेणीसंगम के अन्तर्गत श्रीगंगाजी में सरस्वती नदी का संगम हुआ है)। कुछ लोग 'कमलजासपत्नीव यत्' पाठ के स्थान पर 'कमलजासपत्नी प्रिये' यों पाठ मानते हैं, जो कि ठीक नहीं है ; उनसे पूछना चाहिए कि वे ऐसा पाठ किस आधार पर मानते हैं ?

एतादृश्येति स्वसम्बन्धेन स्वसमानगुणसम्पादनकर्त्र्या । तत्रापीति पत्नीत्वेषि । त्वं तु प्रिया इति तथा सम्बोधनम् । इव यदिति पाठे, लक्ष्मीर्भवत्याः सपत्नी इव । त्वद्वत्पुष्टिमार्गीयलीलास्थभक्तानुगुणत्वसम्पादिकात्वाभावात् । त्वं तु सर्वदुःखहर्त्तुर्भगवतः प्रियाणां कलेः खण्डनकर्त्रीति महद्वैलक्षण्यम् । तेन न कापि त्वत्सदृशीति भावः सूचितः ।

अब **एतादृश्या** (*अतः आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- हे श्रीयमुना ! **तुम्हारे जैसी की** समानता क्या कोई कर सकती है ?*) इत्यादि शब्दों का अर्थ करते हैं। **एतादृश्या** का अर्थ है- अपना सम्बन्ध कराने के पश्चात् दूसरे में भी अपने समान ही गुणों का सम्पादन कराने वाली श्रीयमुनाजी से समानता कौन कर सकता है ? **तत्रापि** (*क्योंकि श्रीलक्ष्मीजी भगवान की पत्नी हैं और इस कारण वे श्रीयमुनाजी की सपत्नी हैं। **किन्तु** श्रीयमुनाजी तो भगवान की प्रिया हैं*) यानि भले ही श्रीलक्ष्मीजी भगवान की पत्नी हैं, फिर भी श्रीयमुनाजी तो भगवान की प्रिया हैं। **इव यत्** (ऐसी श्रीयमुनाजी की समानता लक्ष्मीजी की भाँति कौन कर सकता है ?) इत्यादि शब्दों का अर्थ है- श्रीलक्ष्मीजी तो हे श्रीयमुनाजी ! आपकी सपत्नी जैसी ही हैं परन्तु ठीक आपके जैसी के जैसी नहीं हैं क्योंकि वे आपके समान पुष्टिमार्गीयलीलास्थ भक्तों में अपने जैसे गुणों का सम्पादन नहीं कर सकतीं इसलिये आचार्यचरणों ने श्रीलक्ष्मीजी के लिये 'इव(जैसी)' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु ये नहीं कहा कि, श्रीलक्ष्मीजी पूर्णरूप से श्रीयमुनाजी की सपत्नी हैं, इसका कारण यह है कि जो कार्य श्रीयमुनाजी कर सकती हैं, वह कार्य श्रीलक्ष्मीजी करने में सक्षम नहीं है अतः आपश्री ने दोनों में पूर्णरूप से समानता न दिखाते हुए श्रीलक्ष्मीजी को 'इव' शब्द द्वारा 'सपत्नी जैसी' ही कहा, यह नहीं कहा कि श्रीलक्ष्मीजी श्रीयमुनाजी की सपत्नी **ही** हैं- यह भाव है। हे श्रीयमुनाजी ! आप तो सर्वदुःखहर्ता भगवान के प्रिय भक्तों के दोषों का खण्डन करने वाली हैं अतः ये आपकी महद् विलक्षणता है इसलिए आपके जैसी तो कोई है ही नहीं- यह भाव प्रभुचरणों ने सूचित किया है।

यतस्त्वं भक्तानुगुणा अतः प्रार्थ्यते । मम मनसि सदा स्थितिं कुरु, मनसि म इति मूले । मनसि त्वयि स्थितौ मनसः शुद्धत्वं सेत्स्यति । तस्मिन्सति सकलेन्द्रियाणां निर्दुष्टत्वमेव । अतश्चैकादशे भिक्षुगीतायां 'मनः परं कारणमामनन्ती'ति । 'मनोवशेन्ये ह्यभवं स्म देवा मनश्च नान्यस्य वशं समेति । भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः' । श्रुतिरपि तृतीयाष्टकब्राह्मणेऽन्तिमे प्रश्ने नवमानुवाके 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव । नान्यस्य मनो वशमन्वियाय, भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् स नो जुषाण उपयज्ञमागात्' आकूतीनामधिपतिं चेतसां च संकल्पजूतिं देवं विपश्चितम्, मनो राजानमिह वर्द्धयन्तः । उपहवेस्य सुमतौ स्याम । स्मृतिश्च 'मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति', 'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलमि'ति एतादृशि मनसि निर्दोषपूर्णगुणवत्यास्तवानवरतस्थितौ मनसो भावाधिष्ठानत्वाद्भावस्यापि तथात्वं भविष्यति । तस्मिंस्तथा सति चैकादशस्कन्धीयद्वादशाध्यायोक्तरीत्या गोपिकावल्लीलाप्रवेशः सुकरः ।

आचार्यचरणों का भाव यह है कि- कारण कि आप भक्तों के अनुकूल कार्य करने वाली हैं यानि भक्तों के दोषों को मिटाने वाली हैं अतः आपसे प्रार्थना की जा रही है कि- आप सदा मेरे मन में विराजें। इसका तात्पर्य यह है कि, जब मेरे मन में आप बस जायेंगी तो मन की शुद्धता हो जायेगी और मन शुद्ध होने से समस्त इन्द्रियाँ निर्दुष्ट हो ही जाती हैं। इसी कारण एकादशस्कंध के भिक्षुगीता में मन के लिये 'श्रुतियाँ और महात्माजन सुख और दुःख का परमकारण मन को ही बताते हैं(श्री०भा- ११/२३/४३)', 'सभी इन्द्रियाँ मन के

वश में हैं और मन किसी भी इन्द्रिय के वश में नहीं है। यह मन बलवान से भी बलवान अत्यंत भयंकर है। जो इसको अपने वश में कर लेता है, वही देव-देव सभी इन्द्रियों का विजेता है(श्री०भा-११/२३/४८) एवं तृतीय अष्टकब्रह्मण के अन्तिम प्रश्न के अन्तिम अनुवाक में 'मनसो वशे सर्वमिदं' यों कहा गया है। स्मृति में भी 'हे राजन् ! मन ही मनुष्य के पूर्वरूपों को तथा भावी शरीर आदि को भी बता देता है; और जिसका भावी जन्म होने वाला नहीं होता, उन तत्त्ववेत्ताओं की विदेहमुक्ति का पता भी उसके मन से ही लग जाता है(श्री०भा-४/२९/६६)', 'हे महाबाहो अर्जुन ! मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है, इसमें कोई संदेह नहीं है(भ०गी- ६/३५)' इत्यादि वाक्य कहे गये हैं। आचार्यचरणों का तात्पर्य यह कि, ऐसे मन में जब हे श्रीयमुनाजी ! आप जैसी गुणवान निरन्तर विराजेंगी तो चूँकि मन भावों का अधिष्ठाता है अतः मन के भाव भी आपके समान गुण वाले हो जायेंगे। और जब मन के भाव आप जैसे हो जायेंगे, तब एकादशस्कंध के बारहवें अध्याय में बतायी गयी रीति के अनुसार गोपिकाओं की भाँति भगवल्लीला में प्रवेश पाना सुगम बन जायेगा।

मूलान्वयस्तु, हे प्रिये ! यया समागमनतश्चरणपद्मजा मुररिपो: प्रियं भावुका अभवत्, सेवतां सकलसिद्धिदा च अभवत्, तया सदृशतामियात् कमलजा यत्सपत्नी, अस्तीति शेष: । एतादृश्या हरिप्रियकलिन्दया मे मनसि सदा स्थीयताम् । अस्मिन्पद्ये भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वं पञ्चमं ऐश्वर्यमुक्तम् ।।५।।

पूरे मूलश्लोक का अन्वय करें तो- हे प्रिये ! जिसके संग समागम होने के कारण चरणपद्मजा-गंगा मुररिपु-भगवान की प्रिय बन गयी है और जिसके संग समागम होने के कारण गंगाजी अपने सेवकों को सकलसिद्धियों को देने वाली बन गयी हैं, उन श्रीयमुनाजी की समानता भला कौन कर सकता है ? हाँ कमलजा-लक्ष्मीजी उनकी सपत्नी होने के नाते कुछ अंश में उनके समान हो सकती हैं। ऐसी हरिप्रिय के यानि भक्तों के दोषों का निवारण करने वाली कालिन्दी-श्रीयमुनाजी मेरे मन में सदा विराजें- ऐसा आचार्यचरणों का भाव है। इस पद्य में आचार्यचरणों ने भगवान के प्रिय भक्तों के दोषों का निवारण करने वाला श्रीयमुनाजी का पाँचवां ऐश्वर्य कहा है ॥५॥

एवमुत्कर्षवर्णनस्य सर्वेश्वरप्रियाज्ञाननिरूपणद्वारा अशक्यत्वं निरूप्य भगवदीयोत्कर्षसम्पादनकर्त्र्या: स्तुतेरशक्यत्वं निरूपयन्तोऽग्रिममवतारयन्ति एतादृश्यामिति । भगवत्प्रियकलिनिवारणकर्त्र्या नमनातिरिक्तं सेवनादिकं कर्त्तुं सुतरामशक्यम् । परं नमनपि दुर्लभमत: प्रार्थनमित्यत आहु: त्वयीति । मूले अत्यद्भुतमिति । अत्रैवं ज्ञेयम्, भगवांस्त्वद्भुतकर्मा, प्रमेयबलेन असाधनं यत्कामादिकं तत्साधनमिव कृत्वा स्वीयानुद्धरति । तदुक्तं सप्तमस्कन्धे, 'गोप्य: कामादि'त्यादिना । त्वं तु अत्यद्भुतचरित्रवती । अद्भुतत्वमेवाग्रे उपपादितम् । यत्सर्वान्जीवान् भावरहितान् साधनै: कामादिसहितान् जिह्वोपस्थपरायणान् अनंतिमजन्मसंभूतान् त्वद्रूपज्ञानेन सुतरां शून्यानपि पिपासाहेतुकपय: पानेनैव भगवत्प्रियान्करोषि । न भावमप्यपेक्षसे ।

इस प्रकार यहाँ तक आचार्यचरणों ने सर्वेश्वर-भगवान की प्रिया श्रीयमुनाजी के स्वरूप का ज्ञान करवा के श्रीयमुनाजी के उत्कर्ष का निरूपण होना अशक्य बता कर अब इसके आगे, भगवदीयों के उत्कर्ष का संपादन करने वाली श्रीयमुनाजी की तो स्तुति करनी भी अशक्य है- इसका निरूपण करते हुए अग्रिम ऐश्वर्य को **एतादृश्याम्** (*हे श्रीयमुनाजी ! आपके समान भगवान की प्रिया की तो नमन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सेवा/स्तुति करने में हम असमर्थ हैं ; अतः इस आशय से आचार्यचरणों ने यहाँ श्रीयमुनाजी को नमन ही किया है। वास्तव में तो श्रीयमुनाजी को नमन कर पाना भी दुर्लभ बात है अतः आपश्री* ***नमोऽस्तु*** *कह कर नमन करने की केवल प्रार्थना ही कर रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। प्रभुचरणों का तात्पर्य यह है कि, भगवान के प्रियजनों के दोषों का निवारण करने वाली श्रीयमुनाजी को **नमन के अतिरिक्त** उनकी सेवा करनी तो अशक्य है ही परन्तु उन्हें नमन कर पाना भी दुर्लभ बात है, अतः आचार्यचरण द्वारा श्रीयमुनाजी को नमन करने की प्रार्थना को प्रभुचरण **त्वयि** (*वास्तव में तो श्रीयमुनाजी को नमन करना भी दुर्लभ बात है अतः आपश्री* ***नमोऽस्तु*** *कह कर नमन करने की प्रार्थना ही कर रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। मूल में जो आचार्यचरणों ने 'अत्यद्भुत' पद लिखा है उसका भावार्थ यह समझना चाहिए कि, भगवान तो अद्भुतकर्मा हैं क्योंकि काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि जो भगवत्प्राप्ति में असाधन कहे जाते हैं, उन्हें भी वे अपने कृपाबल से

साधन जैसा बना कर अपने जीवों का उद्धार कर देते हैं। जैसा कि 'नारदजी ने युधिष्ठिर से कहा- गोपियों ने प्रेम के कारण, कंस ने भय से, शिशुपाल आदि ने द्वेष से, यदुवंशियों ने परिवारसम्बन्ध से, तुम लोगों ने स्नेह से और हम लोगों ने भक्ति से भगवान को प्राप्त किया है(श्री०भा-७/१/३०)' इस सप्तमस्कंधवाक्य में भी कहा गया है। किन्तु आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि- हे श्रीयमुने ! आपका चरित्र तो इससे भी अधिक अति-अद्‌भुत है ; और यही अद्‌भुतचरित्र आपश्री ने आगे बताया है कि, जो सभी भावरहित जीवों को, जो कि साधन के नाम पर केवल कामसहित हैं एवं अपना उदरपोषण करने में ही जुटे हुए हैं और ऐसे जिनको अभी अपना उद्धार होने में कई जन्म लगने वाले हैं और जो आपके स्वरूप को भी नहीं जानते, ऐसों को आप केवल आपका पान करने मात्र से ही भगवान का प्रिय बना देती हैं ; आप तो उनके भाव की भी अपेक्षा नहीं रखती कि वो आपका पान किस भाव से कर रहा है अतः आपका चरित्र तो अति अद्‌भुत है।

एतदेवाहुः **न जात्विति** । **जातु** कदाचिदपि यमयातना न भवति । यद्यपि भगवन्नामतो यमयातनाऽभावो भवति, तथापि गुरुषु मन्तुषु सत्सु भवत्यपि । प्रकृते तु मन्तुषु सत्स्वपि नेति महद्वैलक्षण्यम् । अत्र लौकिकीमुपपत्तिमाहुः **यमोऽपीति** । अत्रैवं ज्ञेयम्, यमक्रौर्यभिया जनानवता दिवाकरेण तत्तापनाशनायेयं प्रकटीकृताऽतस्तथा । जीवाश्च ये तत्पयःपानं कुर्वन्ति, तेषामेत्सुतत्वं भवति । तथा च, यमोपि स्वानुजाया माननीयायाः सुतान्कथं हन्ति ? तद्धिंसां तर्कितुमपि नेष्टेऽत उक्तम् उ इति । यद्यपि ते दुष्टास्तथापि स तु स्नेहवशात् स्वस्यापवादभयादतिशुद्धत्वाच्च तेषां नैवापकारं करोति । प्रत्युतोपकारमेव करोतीति भावः ।

इसी अत्यद्‌भुतचरित्र को बताते हुए आचार्यचरण **न जातु** (*हे श्रीयमुनाजी ! आपको सदा नमस्कार है। आपका चरित्र अद्‌भुत है क्योंकि उसे यमयातना भोगनी नहीं पड़ती, जो आपके जल का पान करता है*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका अर्थ है- श्रीयमुनाजी के जल का पान करने वाले को कभी भी यमयातना भोगनी नहीं पड़ती। यद्यपि भगवन्नाम लेने से भी यमयातना दूर हो जाती है तथापि यदि गुरु का अपराध किया हो तो यमयातना भुगतनी भी पड़ जाती है। किन्तु श्रीयमुनाजी तो दोष होने पर भी यमयातना मिटा देती हैं अतः ये तो उनकी महद् विलक्षणता है। इस बात को सिद्ध करने के लिये आपश्री **यमोऽपि** (*क्योंकि यम भी फ़िर अपनी भगिनी के पुत्र को कैसे दण्ड दे सकता है, भले ही वे दुष्ट भी क्यों न हों*) इत्यादि शब्दों से लौकिकदृष्टान्त भी दे रहे हैं। यम का दृष्टान्त देने का अर्थ ये समझना चाहिए कि, यमराज बड़े क्रूर थे और दिवाकर-सूर्य तो सभी जनों की रक्षा करने वाले हैं अतः यमराज से भयभीत हुए जीवों को दिवाकर-सूर्य ने यमराज के ताप से बचाने के लिये श्रीयमुनाजी को प्रकट किया अतः श्रीयमुनाजी यमराज की बहन हुईं। और जो जीव श्रीयमुनाजी के जल का पान करते हैं, वे श्रीयमुनाजी के पुत्र हो जाते हैं। अतः अब यमराज भी अपनी छोटी बहन मानी हुई श्रीयमुनाजी के पुत्रों को यातना कैसे दे ? यमराज तो उन्हें यातना देने का विचार भी नहीं कर सकता- यह बात बताने के लिए आचार्यचरणों ने 'उ' अव्यय (कथम्+उ= कथमु) का प्रयोग किया है। यद्यपि जीव तो दुष्ट हैं तथापि यमराज को अपने भाँजों से स्नेह है और उसे अपनी बदनामी होने का भी भय है और चूँकि वे श्रीयमुनाजी के पुत्र हैं अतः अति शुद्ध ही हैं इसलिये यमराज उनका अहित कर ही नहीं सकता उल्टे उनकी सहायता और करता है- यह भाव है।

एवं चरित्रस्य केवलपिपासाहेतुकपयःपानेन यमयातनाऽभावसम्पादनद्वाराऽत्यद्भुतत्वमुक्त्वाऽत्युत्कृष्टफलस्य श्रीगोपीजनवल्लभप्रियत्वस्य प्रापकत्वेन तस्य तथात्वमाहुः **प्रिय** इति मूले । श्रीकृष्णहार्दविदस्तव सेवनाच्चेतसस्त्वति प्रवणात्तत्स्मर्तॄणां सकलदुःखहर्तुः प्रीतिविषयो भवति । एतदेव दृष्टान्तेन विशदयन्ति **यथेति** । फलप्रकरणीयद्वितीयाध्याये 'यथान्तर्हिते प्रभौ सर्वलीलानुकरणं कृतवन्त्यो व्रजवरवध्वोप्येतत्पुलिनमागत्य भगवद्भावनया गानं कुर्वन्त्यः श्रुतय इव मनोरथान्तं लेभिरे' यथा च, व्रतचर्यायामेतत्सेवनं कुर्वन्त्यो 'मयेमा रंस्यथे'त्यादिरूपं फलं प्रापुस्तथाऽयमपि भवति । चतुर्विधा अपि गोप्यो यथा प्रीतिसुखभाजो जातास्तथाऽयमपीति ज्ञापनाय बहुवचनम् । दृश्यते हि लोकेपि देहिनां ज्ञानकर्मभक्तिभ्यो भगवति प्रीतिः, त्वत्सेवनात्तु निर्दोषपूर्णगुणविग्रहस्य सच्चिदानन्दस्य सदोषेषु जीवेषु प्रीतिरतस्तव चरित्रस्यात्यद्भुतत्वे किमु वाच्यम् । एवं चास्मिन्पद्ये भगवदीयोत्कर्षाधायकत्वं षष्ठमैश्वर्यं निरूपितम् ।

इस प्रकार से केवल प्यास मिटाने के लिये भी जो यमुनापान करता है, उसे भी यमयातना भुगतनी नहीं पड़ती, ऐसा श्रीयमुनाजी का अद्भुतचरित्र कह कर, अब श्रीयमुनाजी का चरित्र श्रीगोपीजनवल्लभ-भगवान के अतिप्रिय हो जाने की प्राप्ति कराने वाला अति उत्कृष्ट फल दिलाने वाला भी है- यह बात आचार्यचरण मूलग्रन्थ में **प्रियः भवति** (*आपके सेवन से जैसे गोपिकाएँ हरि की प्रिय बनीं, वैसे आपके जल का पान करने वाले जीव भी हरि के प्रिय बन जाते हैं*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि- हे श्रीकृष्ण के हार्द/मन को जानने वाली श्रीयमुने ! आपकी सेवा करने से जीव का चित्त आपमें लग जाने के कारण निरन्तर आपका स्मरण करने वाला जीव सकलदुःखहर्ता-भगवान का प्रिय बन जाता है। इसी बात को आपश्री दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए **यथा (आपके सेवन से जैसे गोपिकाएँ हरि की प्रिय बनीं, वैसे ही)** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। गोपिकाओं के दृष्टान्त से यह समझना चाहिए कि, जिस प्रकार फलप्रकरण के द्वितीय अध्याय में प्रभु के अन्तर्हित हो जाने के पश्चात् उनकी समस्त लीलाओं का अनुकरण करती हुई व्रजवधुएँ श्रीयमुनाजी के पुलिन पर आकर भगवद्भावना से परिपूर्ण होकर गाती हुई ऐसे पूर्णकाम हो गयीं जैसे कि श्रुतियाँ ब्रह्म का प्रतिपादन करते करते अन्त में जाकर कृतकृत्य हो जातीं हैं एवं जिस प्रकार व्रतचर्या के प्रसंग में श्रीयमुनाजी की सेवा करती हुई गोपिकाओं ने 'भगवान ने गोपियों से कहा- हे कुमारियों ! तुम आने वाली शरद् ऋतु की रात्रियों में मेरे साथ विहार करोगी(श्री०भा-१०/२२/२७)' इस वाक्यानुसार रास का फल प्राप्त किया, उसी प्रकार जीव भी श्रीयमुनाजी की सेवा करने से ऐसा ही फल प्राप्त करेगा- यह अर्थ है। रास में श्रीयमुनाजी के कारण राजस-तामस-सात्विक-निर्गुण ये चारों के चारों प्रकार की गोपिकाएँ भगवान से प्रेमसुख प्राप्त करने की भागी बनीं- यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने **गोपिकाः** यों बहुवचन का प्रयोग किया है। जबकि लोक में तो ऐसा देखा जाता है कि देहधारियों को ज्ञान, कर्म और भक्ति के द्वारा भगवान में प्रीति होती है, किन्तु हे श्रीयमुने ! आपकी सेवा करने से तो निर्दोष और पूर्णगुण वाले सच्चिदानन्द भगवान की उल्टे दोषयुक्त जीवों में प्रीति हो जाती है अतः आपके चरित्र की अति अद्भुतता के लिये क्या कहें ? इस प्रकार इस पद्य में आचार्यचरणों ने भगवदीयों के उत्कर्ष को बढ़ाने वाला श्रीयमुनाजी का छठा ऐश्वर्य निरूपित किया।

पदयोजना तु हे यमुने ! तुभ्यं नमोस्तु, यत्तव चरित्रमत्यद्भुतम् किं तत्, ते पयःपानतो जातु यमयातना न भवति, यमोपि दुष्टानपि भगिनीसुतान्कथमु हन्ति ! तव सेवनाद्गोपिका यथा तथा हरेः प्रियो भवति ।।६।।

पूरे श्लोक की पदयोजना इस प्रकार करें- हे श्रीयमुने ! आपको नमस्कार है, क्योंकि आपका चरित्र अति अद्भुत है; अति अद्भुतता क्या है ? यह कि आपके जल का पान करने से कभी भी यमयातना नहीं होती, क्योंकि यम भी अपनी बहन के पुत्रों को यातना कैसे दे सकेगा, फिर भले ही वे दुष्ट भी क्यों न हों। हे श्रीयमुने ! आपकी सेवा से जीव हरि का प्रिय बन जाता है, जैसे गोपिकाएँ बन गयीं थीं ॥६॥

एवं भगवदीयानां सेवतां गोपिकावद् भगवत्प्रियत्वरूपस्योत्कर्षस्य सम्पादनकर्त्र्याः स्तुतेरप्यत्यद्भुततमत्वेनाशक्यत्वं निरूप्याऽऽवरणानाच्छन्नभगवत्सेवोपयोगिदेहसम्पादनकर्त्र्याः स्तुतेरशक्यत्वं निरूपयन्तोऽग्रिममवतारयन्ति आवश्यक इति । अतःपरं प्रभुचरणाज्ञप्तानां श्रीगोकुलनाथानां लेखः । अवश्यं भव आवश्यकः, स चासौ देहे भवश्च, स चासौ धर्मश्च तथा 'देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुरि'तिदशमस्कन्धीयप्रथमाध्यायोक्तरीतिकस्तस्मिन्नपि सुरतश्रमजलजया त्वया सम्बन्धे सति 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगमि'त्युक्तरीतिकभक्तिलाभो यत्र, तत्रत्यानां तथाभवने कः सन्देह इति कैमुतिकन्यायेन तया यथा कथञ्चिद्देशिकेपि सम्बन्धेपि श्रीकृष्णे रतिः सुलभेति सूचितम् ।

इस प्रकार अपनी सेवा करने वाले भगवदीयों को गोपिकाओं की भाँति भगवान का प्रिय बना देने वाले उत्कर्ष का सम्पादन करने वाली श्रीयमुनाजी की तो स्तुति भी अति अद्भुत ही है अतः स्तुति करनी अशक्यतम है- ऐसा निरूपण करके अब आगे आवरणरहित भगवत्सेवा में उपयोगी देह का सम्पादन करने वाली श्रीयमुनाजी की स्तुति करने की अशक्यता का निरूपण करते हुए अग्रिम ऐश्वर्य को **आवश्यक** इत्यादि शब्दों से कहा जा रहा है। यहाँ से अब प्रभुचरणों की आज्ञानुसार श्रीगोकुलनाथचरणों ने टिप्पणी की है। जो अवश्य होना है, उसे

'आवश्यक' कहते हैं और जो देह में होता है, उसे 'दैहिक' कहते हैं। यानि देह के आवश्यक धर्म को आपश्री **'आवश्यकदैहिकधर्म'** शब्द से कह रहे हैं। 'जब शरीर का अन्त हो जाता है, तब जीव अपने कर्म के अनुसार दूसरे शरीर को ग्रहण करके अपने पहले शरीर को छोड़ देता है(श्री०भा-१०/१/३९)' इस श्लोक में कही रीति अनुसार ऐसी लौकिकदेह का भी भगवान के सुरतश्रमजल वाली आप श्रीयमुनाजी से सम्बन्ध हो जाने पर 'हे राजन् ! श्रीकृष्ण स्वयं पाण्डवों के और यदुवंशियों के रक्षक, गुरु, इष्टदेव, सुहृद्, और कुलपति थे। इस प्रकार भगवान भक्तों के अनेकों कार्य कर सकते हैं और उन्हें मुक्ति भी दे देते हैं, परन्तु, मुक्ति से भी बढ़कर जो भक्तियोग है, उसे सहज में नहीं देते(श्री०भा- ५/७/१८)' इस श्लोक में कहे अनुसार यद्यपि भक्ति प्राप्त होनी तो बड़ी कठिन है तथापि जब जीव को श्रीयमुनाजी से सम्बन्ध हो जाने पर भक्तिलाभ हो सकता है, तो जो वहीं श्रीयमुनाजी के निकट ही रह रहे हों, उन्हें भक्ति प्राप्त होने में क्या सन्देह है ? इस कैमुतिकन्याय के द्वारा श्रीगोकुलनाथजी ने यह बताया है कि, जिस किसी भी प्रकार से श्रीयमुनाजी से सम्बन्ध हो जाय, तब भी जीव को कृष्ण में प्रेम होना सुलभ बन जाता है।

अत एव नित्यलीलास्थानावृतवस्तुदर्शनाद्यर्थं प्रार्थ्यते तवेति । पूर्वोक्तधर्मवत्यास्तव सन्निधौ सेवासमये 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंसप्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ती'ति तृतीयस्कन्धोक्तप्रकारकनित्यलीलास्थानां समीपे योग: संयोगसम्बन्धो विद्यते यस्य यस्मिन्वैतादृशो नूतनतनोर्लाभोऽस्तु ।

अत एव आचार्यचरण उस नित्यलीलास्थानीय आवरणरहित वस्तु का दर्शन करने की प्रार्थना **तव सन्निधौ (हे मुकुन्दप्रिय श्रीयमुनाजी ! मुझे आपकी सन्निधि से तनुनवत्व प्राप्त हो जिससे फ़िर मुरारि में रति होनी दुर्लभ नहीं रहती इसलिये आपकी स्तुति हो)** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। ऐसी प्रार्थना का तात्पर्य यह है कि, हे पूर्व में कहे धर्मों वाली श्रीयमुनाजी ! आपकी सन्निधि में भगवत्सेवा करते समय जैसा कि 'हे माता ! मेरी निःस्वार्थभक्ति करने वाले मेरे भक्त तो सायुज्यमोक्ष की भी इच्छा नहीं रखते। वे तो मेरे अरुण-नयन एवं मनोहर मुखारविन्दों से युक्त मेरे परम सुन्दर और वरदायक दिव्य रूपों की झाँकी करते हैं और उनके संग बात भी करते हैं(श्री०भा- ३/२५/३५)' इस श्लोक में कहा गया है, वैसे नित्यलीला के जीवों का सामीप्य या उनसे सम्बन्ध हो सके ऐसी नूतनदेह की मुझे प्राप्ति हो।

ननु तनोर्नवत्वे प्रार्थिते एतद्देहावसाने यथाऽन्यसेवया फलं भवति तथैवात्रेति श्रीयमुनाया: सेवायां को वा विशेष इत्याशङ्क्य प्रकारभेदं वक्तुं तत्समाधानमाहु: एतेनेति । तनोर्नवत्वप्रार्थनेन पूर्वशरीरस्य लीलानुपयोगिदेहस्य निवृत्तिर्नितरां वर्त्तनम् । सत्ता सूचिता न तु नाश: । अन्यथा नवतनुवत्त्वं प्रार्थितं स्यात् । वक्ष्यमाणं एतावता शरीरपरिवर्तनमात्रेणे'ति व्याख्यानं चानुपपन्नं स्यात् । तेन यथा घटस्यामदशायां जलादिधारणसामर्थ्यं न । पुन: पाकदशायां सर्वधारणसामर्थ्यं मृत्त्वनिवृत्तिश्च । तथैवात्र लीलास्थजीवानां पुष्टिमार्गे स्थितानां श्रीयमुनासम्बन्धादर्वाक् आमघटवद्भगवल्लीलादर्शनादि सामर्थ्यं नास्ति । श्रीयमुनासम्बन्धे तु कृपया तनुनवत्वे जाते पक्वघटवल्लीलादर्शनानुभवादिविषयकं सामर्थ्यमुत्पद्यते । शरीरे लौकिकत्वनिवृत्तिश्चेति दिक् ।

वैसे तनु की नूतनता प्राप्त करने की प्रार्थना तो की जा रही है परन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि इस देह का अवसान होने के पश्चात् ही फल मिलने वाला हो, तो प्रश्न यह उथता है कि अन्य दूसरी सेवा का फल भी तो देह का अवसान होने के पश्चात् ही मिलता है ? फिर दूसरी सेवा का फल प्राप्त होने में और श्रीयमुनाजी की सेवा का फल प्राप्त होने की तुलना में श्रीयमुनाजी की कौन सी विशेषता सिद्ध हुई ? दोनों प्रकार की सेवा का फल देह का अवसान होने के पश्चात् ही तो प्राप्त हुआ ! तो दोनों प्रकार के फलों में अंतर बताने के लिये इस शंका का समाधान करते हुए आपश्री **एतेन** (*श्रीयमुनाजी जब ऐसी कृपा करती हैं तब पूर्वदेह की निवृत्ति हो जाती है और नूतनदेह प्राप्त होती है*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तनु की नूतनता प्राप्त करने का तात्पर्य यह है कि, पूर्वदेह जो लीला में अनुपयोगी थी, उस देह की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् यहाँ 'निवृत्ति' शब्द का अर्थ है- पूर्वदेह टिकी रहती है, यानि उसका अवसान नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि इसी देह की सत्ता बनी रहती है; 'तनुनवत्व' का तात्पर्य यह नहीं है कि इस देह का नाश ही हो जाता

है और कोई नयी देह प्राप्त होती है। यदि हमने कहा वैसा अर्थ न होता, तो आचार्यचरण 'नवतनुत्व(मुझे नया शरीर प्राप्त हो)' ऐसी प्रार्थना करते किन्तु आपश्री ने 'मुझे शरीर की नूतनता प्राप्त हो' ऐसी प्रार्थना की है। और साथ ही साथ श्रीगोकुलनाथजी ने भी 'शरीरपरिवर्तन हो जाने मात्र से ही मुररिपु में रति होनी दुर्लभतमा नहीं रहती' यों कहा है, अतः यदि हमारे कहे अनुसार अर्थ नहीं करेंगे तो फिर श्रीगोकुलनाथजी का ये व्याख्यान भी अप्रामाणिक हो जायेगा क्योंकि उन्होंने भी इसी शरीर के केवल परिवर्तन हो जाने की ही बात की है, शरीर मिट कर नया शरीर पाने की नहीं। इससे यह समझना चाहिए कि, जैसे घड़ा कच्ची दशा में जल आदि भरे जाने की सामर्थ्य नहीं रखता परन्तु जब अच्छी तरह पक जाता है तो उसमें सभी कुछ भरे जाने की सामर्थ्य आ जाती है और उस मिट्टी की भी सत्ता नहीं रहती जिससे वह बनाया गया होता है। ठीक इसी प्रकार पुष्टिमार्ग में भगवल्लीलास्थजीवों में श्रीयमुनाजी से सम्बन्ध होने के पूर्व कच्चे घड़े की भाँति भगवल्लीला का दर्शन कर पाने की सामर्थ्य नहीं होती। श्रीयमुनाजी से सम्बन्ध हो जाने के पश्चात् तो उनकी कृपा से तनु की नूतनता प्राप्त होने पर पके हुए घड़े के समान भगवल्लीला का दर्शन और उनका अनुभव विषयक सामर्थ्य उसमें आ जाती है। और साथ ही साथ शरीर में से लौकिकता की निवृत्ति भी हो जाती है।

मूलस्थास्यास्त्विति पदस्य तात्पर्यमाहुरिदमिति । हीनमध्यमानामपि उत्तमाधिकार्य्युपयुक्तालौकिकसामर्थ्यरूपफलसम्पादनकर्व्यास्तव कृपैव दुर्लभा, तस्यां तु सत्यां न किमपि दुर्लभतममिति वदन्नाहुरेतावतेति । ननु कदाचित्प्रारब्धदोषवशाद्भगवदीयानामपराधे जाते तज्जनिते भगवत्कृते प्रतिबन्धे चोद्भूते तस्याप्रतीकार्यत्वात्कथं रतिर्दुर्लभतमा नेत्याशङ्क्य मुररिपुपदस्याशयं ब्रुवन्तस्तत्समाधानमाहुः कदाचिदिति । कस्मिन्नपि काले भगवदीयानामपराधे जाते तेन च भक्त्युत्पत्तिविषयके भगवत्कृते प्रतिबन्धे जातेऽपि राजकन्यावत् सर्वदोषान्कायवाङ्मनोजानाधिदैविकादीन्कालजन्यदेहावस्थान्तरकृतान्भूतभविष्यद्वर्त्तमानान्निवार्य्य स्वकीयान्करिष्यतीति त्वत्कृपायां सत्यां न किमपि दुर्लभमिति सुष्ठूदितम् ।

श्रीगोकुलनाथचरण मूलग्रन्थ में आये '**अस्तु**' पद का तात्पर्य '**इदम्**'(*श्रीयमुनाजी की स्तुति भी जब स्वयं श्रीयमुनाजी कृपा करें, तब ही संभव हो सकती है, अन्यथा नहीं अतः आचार्यचरण श्रीयमुनाजी से स्तुति करने की प्रार्थना* ***अस्तु*** *शब्द से कर रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। जो फल उत्तमाधिकारियों को मिलता है, वह फल हीनमध्यमाधिकारियों को भी देने वाली हे श्रीयमुने ! आपकी तो कृपा प्राप्त होनी ही दुर्लभ है, यदि आपकी कृपा प्राप्त हो जाय तो फिर कुछ भी दुर्लभतम नहीं रह जाता- यह बात कहने के लिये आपश्री **एतावता** (*श्रीयमुनाजी जब ऐसी कृपा करती हैं तब पूर्वदेह की निवृत्ति हो जाती है और नूतनदेह प्राप्त होती है। यह भी श्रीयमुनाजी की ही कृपा से प्राप्त होता है अन्यथा नहीं*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ शंका यह होती है कि, कदाचित् प्रारब्धदोष के कारण कभी भगवदीयों का अपराध बन गया हो और उस अपराध के कारण भगवान सेवा में प्रतिबन्ध खड़े कर रहे हों और ऐसे भगवत्कृतप्रतिबन्ध दूर करने संभव भी न होते हों, तो फिर ये कैसे कहा जा सकता है कि, 'श्रीयमुनाजी की कृपा से भगवान में रति होनी दुर्लभतमा नहीं रहेगी' ! तो श्रीगोकुलनाथचरण मूलश्लोक में आए '**मुररिपु**' पद का आशय कहते हुए इस शंका का समाधान **कदाचित्** पद से कह रहे हैं। यहाँ आचार्यचरणों द्वारा 'मुररिपु' पद का प्रयोग करने का अर्थ यह है कि, किसी भी काल में भगवदीयों का अपराध बन गया हो और उसके कारण भक्ति उत्पन्न होने में भगवान द्वारा प्रतिबन्ध भी किया जा रहा हो, तब भी मुररिपु-भगवान ने जैसे राजकन्याओं का उद्धार किया था, वैसे ही काया-वाणी-मन, आधिदैविकी, कालजन्य, देह की अवस्था(आयु)से होने वाले दोष, भूत-भविष्य-वर्तमान इत्यादि में किये समस्त दोषों का निवारण करके वे जीवों को अपना बना लेंगे- इसलिये ठीक ही कहा है कि, हे श्रीयमुने ! आपकी कृपा हो तो कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

ननु श्रीयमुनाकृपया भगवत्कृतप्रतिबन्धापगमे किं गमकमित्याशङ्क्य मुकुन्दप्रिय इति सम्बोधनेन मूले मुररिपाविति समादधते । मुकुन्दप्रिय इति मुकुं मोक्षं ददातीति तथा । तत्प्रियात्वेन तत्समानशीलव्यसनवतीयमिति मोक्षदाने समर्था, अत एतत्कृपया

तदपगमने किञ्चित्रम् । अन्यथा मुकुन्दप्रियात्वं गच्छेत् । मोक्षस्वरूपं तु पद्मपुराणे, 'विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण' इति । श्रीभागवतेपि, 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था:' ।

किन्तु एक शंका यह होती है कि, श्रीयमुनाजी की कृपा से भगवान द्वारा खड़े किये गये प्रतिबन्ध भी दूर हो जायेंगे- इस बात में क्या प्रमाणं है ? तो श्रीगोकुलनाथचरण मूलश्लोक में आये **'मुकुन्दप्रिये'** इस सम्बोधन का अर्थ बता कर इस शंका का समाधान कर रहे हैं। 'मुकुं' का अर्थ होता है- मोक्ष ; जो मोक्ष देता हो उसे 'मुकुन्द' कहते हैं। ऐसे मुकुन्द-भगवान की प्रिया होने के कारण श्रीयमुनाजी भी मुकुन्द-भगवान के समान गुण वाली हैं अतः वे भी मोक्ष देने में समर्थ हैं, इसलिये यदि श्रीयमुनाजी की कृपा हो जाये तो फिर भगवत्कृतप्रतिबन्ध दूर होने में भी क्या आश्चर्य है। यदि श्रीयमुनाजी ऐसा कर पाने में सक्षम न होतीं, तो फिर 'मुकुन्दप्रिया' भी कैसे कहलातीं ! क्योंकि मोक्ष का स्वरूप तो पद्मपुराण में 'विष्णु का सेवक हो जाना ही मोक्ष है- ऐसा विद्वान कहते हैं' इस वाक्य द्वारा कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि सेवा करने से मोक्षप्राप्ति होती है। श्रीभागवत में भी मोक्ष के स्वरूप के लिये 'भगवदीय हो जाने से ही समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं(श्री०भा- ५/६/१७)' यों कहा गया है।

यद्वा, 'यतोपराधस्तत एव मुक्तिरि'ति नियमाद्भक्तद्रोहे जाते तत्सेवनादेव तन्निवृत्ति: । अन्यथाम्बरीषोपाख्याने 'क्षमापय महाभागं ततः शांतिर्भविष्यती'त्युक्तमनुपपन्नं स्यात् । तथा च, सर्वभक्तशिरोमणे: श्रीयमुनाया: सेवनादेतत्प्रसन्नतया 'यथा तरोर्मूलनिषेचनेने'तिवत्सर्वभक्तप्रसन्नतायां भगवत्कृतप्रतिबन्धापगम इति नानुपत्ति: काचित् । एवं च विवेकधैर्याश्रयसेवाफलग्रन्थयोर्वक्ष्यमाणो 'भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते । अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिरि'ति, 'पुष्टौ नैव विलम्बयेदि'ति च भगवत्कृतप्रतिबन्धापगमने य: प्रकार: स एवात्र मुकुन्दप्रियापदेन सूचित इति दिग् ।

अथवा तो, 'जिसका अपराध किया हो, वहीं उस अपराध से मुक्त कर सकता है' इस नियमानुसार यदि हम भक्त का द्रोह करें तो केवल वही भक्त उस अपराध से हमें मुक्त कर सकता है, जिस भक्त का अपराध किया हो। यदि ऐसा नियम न होता तो अम्बरीषोपाख्यान में 'दुर्वासाजी ! आप राजा अम्बरीष के पास जाइये और उनसे ही क्षमा माँगिये(श्री०भा- ९/४/७१)' यह वाक्य अप्रामाणिक हो जाता जिसमें भगवान ने दुर्वासजी को सुदर्शनचक्र से बचाने के लिये खुद उनकी सहायता न करके उन्हें राजा अम्बरीष के पास ही भेजा। उसी प्रकार भगवान के समस्त भक्तों में शिरोमणि श्रीयमुनाजी की सेवा करने से जब श्रीयमुनाजी प्रसन्न होती हैं, तो उनकी प्रसन्नता से 'यदि वृक्ष की जड़ का सिंचन किया जाय तो वह उसकी शाखाओं में अपने आप ही पहुँच जाता है(श्रीमद्भागवत,4.3.14)' इस वाक्यानुसार समस्त भक्तों की प्रसन्नता होने से भगवत्कृतप्रतिबन्ध भी दूर हो ही जाता है- इसमें कुछ भी अप्रामणिक नहीं है। इसी बात से विवेकधैर्याश्रयग्रन्थ में कहा 'भक्त का द्रोह किया हो, भक्ति का अभाव हो, भक्तों ने कोई अत्याचार किया हो, अशक्य-सुशक्य सभी परिस्थितियों में सर्वथा हरि की शरण ही एकमात्र उपाय है(११)' एवं 'पुष्टिमार्ग में प्रभु फलदान करने में विलम्ब नहीं करते(सेवाफलम्-६)' इत्यादि वाक्यों में भगवत्कृतप्रतिबन्ध दूर होने का जो उपाय कहा गया है, वही प्रकार यहाँ श्रीयमुनाजी को 'मुकुन्दप्रिया' कहने के द्वारा सूचित कर दिया गया है अर्थात् श्रीयमुनाजी की सेवा करने से यदि वे प्रसन्न हो गयीं तो सभी भगवत्कृतप्रतिबन्ध भी दूर हो जायेंगे- यह भाव है।

उत्तरार्द्धमवतारयन्ति अत इति । यत: शरीरनिवृत्तिकृन्मुकुन्दप्रियत्वसम्पादनकृच्छ्रीयमुनाकृपया सर्वसौलभ्यमतो हेतोर्यावता कालेन इदानीं स्थितस्य अलौकिकसामर्थ्यशून्यस्य देहस्य निवृत्ति: परिवर्त्तनं तावत्कालं तव पूर्वोक्तधर्मवत्या लालना प्रेमविवशतया गुणगणकथनं सा स्तुतिरूपा भवतु । अस्तुपदस्य तात्पर्यमाहु: सापीति । लालनापि भगवत्कृतप्रतिबन्धेपि रक्षिकायास्तव कृपया सामर्थ्यभावेनैव सम्पत्स्यते, नान्यथा । इतरथा 'तदान्यसेवापि व्यर्थे'तिसेवाफलविवृतौ वक्ष्यमाणमनुपपन्नं स्यात् । एतत्सेवा तु भक्तसेवैवेति स्फुटमुक्तम्, तव सर्वभक्तमूलत्वात् ।

अब श्रीगोकुलनाथचरण श्लोक के उत्तरार्ध की व्याख्या **अतः** *(इस कारण जब तक इस आधुनिक शरीर की निवृति न हो जाये, और अलौकिक शरीर की प्राप्ति न हो जाय, तब तक हे श्रीयमुनाजी ! हम आपकी*

लालना/स्तुति करते रहें) इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, चूँकि शरीरनिवृति करने वाली एवं मुकुन्द का प्रिय बनाने वाली श्रीयमुनाजी की कृपा से सभी कुछ सुलभ है अतः जब तक इस समय विद्यमान अलौकिकसामर्थ्यशून्य इस देह की निवृति यानि कि देह का परिवर्तन न हो जाय, तब तक पूर्व में कहे धर्मों की सामर्थ्य रखनेवाली श्रीयमुनाजी की लालना अर्थात् उनके प्रेम के वशीभूत होकर उनके गुणों की वर्णनरूपा स्तुति हम करते रहें- यह अर्थ है। मूलग्रन्थ में कहे **अस्तु** पद का तात्पर्य श्रीगोकुलनाथचरण **सापि** (श्रीयमुनाजी की स्तुति भी जब स्वयं **श्रीयमुनाजी** कृपा करें **तब ही संभव हो सकती है, अन्यथा नहीं अतः** आचार्यचरण श्रीयमुनाजी से स्तुति करने की **प्रार्थना अस्तु** शब्द से कर रहे हैं) पद से कह रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, भगवत्कृतप्रतिबन्धों से भी जीवों की रक्षा करने वाली हे श्रीयमुने ! आपकी लालना/स्तुति भी हम आपकी कृपा से यानि आपकी सामर्थ्य से ही कर पायेंगे, अन्यथा नहीं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो फिर सेवाफलग्रन्थ की विवृति में कहा 'जब भगवत्कृतप्रतिबन्ध होता है, तब अन्य किसी की भी सेवा काम नहीं आती, व्यर्थ चली जाती है' यह श्रीआचार्यचरणों का वाक्य अप्रामाणिक हो जायेगा, इसलिये इस वाक्यानुसार श्रीयमुनाजी की सेवा/कृपा से ही भगवत्कृतप्रतिबन्ध दूर हो सकता है, **श्रीयमुनाजी के अतिरिक्त अन्य किसी की भी सेवा करने से नहीं- यह भाव है।** और श्रीयमुनाजी की सेवा तो अंततोगत्वा भक्तों की ही सेवा है, यह बात स्पष्टतया कह दी गयी है क्योंकि श्रीयमुनाजी सभी भक्तों की मूलस्वरूपा हैं।

ननु गङ्गाया यद्यपि 'सन्निवेश्य मनो यस्मिंश्छ्रद्धं यामुनयोमलाः । त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मतामि'त्यादिरूपं यस्यां स्नानार्थं पानार्थं वा गच्छतः पुंसः पदे पदेश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्लभमि'त्यादिरूपं च फलदात्रीत्वं श्रूयते, तथापि, यथाधिकारमलौकिकसामर्थ्यादिफलसाधकत्वं स्मरश्रमजलजायास्तव संमिलनादेवेत्यत आहुः गङ्गाया इति । सुरधुनीति । धुञ्कम्पने । धुनोति तीरस्थवीरुधो द्रुमानिति धुनी । क्विप्नेति क्विप् । पृषोदरादित्वान्नुक् । नान्तत्वान्ङीप् । सुराणां धुनी, देवलोकनदीति, कौ तु त्वत्संगमादेव स्तुता ।

वैसे तो गंगाजी का भी "गंगाजी भगवान के चरणकमल से निकली हैं अतः वे भी यदि भगवान की तरह तीनों गुणों के बन्धनों को काट देती हों, तो इसमें कौन सी बड़ी बात है(श्री0भा-9/9/15)" , 'इसमें स्नान करने के लिये आने वालों को पद-पद पर अश्वमेध और राजसूय आदि यज्ञों का फल मिलना भी दुर्लभ नहीं है(श्री०भा-५/१७/९)' इस प्रकार का स्वरूप एवं उसका फलदात्री होना सुना जाता है, उन सभी फलों की बात तो खैर ठीक है तथापि जहाँ तक जीव के अधिकारानुसार उसे अलौकिकसामर्थ्य आदि फल देना तो हे भगवान के स्मरश्रमजल से उत्पन्न होने वाली श्रीयमुने ! आपसे मिलने के कारण ही गंगाजी के लिये संभव बन पाता है- इस बात को कहने के लिये श्रीगोकुलनाथचरण **गंगायाः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'सुरधुनी' शब्द में 'धुञ्' धातु(पाणिनी धातुपाठ/भ्वादिगण/१२५५)का अर्थ होता है- कम्पन। यानि कि लहरों से अपने तीर पर स्थित वृक्षों को जो कंपा दे, हिला दे, उसे 'धुनी' अर्थात् नदी कहते हैं। और सुरों की नदी अर्थात् देवलोक की नदी को 'सुरधुनी' यानि कि गंगा कहते हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- पृथ्वी पर तो गंगाजी की स्तुति हे श्रीयमुने ! आपके कारण ही की गयी है।

लोके कथादिषु माहात्म्येषु च 'गङ्गाद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे', 'सर्वत्र दुर्लभा गङ्गे'त्यादिवचनेषु श्रीयमुनासम्मिलनात्पूर्वमपि श्रीहरिद्वारकनखलक्षेत्रादिषु च मुक्तिदात्रीत्वं श्रूयते, तदाक्षिपन्नाहुः नन्विति । विशेषमिति, अधिकारिभेदेन किञ्चित्प्रकारे नानात्वम् पुष्टीति व्याकुर्वन्ति ।

किन्तु एक बात यह भी है कि, लोक में गंगा की कथाओं एवं माहात्म्य आदि में 'गंगाद्वार, प्रयाग एवं सागरसंगम पर पुण्य एवं मुक्ति देने वाली भगीरथी गंगा हैं(ब्रह्मपुराण- ७७/३,४,५)' , 'सर्वत्र गंगास्नानफल प्राप्त होना दुर्लभ है परन्तु गंगाद्वार, प्रयाग और गंगासागरसंगम इन तीन स्थानों पर इसका फल अधिक प्राप्त होता है। इन तीन स्थलों पर गंगास्नान करने वाला स्वर्ग प्राप्त करता है और उसे पुनः मनुष्ययोनि में आना नहीं पड़ता(नारदीयपुराण/उत्तरभाग-२६,२७)' इत्यादि वचनों में तो श्रीयमुनाजी से मिलने से पूर्व भी श्रीहरिद्वार एवं कनखल आदि क्षेत्रों में गंगाजी मुक्ति देती हैं, यह सुना गया है- इस आक्षेप का स्पष्टीकरण करने के लिये

श्रीगोकुलनाथचरण इसे **ननु** (*किन्तु किसी को यह शंका हो सकती है कि, पुराण आदि शास्त्रों में तो केवल गंगाजी की ही स्तुति का वर्णन दिखाई देता है, श्रीयमुनाजी का नहीं, तो फिर श्रीयमुनाजी की स्तुति में क्या* ***विशेषता*** *है ?*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका प्रत्युत्तर श्रीगोकुलनाथचरण **विशेषं** इत्यादि पदों से देते हुए यह आज्ञा कर रहे हैं कि, अन्यों की तुलना में पुष्टिमार्गीय भिन्न होते हैं और वे गंगाजी की स्तुति श्रीयमुनाजी से मिली होने की विशिष्टता के कारण ही करते हैं- इस बात को आपश्री **पुष्टौ** इत्यादि शब्दों से समझा रहे हैं।

मर्यादेति । वेदोपनिषत्पुराणादिश्रवणेन यथार्थभगवन्माहात्म्यज्ञानम्, तस्मिन्सति तत्रोक्तसाधनानुष्ठानं तेन च स्वरूपज्ञानम्, तस्मिन्सति मुक्तिरिति मर्यादामार्गः । निजजनानुद्दिधीर्षुर्भगवान्दयया निस्साधनान् अनुगृह्य लीलासृष्टौ प्रवेशयतीति पुष्टिमार्गः । एवं च मर्यादामार्गीयाणां शास्त्रश्रवणैकहेतुकज्ञानवत्त्वम् । तत्र च सृष्टिस्थित्यर्थं तदिच्छयैव तत्स्वरूपं गूढरीत्योक्तम् । तथा च श्रुतिः । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चने'ति । अत्र वागगोचरस्तुतिकस्य मनोध्यानाविषयस्य ब्रह्मण आनन्दविदुषोऽकुतोभयवत्त्वमुच्यते, तेन तदानन्दविद्त्त्वं तदिच्छयैवेति भासतेऽन्यथा वाङ्मनोऽगोचरत्वमनुपपन्नं स्यात् । एवं च पुष्टिस्थानां त्विच्छयैव सर्वलीलाविशिष्टस्वरूपज्ञानं भगवान्हृदि निधत्त इति ते श्रीयमुनायाः सर्वाङ्गीणश्रमजलजायाः स्वरूपं जानन्ति । इतरेषां तु 'द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिष्वि'त्यादिप्रभुदत्ताज्ञाकरुद्रादिकलाभिर्ब्रह्मणादिभिर्भ्रान्तत्वान्न तेषां भगवत्स्वरूपज्ञानम्, कुतः श्रीयमुनापर्यन्तमिति ते स्तुतिं केवलगङ्गाया इति मन्यन्तेऽदीर्घदृक्त्वात् ।

पुष्टिमार्गीयों की ही बात समझाने के लिये श्रीद्वारिकेशचरण पहले मर्यादामार्ग की पद्धति समझा रहे हैं तत्पश्चात् पुष्टिमार्गीयभाव समझायेंगे । आपश्री के **मर्यादामार्गीयैः** पद के अनुसार मर्यादामार्ग की पद्धति है- वेदोपनिषत्पुराण आदि के श्रवण द्वारा यथार्थरूप में भगवान के माहात्म्य का ज्ञान होना, फिर ज्ञान हो जाने के पश्चात् मर्यादामार्ग में कहे साधनों का अनुष्ठान करना, तत्पश्चात् उससे भगवान के स्वरूप का ज्ञान होना, और स्वरूपज्ञान हो जाने के पश्चात् जीव की मुक्ति होती है- यह मर्यादामार्ग है। और निजजनों का उद्धार करने की इच्छा रखने वाले भगवान जब दया करके निःसाधनजनों पर अनुग्रह करके उन्हें अपनी लीलासृष्टि में प्रवेश दिलाते हैं, तो इसे पुष्टिमार्ग कहते हैं। यों मर्यादामार्गीयों को तो केवल शास्त्रश्रवण करने से ही ज्ञान प्राप्त होता है। और सृष्टिप्रवाह निरन्तर चलता रहे इस कारण शास्त्रों में तो भगवान की ही इच्छानुसार भगवान का स्वरूप बड़ी गूढ़ रीति से कहा गया है क्योंकि यदि अधिकारी-अनधिकारी सभी लोगों को भगवत्स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो जाये, तो सभी मुक्त हो जायेंगे और तब सृष्टिक्रम चलेगा कैसे ? इसलिये। इसी कारण श्रुति में भी 'ब्रह्म का वर्णन वाणी नहीं कर सकती एवं मन भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता(तैत्ति०उप- २/९/१)' यों कहा गया है। इस श्रुति में बताया गया है कि, वाणी से न कहा जा सकने वाला और मन में भी ध्यान न किया जा सकने वाला ब्रह्म का आनन्द ऐसा है कि जिस आनन्द को जान लेने वाला निर्भय हो जाता है। इससे यह भासित होता है कि, ब्रह्म के आनन्द को ब्रह्म की ही इच्छा से जाना जा सकता है। अन्यथाः यानि यदि ऐसा नहीं मानेंगे, तो इस श्रुति में कही 'ब्रह्म का वर्णन वाणी नहीं कर सकती एवं मन भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता' यह बात झूठी सिद्ध हो जायेगी; इसलिये इस विवेचन से यह समझना चाहिए कि, पुष्टिमार्गीयों को तो भगवान अपनी इच्छा से ही अपनी समस्त लीलाओं के स्वरूप का विशिष्टज्ञान हृदयारूढ़ करवाते हैं अतः पुष्टिमार्गीय ही प्रभु के सर्वांगीण श्रमजल से उत्पन्न होने वाली श्रीयमुनाजी के स्वरूप को जान सकते हैं, अन्य नहीं। अन्यों को तो 'हे रुद्र ! मोहशास्त्रों की रचना करो, जिससे मेरा माहात्म्य लुप्त हो जाय (पद्मपुराण-उत्तराखण्ड/६/७१/१०६:१०९)' इत्यादि श्लोकानुसार प्रभु द्वारा आज्ञाप्राप्त रुद्र के अंशरूपी ब्राह्मणों आदि द्वारा भ्रान्त कर दिये जाने के कारण उन्हें जब भगवान के ही वास्तविकस्वरूप का ज्ञान नहीं होता, फिर श्रीयमुनाजी के स्वरूप तक तो वे कहाँ से पहुँच पायेंगे ? अतः वे ऐसा मानते हैं कि पुराण में जो स्तुति है, वह केवल गंगाजी की ही स्तुति है, और ऐसा उन्हें इसलिये लगता है क्योंकि उनके पास श्रीयमुनाजी के स्वरूप को जानने की दीर्घदृष्टि नहीं होती।

पुष्टिस्थातु पुराणादौ या स्तुतिः केवला या दृश्यते सापि त्वत्सम्बन्धादेवेति यथायथं त्वत्स्वरूपज्ञानात् स्तुवन्ति । एतेषामेतन्माहात्म्यावगतेरित्येतदभिप्रेत्य मर्यादेत्यारभ्य पुष्टिस्थितैरित्यन्तमुक्तमिति ।

किन्तु पुष्टिमार्गीय तो यदि गंगा की स्तुति करते भी हैं, तो वो इसलिये, क्योंकि वे जानते हैं कि पुराणों में जो गंगाजी की स्तुति की गयी है, वह श्रीयमुनाजी के संग उनका सम्बन्ध होने के कारण ही की गयी है अतः हे श्रीयमुने ! वे आपके यथावत् स्वरूप का ज्ञान रखते होने के कारण ही आपकी स्तुति करते हैं। गंगाजी की स्तुति करने वाले पुष्टिमार्गीय श्रीयमुनाजी के माहात्म्य से अवगत हैं- इस बात को बताने के लिये श्रीगोकुलनाथचर्णों ने **मर्यादामार्गीयैः** से लेकर **पुष्टिस्थितैः** तक की पंक्ति लिखी है।

मूलान्वयस्तु, भो मुकुन्दप्रिये ! तव सन्निधौ मम तनुनवत्वमस्तु, एतावता मुररिपौ रतिर्दुर्ल्लभतमा नास्तीति शेषः, यत एवं, अतस्तव लालनाऽस्तु, सुरधुनी पुष्टिस्थितैः त्वत्सङ्गमात्परं कीर्तिता, न तु कदापि त्वद्रहितापीति शेषः । एवं चास्मिन्पद्ये भगवति रतेरदुर्ल्लभत्वकथनेन भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वसप्तममैश्वर्यं प्रोदितम् ।।७।।

मूलश्लोक का व्यवस्थित अन्वय इस प्रकार से होगा- 'हे मुकुन्दप्रिये श्रीयमुने ! आपकी सन्निधि से मुझे तनु की नूतनता प्राप्त हो, और उस नूतनता से मुररिपु में रति-प्रेम होना दुर्लभतम नहीं रह जायेगा। इसी कारण हम आपकी लालना-स्तुति करते हैं, पुष्टिमार्गीयों ने गंगाजी की स्तुति यदि की भी है, तो इस कारण की है क्योंकि गंगाजी का सम्बन्ध आपसे हुआ है, यदि आपसे सम्बन्ध न हुआ होता, तो वे कभी भी गंगाजी की स्तुति न करते'। इस प्रकार से आचार्यचरणों ने इस पद्य में श्रीयमुनाजी की कृपा से भगवान में रति/प्रेम होना दुर्लभतम नहीं रहेगा- इस कथन द्वारा श्रीयमुनाजी में भगवान का प्रिय बना देने वाला सातवां ऐश्वर्य विशेषरूप से कहा है ॥७॥

एवं भगवत्प्रियत्वसम्पादिकायाः स्तुतेरशक्यत्वं निरूप्य पूर्वश्लोके प्रार्थितस्य तनुनवत्वस्य प्रकारं तत्सम्पादिकात्वमशक्यस्तुतिकत्वे हेतुं च वदन्तः कैमुतिकन्यायेनाऽग्रिममवतारयन्ति यत्रेति ।

लीलासृष्टौ सर्ववन्द्यत्रिविधजीवस्तुत्यगङ्गायाः स्तुतिः उत्कर्षवर्णनं त्वत्सम्बन्धात्तत्र त्वदुत्कर्षकथने को वा समर्थः ? हेतुं स्फुटयन्तोऽवतारयन्ति अशक्येति । सर्वत्रेति, लोके वेदे च स्तवनीयत्वं पुरुषोत्तमसंयोगादेव । 'तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यंह्रीस्त्यागः सौभगं भगः, वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशक इति, 'यद्यद्विभूतिमदि'तिवाक्येन च निश्चितम् । स पुरुषोत्तमसम्बन्धः सर्वत्र आब्रह्मस्थावरादिषु लक्ष्म्यपेक्षया अल्पः, तस्यास्तद्वक्षसि स्थितत्वात् । न हीतरस्तत्र क्षणमपि स्थाप्यतेऽत एवं सर्वेषां लक्ष्मीतो न्यूनतां स्फुटीकृत्य श्रीयमुनायास्तत आधिक्यं स्फुटयन्ति त्वन्त्विति ।

इस प्रकार से भगवान का प्रिय बना देने वाली श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी तो अशक्य है- इस बात का निरूपण करके आचार्यचरणों ने जो पूर्वश्लोक में तनुनवत्व की प्रार्थना की थी, वह प्राप्त होने का प्रकार एवं तनुनवत्व प्राप्त कराने वाली श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी अशक्य क्यों है, इसका भी कारण कहते हुए कैमितुकन्याय द्वारा श्रीयमुनाजी का अग्रिम ऐश्वर्य श्रीगोकुलनाथचरण **यत्र** (*हे श्रीयमुनाजी ! जहाँ आपसे सम्बन्ध होने के कारण ही सभी के द्वारा वन्दित गंगाजी की स्तुति होती हो, वहाँ स्वयं आपकी स्तुति करने में तो कौन समर्थ है*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि, जहाँ लीलासृष्टि में सत्त्व-रज-तम त्रिविध प्रकार के सभी जीवों के द्वारा वन्दित श्रीगंगाजी की स्तुति के उत्कर्ष का वर्णन ही हे श्रीयमुने ! आपसे सम्बन्ध हुआ होने के कारण है, वहाँ स्वयं आपकी स्तुति करनी में तो कौन समर्थ हो सकता है ? इसके हेतु को स्पष्ट करने के लिये आगे आपश्री ने **अशक्य** (*श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी अशक्य क्यों है, इसका कारण आपश्री* ***कमलजासपत्नि*** *शब्द से कह रहे हैं*) इत्यादि वाक्य लिखे हैं। **सर्वत्र स्तुत्यत्वं भगवत्सम्बन्धात्** वाक्य से श्रीगोकुलनाथचरणों का तात्पर्य यह है कि- लोक, वेद इत्यादि सर्वत्र स्थलों पर जिस किसी की भी स्तुति होती है, वह उसका भगवान-पुरुषोत्तम से सम्बन्ध हुआ होने के कारण ही होती है। जैसा कि 'भगवान ने उद्धवजी से कहा- जिसमें भी तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, सौंदर्य, सौभाग्य, पराक्रम जैसे श्रेष्ठ गुण हों, वह मेरा ही अंश है(श्री०भा- ११/१६/४०)', 'हे अर्जुन ! इस संसार में जो कुछ भी पदार्थ हैं, विभूतिमान हैं, श्री धारण करने वाले हैं, शक्तिमान हैं, श्री-लक्ष्मी युक्त हैं, उन

सभी को मेरे अंश से ही उत्पन्न हुए जानो(भ०गी- १०/४१)' इत्यादि वाक्यों में निश्चयपूर्वक कहा भी गया है। अब यह पुरुषोत्तम से होने वाला सम्बन्ध **सर्वत्र** यानि स्थावर-जंगम वस्तुओं से लेकर ब्रह्माजी पर्यन्त सभी में श्रीलक्ष्मीजी की तुलना में देखें तो अल्प ही होता है, क्योंकि श्रीलक्ष्मीजी का निवास तो सीधे-सीधे भगवान के वक्षस्थल पर ही है अतः श्रीलक्ष्मीजी का पुरुषोत्तम से सम्बन्ध सभी की तुलना सबसे अधिक है। भगवान श्रीलक्ष्मीजी के अतिरिक्त अन्य किसी को तो क्षणमात्र के लिये भी अपने वक्षस्थल पर स्थान नहीं देते अतः श्रीगोकुलनाथचरण सभी को श्रीलक्ष्मीजी से न्यून बता कर और श्रीयमुनाजी की श्रीलक्ष्मीजी से भी अधिकता **त्वं तु** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

लक्ष्म्या एकपतिकेति तत्सदृक्सौभाग्ययुता । व्रजे चतस्रः स्वामिन्यस्ता व्रजलीलायामेव सर्वसुखानुभवं कुर्वन्ति । अन्यत्र लीलायां तु तासां विप्रयोगानुभव एव । लक्ष्मीस्तु व्रजरत्नानां क्रीडावकाशे सुखानुभवं करोति । तदुक्तं श्रीमदाचार्यवर्यैः सुबोधिन्याम् 'तासामाविरभूदि'त्यस्य व्याख्यावसरे । तथा हि, 'अथवा, व्यापिवैकुण्ठरूपेण एतावत्कालं लक्ष्म्या सह रमणं कृत्वा तेनैव रूपेण प्रादुर्भूतः । स्रग्वी वनमालायुक्तश्च, मध्ये ब्रह्मादिपूजां च गृहीतवान्, लक्ष्म्या वा, अतो विलम्ब' इत्यपि सूचितम् । अत एव प्रथमश्लोके पूर्वाध्याये 'श्रयत इन्दिरे'त्युक्तमिति 'जयति तेधिकमि'त्यस्य व्याख्यायां च 'कदा ममावसरो भविष्यतीति निरन्तरं सेवते' इति ।

आपश्री यह आज्ञा करना चाह रहे हैं कि, हे श्रीयमुनाजी ! आपके एवं श्रीलक्ष्मीजी दोनों के पति तो एक ही हैं अतः आप श्रीलक्ष्मीजी के समान सौभाग्यशालिनी हैं। व्रज में तो भगवान की चार स्वामिनियाँ हैं परन्तु वे सभी व्रजलीला होने के समय ही भगवत्सम्बन्धी सभी सुखों का अनुभव करती हैं। अन्य लीलाओं में तो उन्हें भगवान के विप्रयोग का ही अनुभव करना पड़ता है। श्रीलक्ष्मीजी तो भगवान से सुख का अनुभव तब कर पातीं हैं, जब भगवान को इन व्रजरत्नाओं के संग क्रीड़ा करने से अवकाश मिले। यही बात श्रीमदाचार्यवर्यों ने भी सुबोधिनी में 'तासामाविर्भूत(१०-२९/२)' इस श्लोक के व्याख्यान में भी कही है। व्याख्यान में आपश्री ने विस्तार से यह बताया है कि 'भगवान गोपिकाओं के समक्ष आविर्भूत हुए' यों कहने का तात्पर्य यह है कि, अभी तक वे श्रीलक्ष्मीजी के संग व्यापिवैकुण्ठ में रमण कर रहे थे और रमण करते-करते सीधे वहीं से, उसी व्यापिवैकुण्ठस्वरूप से ही गोपिकाओं के समक्ष प्रकट हो गये। भगवान ने स्रग्वी-वनमाला भी धारण कर रखी है, यानि पधारते-पधारते वे ब्रह्मा आदि देवताओं से अपना पूजन करवा कर भी पधारे हैं, या तो स्वयं लक्ष्मीजी ने उनकी पूजा की है, इसलिये भगवान को पधारने में विलम्ब हुआ'। इसी कारण इससे पूर्व के अध्याय के 'लक्ष्मीजी ने भी अब वैकुण्ठ छोड़ कर व्रज का आश्रय ले लिया है(सुबो- १०/२८/१)' इस प्रथमश्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीमदाचार्यचरणों ने 'श्रीलक्ष्मीजी भी व्रज में भगवान की बाट जोह रही हैं कि इन गोपिकाओं के पश्चात् मुझे भगवान से मिलने का अवसर कब प्राप्त होगा ? यों सोचती सोचती श्रीलक्ष्मीजी व्रज का निरन्तर आश्रय कर रही हैं' यों कहा है।

प्रकृतमनुसरामः । श्रीयमुना तु व्रजे तुर्यप्रियारूपेण रमते । द्वारिकायां च तथारूपेण । तत्रास्यास्तथात्वे गमकं कुरुक्षेत्रोपाख्याने द्रौपद्या पृष्टाभिर्वैदर्भीप्रभृतिभिर्यथाक्रमेणोत्तरं दत्तम्, तदेव । यथा हि, 'रुक्मिणी सत्यभामा च जाम्बुवत्पुत्रिका शुभा । कालिन्दी मित्रविन्दा च सत्या भद्रा च लक्ष्मणा । महिष्यश्च समाचख्युः स्वां स्वां वैवाहिकीं कथाम् । अस्यास्तत्रापि ताभ्य आधिक्यं स्कान्दे श्रीभागवतमाहात्म्ये स्फुटतरमिति ततोवगन्तव्यम् । एवं श्रीयमुनेतरस्वामिनीनामेकैकस्मिन्नवसरे रमणम् । श्रीयमुनायास्तु स्वामिनीत्वेपि लक्ष्मीसमानसौभाग्यवतीत्वमित्यपि शब्दार्थः ।

चलिये, अब जो प्रकरण चल रहा है उसकी चर्चा करें। श्रीयमुनाजी व्रज में तो भगवान की चतुर्थप्रिया होकर उनके संग रमण करती हैं और द्वारकालीला में कालिन्दीरूप से चतुर्थपत्नी होकर रमण करती हैं। श्रीयमुनाजी का भगवान की प्रिया होने का प्रमाण तो कुरुक्षेत्रोपाख्यान में प्राप्त होता है, जहाँ द्रौपदी ने वैदर्भी आदि भगवान की सभी पटरानियों से उनका भगवान के संग विवाह होने की कथा पूछी और उन्होंने द्रौपदी को क्रमशः 'रुक्मिणी सत्यभामां च' इस वाक्य द्वारा भगवान के संग उनका विवाह होने की कथा बतायी उन्होंने जो अपनी-अपनी कथा सुनायी है, उसमें श्रीयमुनाजी का आधिक्य दर्शाया गया है। इन पटरानियों से आधिक्य

होने से भी अधिक श्रीयमुनाजी के स्वरूप को स्कन्दपुराण के श्रीभागवतमाहात्म्यखण्ड में स्पष्टतया बताया गया है अतः वहीं से जान लेना चाहिए। इन समस्त विवेचनों से सिद्ध होता है कि, श्रीयमुनाजी से अतिरिक्त अन्य स्वामिनियों के संग भगवान का किसी एक अवसर पर ही रमण है। किन्तु हे श्रीयमुनाजी ! आप तो स्वामिनी होते हुए भी श्रीलक्ष्मीजी के समान सौभाग्यवती हैं- यह **अपि** पद का शब्दार्थ है।

ननु लक्ष्मीवत्तथात्वे एतस्या अपि स्तुतिस्तद्वच्छक्या भविष्यतीति पाक्षिकं दोषं परिहरन्क्षिपन्ति **नन्विति** ।

लोके दृश्यते शास्त्रादिद्वारा तत्साम्यं लक्ष्मीतुल्यत्वम् । तस्मिन्सति तद्वत्स्तुतिः शक्या भविष्यतीत्याशङ्क्य सम्बोध्यपदस्य तात्पर्यमाहुः **प्रिय इतीति** । व्याकुर्वन्ति **साम्येति** । साम्यमेव साम्यमात्रं तस्मिन्नेव सति स्तोतुं शक्येतैव । **अत्रेति** श्रीयमुनायाम् । ततो लक्ष्म्याः **अधिकम्** अवतारानवतारदशासु अनवरतलीलासम्बन्धरूपं **प्रियत्वं** विद्यते । तथा हि, लक्ष्मीर्हि सर्वपत्नीभ्यो मुख्यात एव वक्षोनिवासकृतः । अन्यासां तदंशत्वेन तदधीनता, श्रीयमुनायास्तु तद्वत्सौभाग्यवत्त्वेन न तदंशत्वम्, प्रत्युत तत्सपत्नीत्वेन तद्विरुद्धस्वभावत्वमपीत्येतत्सर्वं प्रियत्वं विना न निर्वहतीति प्रियत्वमनुमीयते प्रमीयते च, प्रियत्वे सति लक्ष्मीत आधिक्यम् । तथा हि, 'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना, श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मण्येषां गतिरहंपरा' । यत्र मर्यादामार्गीयभक्तेष्वप्येतादृशी प्रतिज्ञा, तत्रानुग्रहमार्गे सकलभक्तशिरोमणेः श्रीयमुनायाः प्रियत्वे किमुवाच्यमिति तत्करणमशक्यमित्युक्तम् ।

किन्तु यहाँ किसी पूर्वपक्षी को एक शंका यह होती है कि, यदि श्रीयमुनाजी श्रीलक्ष्मीजी के ही समान हैं, तो श्रीलक्ष्मीजी की स्तुति तो लोक में कई बार और कई स्थलों पर की जाती/गयी है, अतः यदि श्रीयमुनाजी श्रीलक्ष्मीजी के ही समान हैं तो फिर उनकी भी स्तुति करनी शक्य ही होगी ! तो फिर यहाँ ऐसा क्यों कह जा रहा है कि, श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी अशक्य है ? तो आपश्री इस छोटी सी शंका का भी परिहार **ननु** (*किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, लोक में लक्ष्मीजी की स्तुति होनी तो देखी जाती है और यदि श्रीयमुनाजी भी लक्ष्मीजी के ही समान हैं, तो फिर आचार्यचरण श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी अशक्य है- ऐसा क्यों कह रहे हैं ?*) इत्यादि शब्दों से करे दे रहे हैं। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, लोक में, शास्त्र आदि में, श्रीयमुनाजी की समानता श्रीलक्ष्मीजी से की गयी है, ऐसा देखा जाता है अतः इससे कोई ये शंका कर सकता है कि यदि श्रीलक्ष्मीजी की स्तुति करनी संभव है तो फिर श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी भी संभव ही होगी- ऐसी आशंका करके आपश्री **कमलजासपत्नीप्रिये** इस सम्बोध्यपद का तात्पर्य **प्रिय इति** इत्यादि शब्दों से कह इसका समाधान कर रहे हैं। इसे स्पष्ट करने के लिये हम **साम्य** (*यदि परस्पर केवल समानता ही होती तो स्तुति करनी संभव बन भी पाती परन्तु श्रीयमुनाजी तो लक्ष्मीजी से भी बढ़कर प्रभु की प्रिया हैं अतः उनकी स्तुति करनी तो अशक्य ही है*) इत्यादि शब्दों का विवेचन कर रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, यदि श्रीलक्ष्मीजी एवं श्रीयमुनाजी में परस्पर केवल समानता ही होती, तब तो श्रीलक्ष्मीजी की भाँति श्रीयमुनाजी की भी स्तुति करनी शक्य बन पाती परन्तु **अत्र** यानि श्रीयमुनाजी में तो **ततो** यानि श्रीलक्ष्मी से भी अधिक बढ़कर भगवान की अवतार-अनवतार दोनों ही दशाओं में भगवान से निरन्तर लीलासम्बन्ध बना ही हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि वे भगवान की प्रिया हैं। वह इस प्रकार कि, भगवान की समस्त पत्नियों में श्रीलक्ष्मीजी मुख्य हैं और इसी कारण उनका निवास भगवान के वक्षस्थल पर है। श्रीलक्ष्मीजी के अतिरिक्त अन्य जितनी भगवान की पत्नियाँ हैं, वे तो श्रीलक्ष्मीजी की अंश होने के कारण उनके अधीन हैं; किन्तु श्रीयमुनाजी तो श्रीलक्ष्मीजी के समान ही सौभाग्यवती होने के कारण उनकी अंश तो खैर नहीं ही हैं, अपितु उनकी सपत्नी होने के कारण श्रीलक्ष्मीजी से विरुद्धस्वभाव वाली भी हैं ; ये सभी कुछ भगवान की प्रिया हुए बिना संभव नहीं बन सकता अतः श्रीयमुनाजी भगवान की प्रिया हैं, यह अनुमान भी लगाया जाता है एवं प्रमाणित भी होता है। तात्पर्य यह कि श्रीयमुनाजी भगवान की प्रिया हैं अतः उनका स्थान श्रीलक्ष्मीजी से अधिक है। यह बात तो स्वयं भगवान ने ही 'हे दुर्वासाजी ! अपने भक्तों का एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। उन्हें छोड़कर न मैं अपने आपको चाहता हूँ और न ही लक्ष्मीजी को(श्री०भा० ९/४/६४)' इस वाक्य में कही है। अब

जहाँ मर्यादामार्गीयभक्तों के प्रति ही भगवान की ऐसी प्रतिज्ञा हो, वहाँ अनुग्रहमार्ग-पुष्टिमार्ग में सकल भक्तशिरोमणि-श्रीयमुनाजी भगवान की प्रिया हों और भगवान उन्हें प्रधानता देते हों, इसमें क्या आश्चर्य है, अतः ऐसी श्रीयमुनाजी की स्तुति करनी तो अशक्य ही है, यह कहा गया।

एवमनुमानप्रमाणाभ्यामाधिक्यं निश्चित्य प्रमेयसाधनफलैरप्याधिक्यं वक्तुं पुनराशङ्कते नन्विति । तत्र प्रमेयतः आधिक्ये 'प्रमेयं हरिरेवैक' इति निबन्धोक्तेः प्रमेयं भगवान्, साधनं च सेवा, 'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजेति वक्ष्यमाणात् । एवं च प्रमेयस्य सेवानन्तरं लक्ष्म्याः सेवया साधनभूतया तत्तोषे मोक्षं पुरुषोत्तमानुचरत्वम् । आमर्यादीकृत्य ततोऽर्वाक् 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत,दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इत्यादिरूपम्, भगवदीयानामनिच्छाविषयं सुखं यच्छति सा । मोक्षेति सगुणमोक्षलाभ इतिभावः । भजनानन्दस्या'दिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया' इति तत्त्वदीपे पुरुषोत्तमसेवैकलभ्यत्ववदनादित्यत उक्तं न तु तत इति ।

इस प्रकार अनुमान एवं प्रमाणों के आधार पर श्रीयमुनाजी का सभी की तुलना में आधिक्य निश्चित करके प्रमेय, साधन एवं फल के दृष्टिकोण से भी उनका आधिक्य बताने के लिये पुनः किसी पूर्वपक्षी की शंका आपश्री **ननु** (*कैसे ज्ञात हो कि लक्ष्मीजी की अपेक्षा श्रीयमुनाजी का स्थान अधिक है?*) इत्यादि शब्दों से उठा रहे हैं और फिर उसका समाधान भी कर रहे हैं। इन तीनों में सर्वप्रथम प्रमेय के दृष्टिकोण से श्रीयमुनाजी का आधिक्य समझना हो, तो यों समझें कि श्रीमदाचार्यचरणों के 'प्रमेय तो केवल हरि ही हैं(सर्व-८४)' इस निबन्धवाक्यानुसार प्रमेय तो केवल भगवान ही हैं ; और साधन है- भगवत्सेवा, जैसा कि 'मानसीसेवा तो तनुवित्तजासेवा के द्वारा सिद्ध होती है(सि०मु०-२)' इस वाक्य में कहा भी गया है। अब इसके अनुसार प्रमेय-भगवान की सेवा के अनन्तर लक्ष्मीजी की साधनभूता सेवा करने से जब वे प्रसन्न होती हैं, तब मोक्ष प्राप्त होता है; मोक्ष प्राप्त होने का अर्थ है- श्रीपुरुषोत्तम का सेवक बन जाना। **आमर्यादीकृत्य** का अर्थ है- ऊपर कहे साक्षात् पुरुषोत्तम की सेवारूपी मोक्ष से ठीक पहले मिलने वाले 'मेरे निष्कामभक्त मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य,सारूप्य, सायुज्य इत्यादि मोक्षों की भी कामना नहीं रखते(श्री०भा-३/२९/१३)' इस वाक्य में कहे गये मोक्ष तक की ही प्राप्ति होगी, यानि कि जैसा मोक्ष श्रीलक्ष्मीजी **देती हैं, वैसा** मोक्ष तो भगवदीय चाहते ही नहीं !!! श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करने से प्राप्त होने वाला मोक्ष तो **सगुणमोक्ष** है। **न तु ततोऽपि अधिकं** यानि 'आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः(शा०प्र०-१३)' इस तत्त्वदीपग्रन्थ के वाक्य **में केवल** भगवत्सेवा के द्वारा ही प्राप्त होने वाले जिस भजनानन्दरूपी मोक्ष की बात कही गयी है, **उससे बढ़कर** और किसी मोक्ष को श्रीलक्ष्मीजी नहीं दे सकतीं- यह भाव है।

हरेरित्यनेनान्यप्रमेयसापेक्षतया सेवयेत्यनेन साधनापेक्षया आमोक्षत इत्यनेन फलस्य तुच्छत्वेन ततः श्रीयमुनाया प्रमेयसाधनफलैरुत्कर्षः सूच्यते । तत्सपत्नीत्वेन तद्विरुद्धस्वभाववतीतया । हरेरिति संयोगसम्बन्धे षष्ठी, तत्तात्पर्यमाहुः तदपीति सगुणमोक्षमपि । तथा च, लक्ष्म्याः रूपद्वयम् । एकं भगवता सह स्थितम्, सालोक्यादिप्रदम् । अपरं भेदेन स्थितं केवलं विभूतिरूपम् । भजनेन धनादिसम्पत्प्रदम् । तस्या 'अधनोयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् । इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरिनाददात्' इत्यादिवाक्यैः भगवत्स्मरणविस्मारकत्वेनासुरावेशहेतुत्वात्संसारासक्तिसम्पादनद्वारा तथात्वम्, इति केवलं तद्भजनं निषेध्य तत्साकं तद्भजनमाहुरन्विति ।

'हरेर्यदनुसेवया' शब्द से चूँकि भगवान के पश्चात् लक्ष्मीजी की सेवा करने से मोक्ष प्राप्त होगा- यह बताया गया है अतः श्रीलक्ष्मीजी मोक्ष देने के लिये अन्य प्रमेयस्वरूप पर आश्रित हैं ; **'सेवया'** शब्द से यह अर्थ प्राप्त होता है कि, जब श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करेंगे, तब ही वे मोक्ष देंगी और **आमोक्षतः** शब्द से ज्ञात होता है कि लक्ष्मी केवल सायुज्य आदि मोक्ष ही देंगी, भजनानन्दरूपी साक्षात् पुरुषोत्तम से संबंध होने वाला मोक्ष नहीं अतः उपर्युक्त तीनों शब्दों के द्वारा श्रीलक्ष्मीजी क्रमशः प्रमेय-साधन-फल इन तीनों की दृष्टि से श्रीयमुनाजी की तुलना में न्यून हैं। क्योंकि श्रीयमुनाजी तो स्वयं उनकी सेवा करने के द्वारा ही जीव को मोक्ष दे देती हैं और वह भी भजनानन्दरूपी मोक्ष, उन्हें मोक्ष देने के लिये भगवान पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है अतः ये उनकी प्रमेय की दृष्टि से उत्कृष्टता सिद्ध हुई। श्रीयमुनाजी केवल उनका पयपान करने वाले की भी

यमयातना दूर कर देती हैं, चाहे उसमें उनके प्रति भाव हो या न हो और उससे किसी भी प्रकार की सेवा या उसके साधनों की अपेक्षा नहीं रखती, अतः ये साधन की दृष्टि से उनकी उत्कृष्टता सिद्ध हुई। इसी प्रकार श्रीयमुनाजी तो सायुज्य आदि से भी बढ़कर भगवान की साक्षात् सेवारूपी भजनानन्दरूपी मोक्ष देने वाली हैं, अतः ये फल की दृष्टि से उनकी उत्कृष्टता सिद्ध हुई- यह भाव है। क्योंकि श्रीयमुनाजी तो श्रीलक्ष्मीजी की सपत्नी हैं अतः उनके स्वभाव की तुलना में श्रीयमुनाजी का स्वभाव विपरीत तो होना ही है। **हरेः** पद में संयोगसंबंधित षष्ठीसमास है, जिसका तात्पर्य श्रीगोकुलनाथचरण **तदपि** शब्द से कह रहे हैं कि- श्रीलक्ष्मीजी से जो मोक्ष प्राप्त होगा, वह केवल श्रीलक्ष्मीजी की सेवा से प्राप्त नहीं होगा अपितु भगवान के संग जब श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करेंगे तब प्राप्त होगा। श्रीलक्ष्मीजी के दो रूप हैं, एक रूप वह जो भगवान के संग में रहता है और सालोक्य आदि देने वाल होता है। दूसरा रूप वह जो भगवान से अलग रह कर केवल भगवान का विभूतिरूप है और जिसका भजन करने से धन आदि संपदा को देने वाला होता है। इस दूसरे रूप वाली श्रीलक्ष्मीजी को तो 'परमदयालु श्रीकृष्ण ने ये सोचकर मुझे थोड़ा सा भी धन नहीं दिया कि कहीं यह दरिद्र धन पाकर बिलकुल मतवाला न हो जाय एवं मुझे भूल न बैठे(श्री०भा- १०/८१/२०)' इत्यादि वाक्यों में भगवान का विस्मरण करा के आसुरावेश लाने वाला और उससे संसारासक्ति उत्पन्न कराने वाला मोक्ष का विघातक बताया गया है, इसलिये भगवान को छोड़कर केवल श्रीलक्ष्मीजी के भजन का निषेध करके भगवान के साथ ही उनका भजन करने की बात श्रीगोकुलनाथचरणों ने **अनु** इत्यादि शब्दों से कही है।

एवं प्रमाणप्रमेयसाधनफलस्वभावैर्लक्ष्म्याः श्रीयमुनातो न्यूनत्वमुक्त्वा श्रीयमुनायास्तनुनवत्वसम्पादने प्रकारं वदन्तः श्रीयमुनायाः प्रमाणादिभ्य उत्कर्षं कथयन्त उत्तरार्द्धमवतारयन्ति कालिन्द्युत्कर्षमिति । कलिन्दस्येयं कालिन्दी, अस्या उदधिकं कर्षणं तनुनवत्वसम्पादनेन लीलासृष्टिप्रवेशनम् । कथामुखेनाहुः इयमग्रत इति । सर्वेति सालोक्यादितदपेक्षया अधिका उत्कृष्टा । वैकुण्ठस्थितस्य भगवत एकस्मिन्वक्षस्थलरूपगात्रस्थितायास्तस्याः कथायाः सकलाङ्गसम्बन्धिन्याः श्रीयमुनायाः कथा अधिका, अतस्तत एतत्कथारसनिमग्नानां न सालोक्यादिमुक्तीच्छालेशोपि । तदेवेति कथारसपूर्णानामन्यविस्मरणमेव । वृत्रपीडितदेवताभिर्नवमाध्याये षष्ठस्कन्धस्य कृष्णस्तुतावुक्तम् ।

इस प्रकार प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल के स्वभाव के दृष्टिकोण से श्रीलक्ष्मीजी को श्रीयमुनाजी से न्यून बता कर श्रीयमुनाजी का तनुनवत्व प्रदान करने का प्रकार कहते हुए एवं श्रीयमुनाजी का प्रमाण आदि के दृष्टिकोण से उत्कर्ष कहते हुए श्लोक के दूसरे भाग का अर्थ श्रीगोकुलनाथचरण **कालिन्द्युत्कर्षमाहुः** (*लक्ष्मीजी की तुलना में कालिन्दी-श्रीयमुनाजी के उत्कर्ष को आचार्यचरण **तव कथा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'कालिन्दी-उत्कर्ष' का अर्थ है- कलिन्द की पुत्री कालिन्दी और कालिन्दी का उत्कर्ष यानि तनुनवत्व का संपादन करके भगवान की लीलासृष्टि में प्रवेश करवा देना। श्रीलक्ष्मीजी की अपेक्षा श्रीयमुनाजी के उसी अधिक उत्कर्ष को श्रीगोकुलनाथचरण उनकी कथा/माहात्म्य के रूप में **इयमग्रतः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'श्रीयमुनाजी की कथा तो **सर्व** प्रकार की मुक्तियों से भी अधिक है'- इस कथन का तात्पर्य यह है कि, श्रीयमुनाजी द्वारा जो प्राप्त होता है, वह तो सालोक्य आदि मुक्तियों की अपेक्षा भी अधिक उत्कृष्ट है। तात्पर्य यह कि वैकुण्ठस्थित भगवान के श्रीअंग के वक्षस्थलरूप केवल एक ही भाग पर निवास करने वाली श्रीलक्ष्मीजी की तुलना में तो भगवान के संपूर्ण श्रीअंग से सम्बन्धित श्रीयमुनाजी की कथा/महिमा कहीं अधिक है अतः श्रीयमुनाजी की कथारस(गुणगान/स्तुति/लालना) में निमग्न जीवों में सालोक्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त करने की तो लेशमात्र भी इच्छा नहीं होती। श्रीगोकुलनाथचरणों के **तदेव** (*श्रीयमुनाजी की कथा के रसिकजनों में तो मोक्षप्राप्ति करने की गंध भी नहीं होती वाली बात*) इत्यादि शब्दों का अर्थ है- भगवान के माहात्म्यरस से अन्य सभी कुछ भुला दिये जाने के विषय में तो श्रीभागवत के छठे स्कन्ध के नौवें अध्याय में भी बताया गया है, जहाँ वृत्रासुर से पीड़ित देवताओं ने श्रीकृष्ण की स्तुति की है (देखें श्री०भा०- ६/९/३९)।

एवं रसिकानामितरविस्मृतिं प्रामाण्य श्रीयमुनायाः कथां विशदयितुमवतारयन्ति सा केतीति । कलाभिः सहितः सकलः पुरुषोत्तमस्तस्य गोपिकाभिः सम्यग्गमनं, तदुक्तं ताभिर्युताः सकलाश्चतुर्विधा अपि गोपिका तासां यः सङ्गमः तद्धेतुको यः स्मरः

कामः तज्जन्यो यः श्रमस्तेन करणभूतेन जनिता दृग्गोचरीकृता ये प्रस्वेदपयःकणाः, सकलतनूद्भवास्तैः सङ्गमो विविधभावभरेण, गमनं गमः । घञर्थेकविधानमितिकः । सम्यक्प्राप्तिर्लीलासृष्टौ यस्याः श्रीयमुनायाः ।

इस प्रकार से भगवान के माहात्म्यकथारसिकों द्वारा अन्य सभी कुछ भुला दिये जाने वाली बात को प्रमाणित करके अब श्रीयमुनाजी की कथा का विस्तार से विवेचन करने के लिये श्रीगोकुलनाथचरण **सा केति** (*अब श्रीयमुनाजी की कथा क्या है, यह **सकलगोपिकासंगमस्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः संगमः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। समस्त कलाओं सहित जो हो उसे 'सकल' कहते हैं यानि कि श्रीपुरुषोत्तम। क्योंकि उनमें सभी कलाएँ विद्यमान हैं; ऐसे पुरुषोत्तम का गोपिकाओं के संग सम्यक् प्रकार से गमन करना 'गोपिका+सं+गम=गोपिकासंगम' है । इसी भाव को लेकर **'सकलगोपिकासंगमस्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः संगमः** का' अर्थ यह बनेगा कि- उन सकल गोपिकाओं के संग यानि कि चारों प्रकार का गोपिकाओं के संग जो भगवान का संगम हुआ, उस संगम के मूलकारण स्मर/काम से उत्पन्न जो श्रम हुआ, उस श्रम के द्वारा उत्पन्न हुए यानि कि दृष्टिगोचर हुए समस्त अंगों से प्रकट हुए जो प्रस्वेद के जलकण हैं, उन जलकणों के साथ विविधभावों के कारण जो संगम हुआ, उसका अर्थ 'संगम' है। 'संगम' का अर्थ 'प्राप्ति' भी होता है अतः अर्थ यह हुआ कि- भगवान की ऐसी लीलासृष्टि जिनको भलीभाँति प्राप्त हुई है, ऐसी श्रीयमुनाजी हैं।

यद्वा, यस्या इति पञ्चमी । यस्याः सकाशात्सङ्गमोन्येषामेतत्सम्बन्धिनां तनुनवत्वे सम्पन्ने भवतीति श्रीयमुनाया आमघटस्य वह्निसङ्गमेन पक्वत्वमिव सकलगोपिकासङ्गमस्मरश्रमजलाणुसङ्गमेनैव तनुनवत्वं सम्पाद्यावरणानाच्छन्नभगवल्लीलासृष्टौ निजानां तदनुभवकरणसामर्थ्यसम्पादनमिति महदाधिक्यम् ।

अथवा, यदि 'यस्याः' का पंचमीसमास से अर्थ करेंगे तो इसका अर्थ होगा- जिस श्रीयमुनाजी से संगम होने के कारण अन्य श्रीयमुनाजी से सम्बन्धित जीवों को भी तनुनवत्व प्राप्त होने पर उपर्युक्त लीलासृष्टि की प्राप्ति होती है, ऐसी श्रीयमुनाजी । जैसे कच्चा घड़ा अग्नि से संयोग होने के पश्चात् पक जाता है, उसी प्रकार समस्त गोपिकाओं के संग हुए संगम से जो काम उत्पन्न हुआ, उस काम से जो परिश्रम हुआ, उन श्रमजलकणों से संगम हुआ होने के कारण ही श्रीयमुनाजी निजजनों को तनुनवत्व का सम्पादन करके आवरणरहित, अनाच्छादित भगवल्लीलासृष्टि में उन्हें भगवल्लीला का अनुभव करने की सामर्थ्य प्रदान करती हैं, यह तो श्रीयमुनाजी की बड़ी महत्ता है।

ननु बिन्दवश्चेत् सङ्गमजास्तर्हि तत्सङ्गमेन कथं तनुनवत्वं सेत्स्यतीत्याशङ्क्य बिन्दुस्वरूपं वर्णयन्ति एतेनेति, श्रीयमुनायास्तत्समकथनेन, तनुनवत्वसम्पादनमभिप्रेत्य कथनेन, च । अत एवेति । यदि श्रमस्वेदरूपाः स्युस्तर्हि सकलगात्रजा न भवेयुः । केशनखादिषु स्वेदस्यानुपलब्धेः । तेन रसरूपा एवेतिभावः ।

किन्तु किसी को शंका यह होती है कि, ऊपर कहे भगवान एवं गोपिकाओं के संगम से उत्पन्न हुए इन श्रमबिन्दुओं से तनुनवत्व कैसे संभव हो जायेगा ? यानि सामान्य पसीने के जल से अलौकिकशरीर कैसे प्राप्त हो जायेगा ? तो इस शंका का समाधान करते हुए आपश्री उन श्रमबिन्दुओं के स्वरूप का वर्णन **एतेन** (*ये जलबिन्दु मात्र श्रम से उत्पन्न होने वाले स्वेदरूप नहीं हैं अपितु विविधप्रकार के संगम से उत्पन्न होने वाले प्रभु के समस्त अवयवों में पूर्ण हुआ रस जब छलकने लगा, तब बाहर प्रकट होने वाले रस के ही बिन्दुकण हैं, केवल जल मात्र नहीं हैं*) इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **एतेन** का अर्थ है- श्रीयमुनाजी को भगवान के समान कहा गया होने के कारण एवं उनमें तनुनवत्व का संपादन करने की योग्यता कही होने के कारण; उपर्युक्त दोनों कारणों से ये समझना चाहिए कि, ये श्रमबिन्दु मात्र स्वेदकण नहीं हैं ; क्योंकि यदि ये केवल श्रम के ही कारण उत्पन्न होने वाले सामान्य स्वेदकण होते, तो इन स्वेदकणों को 'सकलगात्रज(भगवान के **संपूर्ण श्रीअंग** से उत्पन्न होने वाले)' कहना संभव न बन पाता क्योंकि लौकिकदेह में केश-नख इत्यादि से तो स्वेदकण निकलते ही नहीं ! जबकि यहाँ इन श्रमबिन्दुओं को भगवान से संपूर्ण श्रीअंग से उत्पन्न होने वाले कहे गये हैं, इसलिये सिद्ध होता है कि, ये सामान्य लौकिकदेह से निकलने वाले पसीने के जलकण नहीं हो सकते अपितु वास्तव में भगवद्रसरूपा ही हैं- यह भाव है।

एभिरिति, सकलगोपिकासङ्गम इत्यनेन पुष्टिपुष्टिमार्गान्तरङ्गभक्तत्वे, स्मरश्रमजलाणुभिरनेन सर्वदैतद्रसपूर्णत्वम्, सकलगात्रजैरनेन भक्तानुगुणत्वम्, सङ्गम इत्यनेन लीलामध्यपातित्वम्, चादिपदेन तत्समानसौभाग्यवतीत्वेन तद्विरुद्धस्वभावात् । यथा रजोगुणप्रधाना सा (लक्ष्मीः) जीवान्मदेन केवलभजनकर्तॄन् भगवद्विमुखान्कृत्वा स्वर्गादिलोभेन प्रवाहमार्गे निपातयति, न तथेयमिति तत्सपत्नीत्वात् । दृश्यते हि परस्परं विरुद्धस्वभाववत्यः सपत्न्यो लोके । एतदेव विशदयन्त आहुः स्वस्यैतदिति,

एभिः विशेषणैः (श्रीयमुनाजी को दिये 'सकलगोपिकासंगम' , 'स्मरश्रमजलाणुभिः' , 'सकलगात्रजैः संगमः' इन विशेषणों से आचार्यचरणों ने सूचित किया है कि, श्रीयमुनाजी में क्रमशः परमकाष्ठापन्न–पुष्टिपुष्टिमार्ग की अन्तरंगभक्तता, सर्वदा भगवद्रस से पूर्णता, प्रभु के अन्तरन्गभक्तों को भगवल्लीला में सहयोगिनी होना एवं भगवल्लीला में मध्यपाती होना इत्यादि गुण हैं) इत्यादि शब्दों के द्वारा कहे गये सभी विशेषण श्रीयमुनाजी में इस प्रकार से योजित होंगे- 'सकलगोपिकासंगम' से परमकाष्ठापन्न–पुष्टिपुष्टिमार्ग की अन्तरंगभक्तता; 'स्मरश्रमजलाणुभिः' से सर्वदा भगवद्रस से पूर्णता; और 'सकलगात्रजैः' से प्रभु के अन्तरन्गभक्तों की भगवल्लीला में सहयोगिनी होना एवं 'संगमः' से भगवल्लीला में मध्यपाती होने जैसे गुण श्रीयमुनाजी में हैं; और '**आदि**' पद का अर्थ है- चूँकि श्रीयमुनाजी श्रीलक्ष्मीजी के समान सौभाग्यवती हैं अतः सपत्नी होने के नाते उनका स्वभाव श्रीलक्ष्मीजी से विरुद्ध/विपरीत है, इसलिये वे जीव को वो वस्तु दे सकती हैं, जो श्रीलक्ष्मीजी नहीं दे सकतीं। श्रीलक्ष्मीजी से विरुद्धस्वभाव वाली होने का तात्पर्य यह है कि, रजोगुणप्रधान होने के कारण जैसे श्रीलक्ष्मीजी जीवों को, जो कि मदपूर्वक केवल श्रीलक्ष्मीजी का ही भजन कर रहे हैं, उनको भगवान से विमुख बना कर वे उन्हें स्वर्ग आदि का लोभ देकर प्रवाहमार्ग में ढकेल देती हैं, वैसे श्रीयमुनाजी नहीं करतीं क्योंकि वे उनकी सपत्नी होने के कारण उनसे विरुद्धस्वभाव वाली हैं। लोक में भी देखा जाता है कि, सपत्नियाँ आपस में विपरीतस्वभाव वाली होती ही हैं। श्रीलक्ष्मीजी से विरुद्ध श्रीयमुनाजी के इसी स्वभाव को आपश्री **स्वस्यैतद्** *(चूँकि श्रीयमुनाजी स्वयं इस भगवद्रस से पूर्ण हैं अतः जो केवल श्रीयमुनाजी का भी भजन करता है, उसे भी श्रीयमुनाज़ी इस भगवद्रस का दान करती हैं, यह श्रीयमुनाजी की विलक्षणता तो स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है)* इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

यद्यपि, 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इति भगवता प्रतिश्रुतम्, तथापि श्रीयमुनायां रसविवशेन भगवता स्वस्याष्टविधैश्वर्यस्य स्थापितत्वाच्छ्रीयमुनाया अनन्यभजनकर्त्तुस्तनुनवत्वं सम्पाद्य तद्रसदानमिति भावः । दृश्यते हि लोकेपि महाराज्ञां पूर्णाधिकारिणां विनाज्ञां, लघुकार्यस्याप्यकरणम्, अपूर्णाधिकारिणामप्याज्ञातो महत्कार्यसम्पादनम् किं तत्राखिललोकनियन्तुर्भगवतः प्राणादपि प्रियायाः श्रीयमुनायास्तथाकरणे चित्रमिति हृदयम् ।

यद्यपि भगवान ने गीता में 'जो सब धर्मों को छोड़कर सर्वात्मभाव से केवल मेरी ही शरणागति ले लेते हैं, वे माया से मुक्त हो जाते हैं(भ०गी-७/१४)' इस वाक्यानुसार शरणागत होने पर खुद ही उन्हें माया से मुक्त कराने की प्रतिज्ञा की है, तथापि अपनी रसलीला प्रकट करने की विवशता के कारण भगवान ने अपने अष्टविध ऐश्वर्य श्रीयमुनाजी में स्थापित कर दिये हैं, इसलिये श्रीयमुनाजी का अनन्यभजन करने वाले को तनुनवत्व देकर वे उसे भगवद्रस का दान करते हैं- यह भाव है। ऐसा उदाहरण तो लोक में भी देखने मिलता है कि, यदि महाराजा की आज्ञा नहीं है तो उसके अधिकारीगण भले ही पूर्ण सशक्त भी क्यों न हों परन्तु वे छोटा सा भी कार्य नहीं कर सकते ; ठीक इसी प्रकार कोई अधिकारी भले ही पूर्णपदाधिकारी न भी हो, तथापि, यदि महाराजा की आज्ञा उसे प्राप्त है, तो वह बड़े से बड़ा कार्य भी कर देता है। यानि श्रीयमुनाजी के सेवक भले ही दुष्ट भी क्यों न हों तथापि यदि स्वयं भगवान ने चाहा है तो श्रीयमुनाजी उसे तनुनवत्व प्रदान करके भगवद्रस का दान कर देती हैं। ऐसे में तो समस्त लोक के नियन्ता भगवान के प्राणों से भी अधिक प्रिय श्रीयमुनाजी यदि जीव को भगवद्रस का दान करें, इसमें क्या आश्चर्य है ?

अन्वयस्तु, हे प्रिये ! कमलजासपत्नि, तव स्तुतिं कः करोति, तत्र हेतुः, यत् हरेरनुलक्ष्म्याः सेवया आमोक्षतः सुखं भवति, तव कथा इयं अधिका, यत्सकलगोपिकासङ्गमस्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः सङ्गमो भवति, लक्ष्म्याः यत् (न) भवतीत्येतेषामध्याहारः । एवं अस्मिन्पद्ये तनुनवत्वसम्पादकत्वमष्टममैश्वर्यं दर्शितम् ।।८।।

पूरे श्लोक का अन्वय यों होगा- 'हे प्रिये ! हे कमलजा-श्रीलक्ष्मीजी की सपत्नी श्रीयमुने ! आपकी स्तुति करने में कौन समर्थ हो सकता है ? क्योंकि हरि के पश्चात् श्रीलक्ष्मीजी की सेवा करने से तो मोक्षपर्यंत ही सुख प्राप्त होता है परन्तु आपकी कथा/महिमा तो इससे भी अधिक है क्योंकि समस्त गोपिकाओं का संगम होने के पश्चात् भगवान के श्रीअंग में प्रकट हुए स्मरश्रम बिन्दुओं से आपका संगम हुआ है, जो कि श्रीलक्ष्मीजी को प्राप्त नहीं है'। इस प्रकार से इस पद्य में तनुनवत्व का संपादन करने वाला श्रीयमुनाजी का आठवां ऐश्वर्य दिखाया गया है ॥८॥

एवमष्टविधैश्वर्यप्रतिपादकान्श्लोकानुत्कर्षवर्णनतदशक्यवर्णनद्वारा व्याख्याय स्तोत्रस्यासाधारणफलबोधकमग्रिममवतारयन्ति एवमिति । उक्तप्रकारेण कलिदोषदात्रीं अलौकिकप्रकारेण संस्तूय अष्टविधैश्वर्यप्रतिपादकस्तोत्रस्य व्यक्ततयोदितस्य श्रीमत्प्रभुतुष्टिरूपं फलं प्रतिजानन्तः आहुः यद्यपीति । अन्येति शङ्कराचार्यप्रभृतिभिर्निर्मितानि ।

इस प्रकार से यहाँ तक श्रीयमुनाजी में भगवान द्वारा स्थापित किये गये आठ प्रकार के ऐश्वर्यों को बताने वाले आठ श्लोकों में यह बताया गया कि श्रीयमुनाजी के उत्कर्ष का वर्णन करना अशक्य है- यों व्याख्या करके अब श्रीगोकुलनाथचरणों ने इस स्तोत्र से प्राप्त होने वाले साधारणफल का बोध कराने वाले अग्रिम श्लोक की व्याख्या **एवं** (*उपरोक्त प्रकार से कालिन्दी की स्तुति करके अब आचार्यचरण इस स्तोत्रपाठ का फ़ल* ***तवाष्टकम्*** *इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से आरंभ की है। ऊपर कहे प्रकारानुसार कलिदोष मिटाने वाली श्रीयमुनाजी की अलौकिकप्रकार से संस्तुति करके उनमें विद्यमान अष्टविध ऐश्वर्य का प्रतिपादन करने वाले इस स्तोत्र में स्पष्टतया ज्ञात होने वाला श्रीमत्प्रभु को प्रसन्न करने वाला स्तोत्रपाठ का फल आपश्री **यद्यपि** (यद्यपि *श्रीयमुनाजी के लिये तो अन्यों द्वारा लिखे स्तोत्र भी हैं परन्तु यहाँ कहा जाने वाला फ़ल तो इसी स्तोत्र का पाठ करने से प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं क्योंकि अन्यों द्वारा रचे गये स्तोत्रों में श्रीयमुनाजी के ऐसे स्वरूप का निरूपण नहीं किया गया है*) इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। अन्यों द्वारा लिखे गये श्रीयमुनाजी के स्तोत्र यानि श्रीशंकराचार्यजी जैसे आचार्यों द्वारा निर्मित किये गये स्तोत्र भी प्राप्त होते हैं परन्तु उनमें श्रीयमुनाजी के उस स्वरूप का वर्णन नहीं है, जो कि इस स्तोत्र में श्रीमदाचार्यचरणों ने बताया है।

वक्ष्यमाणमिति अस्मिन्नेव पद्येऽनुपदं कथ्यमानम् । फलमिति स्तोत्रपाठमात्रेणैव भृशं सकलदुरितनिवृत्तिपूर्वकमुकुन्दरतिनिष्पत्तिः एतत्पाठेनैव तत्र हेतुमाहुः अन्यकृतेति । एवं विधेति स्तुतिं तवेतिश्लोकोक्तस्वरूपनिरूपणस्य तथात्वात् । फले क्रमं वदन्तो मूलान्वयमाहुः इदमिति । अत्र प्रमाणमाहुः अत एवोक्तमिति । एतेन दुरितनाशस्य भक्तिप्रजनने हेतुत्वमुक्तं भवति ।

इस स्तोत्र में **वक्ष्यमाण** अर्थात् इसी श्लोक के उत्तरार्ध में कहा गया फल। और उस फल से आपश्री का तात्पर्य है- इस स्तोत्र का पाठ करने मात्र से ही समस्त पापों की निवृत्ति होकर मुकुन्द में रति उत्पन्न होगी; ऐसा फल इस स्तोत्र का पाठ करने मात्र से ही प्राप्त हो जायेगा- इसका कारण बताने के लिये आपश्री ने **अन्यकृत** (*क्योंकि अन्यों द्वारा रचे गये स्तोत्रों में श्रीयमुनाजी के ऐसे स्वरूप का निरूपण नहीं किया गया है*) इत्यादि शब्दों से कहा है। गोकुलनाथचरणों के **एवंविधस्वरूप** (*श्रीयमुनाजी के ऐसे स्वरूप*) शब्दों का अर्थ है- इस स्तोत्र के 'स्तुतिं तव करोति कः(८)' इस श्लोक में श्रीयमुनाजी के जिस स्वरूप को बताया गये है, ऐसे स्वरूप का वर्णन अन्यों के स्तोत्रों में नहीं है अतः उन स्तोत्रों का पाठ करने से वह फल प्राप्त नहीं होगा, जो इस स्तोत्र का पाठ करने से होगा। अब उन्हीं फलों को क्रमशः बताते हुए श्रीगोकुलनाथचरण मूलश्लोक का अन्वय **इदम्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। प्राप्त होने वाले उन फलों का प्रमाण आपश्री **अत एवोक्तं**(अत एव 'तप-ध्यान-समाधि आदि के द्वारा हजारों जन्मों के पश्चात् मनुष्यों के पाप दूर होते हैं और तब उनमें कृष्ण के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है( )' यह कहा गया है) इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। आपश्री ने उक्त श्लोक का उदाहरण दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि पापों का क्षय हो जाना भक्ति उत्पन्न होने में कारण बनता है।

मूलस्थस्य मुकुन्दपदस्याशयमाहुः मुकुन्दपदादिति । तथा चोक्तं पञ्चमस्कन्धे, 'राजन्पतिर्गुरुरलम्भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किंकरो वः । अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगमिति । भक्तिमेवेति ।

मूलस्थस्य निश्चयवाचकवैपदस्य तात्पर्यं बोध्यम् । तेन यद्यपि स मोक्षदस्तथापि त्वत्स्तुतेः प्रीतो भक्तिं ददातीति सुष्ठूक्तं भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमिति ।

मूलश्लोक में कहे **वै मुकुन्द** पद का आशय बताने के लिये श्रीगोकुलनाथचरण **मुकुन्दपदात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री यह बताना चाह रहे हैं कि, 'मुकुन्द' पद के द्वारा आचार्यचरणों ने 'हे राजन् ! श्रीकृष्ण स्वयं पाण्डवों के और यदुवंशियों के रक्षक, गुरु, इष्टदेव, सुहृद, और कुलपति थे। इस प्रकार भगवान भक्तों के अनेकों कार्य कर सकते हैं और उन्हें मुक्ति भी दे देते हैं, परन्तु, मुक्ति से भी बढ़कर जो भक्तियोग है, उसे सहज में नहीं देते(श्री०भा-५/७/१८)' इस श्लोकानुसार यह संकेत किया है कि वैसे तो भगवान केवल मुक्ति/मोक्ष ही देते हैं; परन्तु आपश्री **भक्तिमेव** इत्यादि शब्दों से मूलग्रन्थ में कहे निश्चयवाचक 'वै' पद का तात्पर्य बता रहे हैं कि यद्यपि मुकुन्द-भगवान मोक्षदाता हैं परन्तु हे श्रीयमुनाजी ! आपकी स्तुति करने से प्रसन्न होकर वे जीव को सीधे भक्ति ही दे देते हैं- अतः श्रीगोकुलनाथचरणों ने **भगवत्स्वभावपरावर्तकम्** शब्द से ठीक ही कहा है कि, श्रीयमुनाजी की स्तुति भगवान के मूलस्वभाव को भी परावर्तन/बदल देती है।

उत्तरार्द्धमवतारयन्ति तत इति, दुरितक्षयानन्तरं भगवद्रतेः किमग्रे फलं तदाहुः तयेति शेषपदान्तम् । यद्वा, तया मुकुन्दरत्या सकलसिद्धयो गोप्यो मुररिपुश्च सन्तुष्यति । सकलस्य पुरुषोत्तमस्य रमणस्य सिद्धिर्याभ्यः ।

श्लोक के उत्तरार्ध का विवेचन आपश्री **ततः** (*और, भगवान में रति उत्पन्न हो जाने से क्या होगा, यह आपश्री **तया** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं; तात्पर्य यह कि, समस्त पापों का क्षय हो जाने के पश्चात् भगवान में रति उत्पन्न हो जाने के पश्चात् आगे क्या फल प्राप्त होगा, यह आपश्री ने मूलग्रन्थ में आये **तया** से लेकर **शेषः** तक के पदों में बताया है । अथवा, **तया** का अर्थ है- मुकुन्दरति उत्पन्न होने के द्वारा यानि मुकुन्द में रति उत्पन्न हो जाने से सकलसिद्धियाँ-गोपिकाएँ एवं मुररिपु भी प्रसन्न होंगे श्रीद्वारिकेशचरणों ने 'सकलसिद्धियाँ' का अर्थ 'गोपिकाएँ' किया है । 'सकल' यानि पुरुषोत्तम, उन पुरुषोत्तम को रमण करना जिनसे सिद्ध होता है, वह हैं- 'सकलसिद्धियाँ' यानि कि गोपिकाएँ।

भगवत्कृतप्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन तद्वतो भक्तद्रोग्धारो यदेदं स्तोत्रं पठिष्यन्ति तत्र का व्यवस्थेति मनसिकृत्य क्षिपन्तो मूलस्थस्य मुररिपुपदस्य सदृष्टान्तमाशयमाहुः नन्वित्यारभ्य पदमित्यन्तम् । मूले च सन्तुष्यतीति । तथा च, लोके स्वोत्कर्षवर्णनात्स्वप्रियोत्कर्षकथनस्यात्यन्तं स्वतोषबीजत्वेन श्रीयमुनायाश्चात्यन्तं स्वहार्दवित्त्वेनैतत्स्तोत्रानुजल्पनेन प्रतिबन्धनिवारकः प्रभुः सम्यक् तुष्यति । यथा व्रजवरकुमारिकास्वेतत्तटे तुष्टो रासादिसुखं दत्तवाँस्तथैतज्जल्पितारमप्यनुगृह्णातीतिभावः । किञ्च, श्रीयमुनाष्टकपाठात्स्वामिनि तुष्टेऽनावरणानाच्छन्नप्रभुलीलामध्यपातिनि जीवे स्वामिन्योऽपि तुष्यन्ति, न तु भगवत्प्रियत्वरूपस्वभोग्यफलभोक्तरि जीवे ईर्ष्यन्ति, मुरलिकावत् ।

अब इसके पश्चात् चूँकि भगवान द्वारा खड़े किये गये प्रतिबन्धों का निवारण नहीं किया जा सकता अतः भगवद्भक्त से द्रोह करने वाले जिस जीव को ऐसा भगवत्प्रतिबन्ध हुआ है, यदि वह इस स्तोत्र का पाठ करे, तो क्या होगा- इस बात को मन में विचार करके श्रीगोकुलनाथचरण मूलस्थ **'मुररिपु'** पद का आशय दृष्टान्तसहित **ननु** इत्यादि शब्दों से आरंभ करके **पदम्** तक के शब्दों द्वारा कह रहे हैं। मूलश्लोक के **'सन्तुष्यति'** पद का भी अर्थ कर रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, लोक में ऐसा देखा जाता है कि कोई हमारी प्रशंसा करे, इससे अधिक यदि कोई हमारे प्रिय की प्रशंसा करे, तो वो और अधिक प्रसन्नकारी लगती है अतः श्रीयमुनाजी तो प्रभु के हार्द को अत्यन्त गहराई से समझने वाली हैं, इसलिये श्रीयमुनाजी के इस स्तोत्र का पाठ करने से प्रतिबन्धों का निवारण करने वाले प्रभु और अधिक प्रसन्न होते हैं। जैसे प्रभु व्रजकुमारिकाओं से श्रीयमुनाजी के तट पर प्रसन्न हुए थे एवं उन्हें रास आदि का सुख भी दिया था, उसी प्रकार इस स्तोत्र का पाठ करने वाले पर भी वे अनुग्रह करते हैं- यह भाव है। और, यह भी है कि श्रीयमुनाष्टकम् का पाठ करने से जब स्वामी-भगवान ही प्रसन्न हो जायेंगे, तो फिर वह जीव प्रभु की आवरणरहित प्रकटलीला का भाग बन जायेगा और तब उस लीलामध्यपाती जीव पर व्रजस्वामिनियाँ भी प्रसन्न हो जायेंगी, और उनके अपने लिये

भोग करने वाले भगवत्स्वरूप का भोग जीव को करता देखकर उससे ईर्ष्या भी नहीं करेंगी, जिस प्रकार कि उन्होंने भगवान की मुरली से भी ईर्ष्या नहीं की थी।

भगवत्प्रियकलिवारकश्रीयमुनातोषस्य - सर्वभक्ततोषहेतुत्वादिति चकारार्थः । टीकायां फलान्तरमिति सकलदुरिताऽभावपूर्वकभगवद्रतिनिष्पत्तिरूपमेकं फलं पूर्वं निरूपितम्, तेन भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमेतस्योक्तम्, अतः परं जीवस्वभावपरावर्त्तकत्वमुच्यते स्वभावस्येति । स्वभावश्च जीवात्मनो भावः, प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारः । जीवस्य जीवत्वमिति यावत् । तथा चोक्तं, विद्वन्मण्डने, 'आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो, येन जीवभाव' इति । तथा च जीवस्याविद्यासम्बन्धेन भगवद्बाहिर्मुख्यत्वस्यैतत्पठितुः कृपया हृदि प्रभावाविर्भूतेऽन्तरस्मात्तनुनवत्वे सम्पन्ने बाह्यतश्च परावृत्तिर्भवति ।

'**च**' शब्द का अर्थ है- भगवान के प्रिय भक्तों के दोषों का निवारण करने वाली श्रीयमुनाजी का प्रसन्न होना तो समस्त भक्तों की प्रसन्नता है। टीका में **फलान्तर** (*इस पाठ का अन्य फ़ल आपश्री **स्वभाव विजयो भवेत्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं*) शब्द का अर्थ यह है कि, पूर्व में इस स्तोत्र के पाठ द्वारा समस्त पाप दूर होकर भगवद्रस प्राप्त होता है- यह एक फल कह दिया गया था, जिससे आपश्रीने श्रीयमुनाष्टकम् के पाठ को भगवान के स्वभाव को भी परिवर्तित कर देने वाला बताया था, अब दूसरा फल यानि जीव के स्वभाव का परिवर्तित हो जाना आपश्री **स्वभाव विजयो भवेत्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। स्वभाव का अर्थ है- जीवात्माओं के भीतर रहने वाला भाव; यानि कि जीव के भीतर रहने वाला 'जीवत्व'। जो बात श्रीप्रभुचरणों ने विद्वन्मण्डन में 'जीव का आनन्दांश तो पहले ही तिरोहित हो चुका है, अतः उसे 'जीव' संज्ञा मिली है' इस वाक्य द्वारा कही है। चूँकि विद्वन्मण्डन में कहे अनुसार अविद्या से सम्बन्ध हुआ होने के कारण भगवान से बहिर्मुख बना हुआ जीव यदि इस स्तोत्र का पाठ करे, तो प्रभु कृपा करके उसके हृदय में प्रादुर्भूत होकर उसके अन्तःकरण को परावर्तित कर देते हैं एवं तनुनवत्व का संपादन करके वह बाहरीरूप से भी परावर्तित हो जाता है।

यद्वा, स्वभावशब्देन मन उच्यते । तस्य विजयः स्वातन्त्र्येण प्रवर्त्तनं भवति । यद्वा, स्वस्य जीवस्य भावः । श्रीगोकुलप्राणप्रियसेवनरूपसहजधर्मस्तस्य विविध उत्कर्षः । परा अत्यन्तं आवृत्तिरसकृत्सेवनम्, सम्पूर्णसेवाधिकारसिद्धिर्भवति । सेवाफलग्रन्थे वक्ष्यमाणस्य आद्यस्यालौकिकसामर्थ्यरूपफलस्य प्राप्तिरिति यावत् ।

अथवा, 'स्वभाव' शब्द से आपश्री का तात्पर्य है- मन। स्वभाव पर विजय प्राप्त कर लेनी अर्थात् मन पर विजय प्राप्त कर लेनी है ; यानि कि मन को अपनी स्वतन्त्रता से चाहे जहाँ मोड़ लेना। अथवा 'स्वभाव' का अर्थ है- जीव का अपना भाव ; यानि श्रीगोकुल के प्राणप्रिय की सेवा करने का जीव का सहज धर्म, उसका अपना भाव ; और उस सहज सेवाधर्म में प्रभुसम्बन्धी विविधप्रकार के मनोरथ जागना। उस सेवाधर्म के परावर्तित हो जाने का अर्थ है- वारंवार विविधप्रकार से प्रभुसेवा करनी, जिसके माध्यम से फिर उसे सम्पूर्ण सेवाधिकार की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जैसा कि सेवाफलग्रन्थ में 'सेवा में जो प्रथमफल प्राप्त होता है, वह है- अलौकिकसामर्थ्य प्राप्त कर लेनी' इस वाक्य द्वारा कहा गया है, वैसे।

स वासनेतीति अनेकमनोरथानां पूर्तिर्भवति । स्तोत्रपठितुः 'कृष्णोऽहं पश्यत गतिमि'ति श्लोकोक्तो मोक्षः सम्पद्यते । बाहिर्मुख्यनिवृत्तिपक्षे कर्मवासनानामनुद्भवो भवति ।

श्रीगोकुलनाथचरणों ने जो अपनी टीका में '**सवासना**' (*समस्त वासनाओं सहित स्वभाव का परावृत्त हो जाना- यह 'विजय' शब्द में प्रयुक्त 'वि' उपसर्ग का अर्थ है का अर्थ है*) कहा है, उसका अर्थ है- जीव के अनेक मनोरथों की पूर्ति हो जाती है। इस स्तोत्र का पाठ करने वाले को 'उनमें से एक गोपी ने गाढ़ आवेश के कारण भगवन्मय होकर कहा- मैं कृष्ण हूँ। तुम लोग मेरी यह मनोहर चाल देखो(श्री०भा- १०/३०/१९)' इस श्लोक में बताया गया मोक्ष प्राप्त होता है। यदि उक्त श्लोक की सुबोधिनी देखें तो ज्ञात होगा कि आचार्यचरणों ने इस श्लोक को बोलने वाली गोपी को निर्गुणागोपी कहा है। और इसमें प्रयुक्त 'तन्मय' शब्द का अर्थ बताते हुए यह लिखा है कि, चूँकि इस गोपी के सभी दोष दूर हो चुके हैं अतः श्रीशुकदेवजी इसे 'तन्मय' कह रहे हैं। देखें सुबोधिनी- १०/२७/१९। और यदि 'स्वभावविजयो भवेत्' पद का अर्थ 'बहिर्मुखता की निवृत्ति हो जाती

है' यों करें, तो फिर इसका अर्थ होगा- इस स्तोत्र का पाठ करने वाले में फिर कर्मवासनाएँ इत्यादि उत्पन्न नहीं होतीं और तब वह कभी भी बहिर्मुख नहीं होता।

दुष्टस्वभाव इति । बहिर्मुख्यादिदोषग्रस्तोपि दैन्यभावसिद्ध्या सन्मुखो भवति । एतद्विषये प्रामाण्यं वक्तुमाशङ्क्ते नन्विदमिति । समादधते वदति वल्लभ इति, प्रियाः प्रियाभिप्रायं विज्ञायैव वदन्तीति भावः ।

दुष्टस्वभाव (*इस स्तोत्र का पाठ करने से दुष्टस्वभाव वाला भी उत्तमस्वभाव वाला बन जाता है*) का अर्थ है- भगवान से बहिर्मुख आदि दोषों से ग्रस्त जीव भी यदि इसका पाठ करे, तो उसमें दैन्यभाव सिद्ध होकर वह भगवत्सन्मुख हो जाता है। इस बात की प्रामाणिकता कहने के लिये श्रीगोकुलनाथचरण पहले संदेह करने वाले किसी पूर्वपक्षी की शंका को **नन्विदम्** (*किन्तु किसी को शंका यह होती है कि स्वभाव परावृत्त हो जाने की सिद्धि तो अनेक तप द्वारा सिद्ध होती है, केवल इस स्तोत्र का पाठ करने मात्र से ही ये सिद्धि कैसे प्राप्त हो जायेगी ?*) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं और तत्पश्चात् उस शंका का समाधान **वदति वल्लभः** (*तो इसका उत्तर आपश्री अपने नाम का प्रमाण देते हुए **वदति वल्लभः** यों कह रहे हैं*) इत्यादि शब्दों से करते हुए यह कहना चाह रहे हैं कि, जो प्रियजन होते हैं, वे अपने प्रियतम के अभिप्राय को जान करके ही कहते हैं यानि चूँकि आचार्यचरण श्रीहरि के वल्लभ/प्रिय हैं, अतः वे जो कुछ कह रहे हैं, वह अपने प्रियतम-हरि के अभिप्राय को जानकर ही कह रहे हैं इसलिये उनकी वाणी में संदेह नहीं करना चाहिए- यह भाव है।

तेनाप्तत्वेनेति । आप्तश्च यथादृष्टार्थवादी, तादृशास्त्वत्राचार्यचरणा एव । अन्येषामेतज्ज्ञानं नेति वक्तुं क्षिपन्ति नन्वित इति । श्रीहरेरिति । श्रीभिः स्वामिनीभिर्युक्तस्य सर्वदुःखहर्त्तुः प्रियोहम् । यतो वदामि तेन तत्तथैव ।

तेनाप्तत्वेन इत्यादि पदों का अर्थ यह है कि, आप्तव्यक्ति वो होता है, जो जैसा देखता है, वैसा ही कहता है, और ऐसे आप्त महानुभाव तो आचार्यचरण ही हैं। किन्तु अन्यों को श्रीयमुनाजी के ऐसे स्वरूप एवं गुणों का ज्ञान नहीं है- इस बात को श्रीगोकुलनाथचरण **नन्वित** (*किन्तु किसी को यह शंका होती है कि, इसके पूर्व किसी ने भी यह बात नहीं की है अतः केवल आचार्यचरणों के कहे मात्र से इसकी प्रामाणिकता कैसे मानी जा सकती है ?*) इत्यादि शब्दों से पूर्वपक्षी की शंका उठाकर फिर **श्रीहरेः** इत्यादि शब्दों से उसका समाधान कह रहे हैं। आपश्री बता रहे हैं कि, श्रीमदाचार्यचरणों का अभिप्राय यह है कि, चूँकि मैं श्रीहरि का वल्लभ/प्रिय हूँ ; 'श्री' का तात्पर्य है- श्रीस्वामिनीजी; अर्थात् श्रीस्वामिनी सहित हरि का वल्लभ हूँ, जो हरि समस्त दुःखों का हरण करने वाले हैं, ऐसे श्रीहरि का मैं वल्लभ/प्रिय हूँ अतः इस बात को प्रामाणिकतया कह रहा हूँ।

अग्रे स्पष्टम् । तथा हि, साक्षादिति श्रीयमुनाप्रभृतीनां स्मरश्रमे इत्याद्युक्तं रूपम् । **साक्षात्तदिति** श्रीमदाचार्या एव जानन्ति । **स्वातिरिक्तानामिति,** श्रीमदाचार्यपादाब्जामोदरहितानाम् । **साक्षादित्यादि** । **(अभावादिति)** । आवरणानाच्छन्नस्वामिनीसहितगोकुलपतेरसम्बन्धात् । **साक्षादिति** श्रीयमुनायाः, **तदिति** एतादृक्प्रकारस्याकथनम् । **स्वस्येति** श्रीमदाचार्यरूपेण स्थितस्य **साक्षादिति** प्रकटतया, **तादृशत्वादिति** वस्तुतः कृष्णरूपत्वात्, **तदिति** 'स्मरश्रमे'त्याद्युक्तस्वरूपस्य वर्णनमिति, न शङ्कालेश इति दिक् ।

आगे की पंक्तियाँ तो खैर स्पष्ट ही हैं। आगे की पंक्ति में **साक्षात्स्वरूपसम्बन्धिनां स्वरूपं** का अर्थ है- साक्षात्भगवत्स्वरूप के निकट रहने वाली श्रीयमुनाजी जैसों का स्वरूप, जैसा स्वरूप 'स्मरश्रमजलाणुभिः' इत्यादि पदों के द्वारा बताया गया है; और ऐसे स्वरूप को **साक्षात्तत्सम्बन्धिनः** यानि साक्षात्भगवत्स्वरूप से सम्बन्धित श्रीमदाचार्यचरण ही जानते हैं। **स्वातिरिक्तानाम्** का अर्थ है- वे लोग जो श्रीमदाचार्यचरणकमलों की सुगंध से रहित हैं, ऐसों को आवरणरहित स्वामिनीसहितश्रीगोकुलेश का साक्षात् सम्बन्ध प्राप्त नहीं होता। ऐसों को **साक्षात् तत् सम्बन्धिन्याः** अर्थात् श्रीगोकुलेश से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाली श्रीयमुनाजी के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता अतः वे श्रीयमुनाजी के ऐसे स्वरूप का वर्णन एवं इस स्तोत्रपाठ का फल नहीं कह सकते। **स्वस्य** यानि स्वयं श्रीमहाप्रभुजी श्रीमदाचार्यचरणों के रूप में तादृशरूप से प्रकट होकर यानि वस्तुतः कृष्णरूप से प्रकट होकर श्रीयमुनाजी के 'स्मरश्रम' इत्यादि वाक्यों में कहे गये स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं अतः उनके कहे में तो लेशमात्र भी शंका नहीं है।

मूलान्वयस्तु, हे सूरसूते ! इदं तवाष्टकं यः सदा मुदा पठति, तस्य समस्तदुरितक्षयो भवति, वै मुकुन्दे रतिर्भवति, तया सकलसिद्धयो भवन्ति, मुररिपुश्च सन्तुष्यति, स्वभावविजयो भवेत्, श्रीहरेर्वल्लभो वदति ।

मूलश्लोक का अन्वय इस प्रकार से है- हे सूरसूते श्रीयमुने ! आपके इस अष्टक का जो सदा आनन्दपूर्वक पाठ करता है, उसके समस्त पापों का क्षय हो जाता है और उससे उसकी मुकुन्द में निश्चितरूप से रति उत्पन्न हो जाती है; मुकुन्द में रति हो जाने से सकलसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और मुररिपु-भगवान् भी प्रसन्न होते हैं, स्वभाव पर विजय प्राप्त हो जाती है- ऐसा मैं श्रीहरि का वल्लभ/प्रिय कह रहा हूँ।

श्रीमदाचार्यकृपया भर्त्तुः श्रीगिरिधारिणः ।
श्रीमद्विट्ठलनाथस्य कृतिर्हि विवृता मया ।।१।।
अत्र किञ्चिदयुक्तं यन्मयोक्तं स्वल्पबुद्धिना ।

क्षाम्यन्तु तन्निजाचार्याः किङ्करे निजवंशजे ।।२।।

युग्मम् ।।

श्रीमदाचार्य एवं श्रीगिरिधारी की कृपा से,
श्रीमद्विट्ठलनाथ की कृति की मैंने विवृति की है॥१॥
यदि इसमें मैंने स्वल्पबुद्धि से कुछ अयुक्त कह दिया हो,
तो निजाचार्यचरण मुझ निजवंशज किंकर को क्षमा करें ॥२॥

स्वान्तःकरणनिष्ठेन श्रीमदाचार्यरूपिणा ।
श्रीमद्विट्ठलनाथेन श्रीगोवर्द्धनधारिणा ।।३।।
प्रेरितेन कृतेयं श्रीमथुरानाथसूनुना ।
प्रीत्यै भूयाद्भगवतोः कालिन्दीकृष्णदेवयोः ।।४।।
इति श्रीमद्गोपीजनसुखपतेः पादयुगले,
मनो धृत्वा दीनं किसलयदलाभे विरचिता ।
सदा श्रीकृष्णास्यात्मजचरणदेशे प्रपतिता
निजा भक्ता एनामनुदिनमुदारां विदधतु ।।५।।
कालिन्दीकृष्णयोः प्रीत्यै सुगमान्वयबोधिनी ।
कृता तेन प्रसीदन्तु श्रीमदाचार्यनन्दनाः ।।६।।
श्रीमद्गोवर्धनधरसेवायां प्रतिबन्धकाः ।
ये ते सर्वे प्रणश्यन्तु ममेति प्रार्थनं प्रभो ।।७।।

इति श्रीमथुरानाथात्मजश्रीद्वारकेशचरणविरचिता सुगमान्वयबोधिनी श्रीयमुनाष्टकविवृतिटीका सम्पूर्णा ।

श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचितायाः श्रीयमुनाष्टकविवृतेः विवरणत्रयं समाप्तम् ।

अपने अन्तःकरण में निष्ठ श्रीमदाचार्यचरण,
श्रीविट्ठलनाथजी और श्रीगोवर्धनधारी से , ॥३॥
प्रेरित होकर मुझ श्रीमथुरानाथजी के पुत्र द्वारा की गयी यह विवृति ,
भगवान एवं कालिन्दी को प्रसन्न करने वाली बने ॥४॥
श्रीगोपीजनों को सुख देने वाले स्वामी के पंखुड़ियों के समान चरणकमलों में,
अपने दीन मन को धर के मैंने यह विवृति की है।
श्रीकृष्णस्वरूप-श्रीमदाचार्यचरणों के आत्मज श्रीप्रभुचरणों के चरणकमलों में सदा आश्रय करने वाले,
निजभक्त मेरी इस विवृति का प्रतिदिन अवलोकन करें, मनन करें ॥५॥
कालिन्दी-श्रीकृष्ण की प्रीति के लिये यह सुगम अन्वयबोधिनीविवृति,
मैंने की है, जिससे श्रीमदाचार्यनन्दन मुझ पर प्रसन्न हों ॥६॥
और उनकी प्रसन्नता के फलस्वरूप श्रीगोवर्धनधर की सेवा में आने वाले जो प्रतिबन्धक हों,
वे सभी नष्ट हों, ऐसी प्रभु से मेरी प्रार्थना है ॥७॥

यह श्रीमथुरानाथात्मज श्रीद्वारकेशचरण द्वारा विरचित श्रीयमुनाष्टक की 'सुगमान्वयबोधिनी' टीका सम्पूर्ण हुई।

◆ ◆ ◆